# समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ

हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
में पी एच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबंध


शोधार्थी
बिनय कुमार पटेल

निदेशक
डॉ. मनीषा झा

कला संकाय
हिंदी विभाग,
उत्तर बंग विश्वविद्यालय,
राजा राममोहनपुर, जिला-दार्जिलिंग


अप्रैल, 2013

# DECLARATION

I declare that the thesis entitled **'समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ '** **(SAMKALEEN HINDI UPANYAS MEIN SAMPRADAYIKTA KA SANDARBH)** has been prepared by me under the guidance of Dr. Manisha Jha, Associate Professor of Department of Hindi, University of North Bengal. No part of this thesis has formed the basis for the award of any degree or fellowship previously.

**BINAY KUMAR PATEL,**
DEPARTMENT OF HINDI,
UNIVERSITY OF NORTH BENGAL,
RAJA RAMMOHUNPUR,
DARJEELING,
WEST BENGAL,
734013

DATE :

# CERTIFICATE

I certify that Sri Binay Kumar Patel has prepared the thesis entitled **‘समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ ’ (SAMKALEEN HINDI UPANYAS MEIN SAMPRADAYIKTA KA SANDARBH),** for the award of Ph. D. degree of the University of North Bengal, under my guidance. He has carried out the work at the Department of Hindi, University of North Bengal.

**DR. MANISHA JHA**
**ASSOCIATE PROFESSOR,**
DEPARTMENT OF HINDI,
UNIVERSITY OF NORTH BENGAL,
RAJA RAMMOHUNPUR,
DARJEELING,
WEST BENGAL,
734013

DATE :

# सारांश (Abstract)

साहित्य जीवन की संचित अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, संस्मरण इत्यादि के माध्यम से मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। समाज में घटनेवाली घटनाओं से रचनाकार आंदोलित होता है और शब्दों के माध्यम से उसे अंकित कर वापस समाज को दे देता है। सहृदय पाठक इन भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ महसूस करता है। उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें मनुष्य के पूरे जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास का कैनवास काफी बड़ा होता है जिसमें जीवन की कई घटनाओं का चित्रांकन एक साथ हो सकता है। उपन्यास की ओर मेरे आकृष्ट होने का कारण भी यही है।

**'समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ'** विषय पर कार्य करने के लिए सर्वप्रथम सांप्रदायिकता के संदर्भ में समकालीन शब्द की समय-सीमा को निर्धारित करना आवश्यक है। समकालीन शब्द बड़ा ही भ्रामक शब्द है। इसकी समय-सीमा को निर्धारित कर पाना आसान काम नहीं है क्योंकि एक ओर इसके साथ 'काल' शब्द जुड़ा हुआ है तो दूसरी तरफ 'सम' शब्द भी है। एक ओर 'समकालीन' शब्द काल सापेक्ष है तो दूसरी ओर विधा के अनुरूप इसकी समय-सीमा को घटाने-बढ़ाने की स्थिति भी प्राप्त होती है। सांप्रदायिकता को ध्यान में रखते हुए समकालीनता के लिए 1960 के बाद का समय समय-सीमा के रूप में स्वीकार करना होगा। यह समय भारत के लिए राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। सांप्रदायिकता के नजरिये से 1960 के बाद बड़ी तेजी से ध्रुवीकरण की संकीर्ण राजनीति ने भारतीय समाज में अपने पैर पसारने शुरू किये। तत्काल इसके परिणाम भले ही ज्यादा घातक न रहे हों, लेकिन इसके दूरगामी परिणाम अत्यंत ही घातक निकले। एक ओर हिंदुत्ववादी शक्तियों का उभार देखने को मिला तो दूसरी ओर दलितों और अल्पसंख्यकों

को लेकर राजनीतिक खेल खेले जाने लगे। क्षेत्रीयतावादी शक्तियां भी इस दौर में खड़ी हुईं। आरक्षण के लिए हिंसक आंदोलन भी हुए। राजनीतिक दलों ने इन मौकों का लाभ उठाया और हर जायज़-नाजायज़ मांगों को समर्थन दिया। इन परिस्थितियों ने भारतीय समाज को कई टुकड़ों में विभाजित कर दिया है।

साहित्य के रचनाकारों की प्रतिबद्धता मनुष्यता के प्रति हमेशा रही है। सांप्रदायिक दंगों के दौरान घटित बर्बर कृत्यों तथा अमानवीयता को देखकर साहित्यकारों ने साहित्य की विविध विधाओं में सांप्रदायिकता की समस्या के पीछे मौजूद ताकतों को बेनकाब करने का प्रयास अपनी रचनाओं में किया है। कविता एवं कहानी में सांप्रदायिक ताकतों की मंशा को उभारा गया है, लेकिन इसके पीछे मौजूद महीन तंतुओं को उभारने में जितनी सफलता उपन्यास को मिली है उतनी अन्य विधाओं को नहीं।

सांप्रदायिकता एक वैश्विक समस्या है जिसका निदान हर कीमत पर होना जरूरी है। जब तक यह समस्या रहेगी तब तक स्वस्थ समाज का विकास संभव नहीं होगा। हिंदी के साहित्यकारों की सबसे बड़ी चिंता समतामूलक स्वस्थ समाज का विकास है। स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक इत्यादि की गूंजें हिंदी साहित्य में सुनने को मिलती हैं जो स्वयं हिंदी साहित्य के प्रगतिशील नजरिये को दर्शाती हैं। सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को हिंदी के कथाकारों ने देखा, परखा और अभिव्यक्त किया है। अतएव इसे देखना अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के कथाकारों ने सांप्रदायिकता के किन-किन पहलुओं को उठाया है और सांप्रदायिकता को किस-किस रूप में देखा है। अब तक हुए शोध-कार्यों में सांप्रदायिकता को केवल धर्म के नजरिये से देखने की कोशिश हुई है जबकि इसके पीछे और भी कई कारण मौजूद हैं।

इस शोध की जरूरत मैं इसलिए भी मानता हूं क्योंकि जिस जगह पर रहते हुए यह कार्य मैंने संपन्न किया है ठीक वहीं से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ने पर अलगाववादी, जातीयतावादी, क्षेत्रीयतावादी शक्तियां लगातार समाज में गड़बड़ियां फैला रही हैं। इस रूप में इस शोध-कार्य की महत्ता भी स्वयं सिद्ध है। इस शोध-कार्य को कुल मिलाकर 6 अध्यायों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं**- 1. धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य 2. हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल 3. समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय 4. सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास 5. सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर 6. सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन**।

सर्वप्रथम **'धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य'** पर विस्तृत चर्चा करते हुए मैंने विभिन्न विद्वानों, चिन्तकों, समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों, इतिहासकारों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के धर्म, समाज, संप्रदाय और सांप्रदायिकता संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है। इस प्राथमिक कार्य के तहत भारतीय चिंतन जगत् एवं पाश्चात्य चिंतन जगत् के विचारकों के विचारों को अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि भारतीय चिंतन जगत् में धर्म को कर्म के रूप में देखा गया, धर्म को मनुष्य के आचार-व्यवहार से जोड़कर देखा गया। वहीं पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म की उत्पत्ति पर मुख्य रूप से विचार किया गया। धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी ? पाश्चात्य चिंतन जगत् के लिए मुख्य रूप से विचारणीय पक्ष यही रहा है। तत्पश्चात् भारतीय मनीषा और पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म और संप्रदाय संबंधी विभिन्न विद्वानों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके बीच मौजूद साम्य एवं वैषम्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत सांप्रदायिकता पर भी विभिन्न विद्वानों एवं साहित्यकारों के विचारों को प्रस्तुत किया

गया है। जिसके तहत सांप्रदायिकता के विभिन्न रूपों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात धर्म का सांप्रदायिकता के साथ क्या संबंध है और वह समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है इसे रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही समाज के साथ साहित्य का संबंध किस प्रकार है ? विभिन्न साहित्यकारों ने इसे किस रूप में देखने का प्रयास किया है ? समाज के किस तबके को सांप्रदायिकता सबसे ज्यादा प्रभावित करती है ? इसके पीछे छुपे हुए लालची, स्वार्थी एवं भ्रष्ट तन्त्र का कितना योगदान है ? इन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

**'हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल'** को उठाते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि भारत में किस प्रकार स्वाधीनता के पहले और स्वाधीनता के बाद से लेकर आज तक सांप्रदायिक समस्या बढ़ती गई है। स्वतंत्रता के पहले औपनिवेशिक शासकों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाया और भारत की दो बड़ी जातियों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया। भारतीय जनता ने भी अपने अतीत को न देखकर औपनिवेशिक शासकों द्वारा कही गयी बातों को सत्य मान लिया, जिसका परिणाम विभाजन के रूप में भारतीय जनता को भुगतना पड़ा। स्वतंत्रता के बाद स्वार्थी सत्ताधारियों ने औपनिवेशिक शासकों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को मूल मंत्र के रूप में अपना लिया। फलत: आजादी के बाद सांप्रदायिकता दिनोंदिन बढ़ती गयी। हिंदी उपन्यासों की परम्परा पर दृष्टि डालते हुए सांप्रदायिकता के संदर्भों से रू-ब-रू होते उपन्यासों पर विचार किया गया है। हिंदी उपन्यासों की एक लंबी परंपरा रही है जिनमें सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है।

**'समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय'** में **60** के दशक के बाद के हिंदी उपन्यासों में विभाजित समाज का चित्रण किस प्रकार हुआ है यह

दर्शाने का प्रयास मैंने किया है। 60 के दशक के बाद से लेकर अब तक सांप्रदायिकता की समस्या को केंद्र में रखकर दर्जनों उपन्यास लिखे जा चुके हैं। चाहे बाबरी मस्जिद ध्वंश हो या गुजरात का नरसंहार, उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति के सभी खतरे उठाते हुए अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है। साथ ही समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में वे कौन से तत्व हैं जो विभाजन के लिए जिम्मेदार हैं, इसकी भी जाँच-पड़ताल इस अध्याय के अन्तर्गत की गई है। उपन्यास लेखन के इतर कई उपन्यासकारों ने समय-समय पर निबंधों, वैचारिक आलेखों, साक्षात्कार आदि में सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार किया है, इसे भी उक्त अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

**'सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास'** नामक अध्याय में कुछ विशेष समकालीन उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सन 1960 के बाद के सांप्रदायिकता संदर्भित वे उपन्यास, जो अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं, उन्हें विस्तृत अध्ययन के लिए चुना गया है। 1960 के बाद से ही सांप्रदायिक विचारों ने धर्म के अलावा जाति, भाषा, क्षेत्र आदि को अपने घेरे में लेना आरंभ कर दिया था। आरक्षण की राजनीति ने भारतीय समाज में ध्रुवीकरण तेजी से ला दिया। तुष्टीकरण और ध्रुवीकरण की के भँवर में फँसकर भारतीय समाज लगातार नये खण्डों में विभक्त होता गया है। 1990 के बाद नवउदारवाद और भूमंडलीकरण आरंभ होता है। इस नए परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिकता के नए-नए रूप उभरते गए हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में इधर युवा लेखन ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। यही कारण है कि मैंने अपने शोध-कार्य में **सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर** को विशेष रूप में रेखांकित किया है। यह शोध-कार्य के पाँचवे अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में सांप्रदायिकता को लेकर युवा लेखकों की चिंता स्पष्ट

करने का प्रयास किया गया है। उनके उपन्यासों के माध्यम से यह देखना आवश्यक है कि युवा मानस सांप्रदायिकता के संदर्भ में क्या सोचता है। अत: इस अध्याय में युवा लेखकों के उपन्यासों में मौजूद सांप्रदायिकता की समस्या का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

शोध-कार्य के अंतिम अध्याय में **सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन** प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चौथे एवं पांचवे अध्याय में विशेष अध्ययन के लिए चुने गये उपन्यासों का भाषायी एवं शैल्पिक अध्ययन किया गया है। हर रचनाकार के लेखन की अपनी एक विशिष्ट शैली, विशिष्ट भाषा हुआ करती है। इस अध्याय में समानता एवं असमानता के उन बिंदुओं को उभारने का प्रयास किया गया है जहां ये रचनाकार एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं और उन बिंदुओं को भी उभारने का प्रयास किया गया है जहां ये रचनाकार समान नज़र आते हैं।

समस्त अध्यायों पर कार्य करने के उपरांत उपसंहार के रूप में शोध कार्य से प्राप्त होने वाले निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है जिसमें समकालीन उपन्यासकारों के उपन्यासों में चित्रित सांप्रदायिकता के विविध संदर्भों को प्रस्तुत किया गया है।

# प्राक्कथन

# प्राक्कथन

साहित्य जीवन की संचित अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, संस्मरण इत्यादि के माध्यम से मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। समाज में घटनेवाली घटनाओं से रचनाकार आंदोलित होता है और शब्दों के माध्यम से उसे अंकित कर वापस समाज को दे देता है। सहृदय पाठक इन भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ महसूस करता है। उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें मनुष्य के पूरे जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास का कैनवास काफी बड़ा होता है जिसमें जीवन की कई घटनाओं का चित्रांकन एक साथ हो सकता है। उपन्यास की ओर मेरे आकृष्ट होने का कारण भी यही है।

उपन्यास की ओर मेरे रुझान को देखते हुए मेरी शोध निदेशक डॉ. मनीषा झा ने मुझे **'समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ'** विषय पर शोध करने का सुझाव दिया। उनके इस सुझाव को मैंने आदेश के रूप में लेते हुए उक्त विषय पर शोध-कार्य आरंभ किया। इस विषय पर शुरुआती दौर में कार्य करते हुए कुछ अड़चनों का सामना करना पड़ा। दूर-दराज के इलाके में उत्तर बंग विश्वविद्यालय के बसे होने के कारण पुस्तकें मिल पाना आसान न था। साथ ही हिंदीतर प्रांत होने के कारण भी पुस्तकों के अभाव का भय था परन्तु जैसे-जैसे शोध-कार्य आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे ये समस्याएं भी खत्म होती गयी। वैसे भी जनसंचार के इस दौर में यह समस्या कोई बड़ी समस्या न थी।

**'समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ'** विषय पर कार्य करने के लिए सर्वप्रथम सांप्रदायिकता के संदर्भ में समकालीन शब्द की समय-सीमा को निर्धारित करना आवश्यक है। समकालीन शब्द बड़ा ही भ्रामक शब्द है। इसकी समय-सीमा को निर्धारित कर पाना आसान काम नहीं है क्योंकि एक ओर इसके साथ 'काल' शब्द जुड़ा हुआ है तो

दूसरी तरफ 'सम' शब्द भी है। एक ओर 'समकालीन' शब्द काल सापेक्ष है तो दूसरी ओर विधा के अनुरूप इसकी समय-सीमा को घटाने-बढ़ाने की स्थिति भी प्राप्त होती है। सांप्रदायिकता को ध्यान में रखते हुए समकालीनता के लिए **1960** के बाद का समय समय-सीमा के रूप में स्वीकार करना होगा। यह समय भारत के लिए राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। सांप्रदायिकता के नजरिये से **1960** के बाद बड़ी तेजी से ध्रुवीकरण की संकीर्ण राजनीति ने भारतीय समाज में अपने पैर पसारने शुरू किये। तत्काल इसके परिणाम भले ही ज्यादा घातक न रहे हों, लेकिन इसके दूरगामी परिणाम अत्यंत ही घातक निकले। एक ओर हिंदुत्ववादी शक्तियों का उभार देखने को मिला तो दूसरी ओर दलितों और अल्पसंख्यकों को लेकर राजनीतिक खेल खेले जाने लगे। क्षेत्रीयतावादी शक्तियां भी इस दौर में खड़ी हुईं। आरक्षण के लिए हिंसक आंदोलन भी हुए। राजनीतिक दलों ने इन मौकों का लाभ उठाया और हर जायज़-नाजायज़ मांगों को समर्थन दिया। इन परिस्थितियों ने भारतीय समाज को कई टुकड़ों में विभाजित कर दिया है।

साहित्य के रचनाकारों की प्रतिबद्धता मनुष्यता के प्रति हमेशा रही है। सांप्रदायिक दंगों के दौरान घटित बर्बर कृत्यों तथा अमानवीयता को देखकर साहित्यकारों ने साहित्य की विविध विधाओं में सांप्रदायिकता की समस्या के पीछे मौजूद ताकतों को बेनकाब करने का प्रयास अपनी रचनाओं में किया है। कविता एवं कहानी में सांप्रदायिक ताकतों की मंशा को उभारा गया है, लेकिन इसके पीछे मौजूद महीन तंतुओं को उभारने में जितनी सफलता उपन्यास को मिली है उतनी अन्य विधाओं को नहीं।

सांप्रदायिकता एक वैश्विक समस्या है जिसका निदान हर कीमत पर होना जरूरी है। जब तक यह समस्या रहेगी तब तक स्वस्थ समाज का विकास संभव नहीं होगा। हिंदी के साहित्यकारों की सबसे बड़ी चिंता समतामूलक स्वस्थ समाज का विकास है। स्त्री,

दलित, अल्पसंख्यक इत्यादि की गूंजें हिंदी साहित्य में सुनने को मिलती हैं जो स्वयं हिंदी साहित्य के प्रगतिशील नजरिये को दर्शाती हैं। सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को हिंदी के कथाकारों ने देखा, परखा और अभिव्यक्त किया है। अतएव इसे देखना अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के कथाकारों ने सांप्रदायिकता के किन-किन पहलुओं को उठाया है और सांप्रदायिकता को किस-किस रूप में देखा है। अब तक हुए शोध-कार्यों में सांप्रदायिकता को केवल धर्म के नजरिये से देखने की कोशिश हुई है जबकि इसके पीछे और भी कई कारण मौजूद हैं।

इस शोध की जरूरत मैं इसलिए भी मानता हूं क्योंकि जिस जगह पर रहते हुए यह कार्य मैंने संपन्न किया है ठीक वहीं से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ने पर अलगाववादी, जातीयतावादी, क्षेत्रीयतावादी शक्तियां लगातार समाज में गड़बड़ियां फैला रही हैं। इस रूप में इस शोध-कार्य की महत्ता भी स्वयं सिद्ध है। इस शोध-कार्य को कुल मिलाकर 6 अध्यायों में विभक्त किया गया है जो इस प्रकार हैं- **1. धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य 2. हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल 3. समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय 4. सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास 5. सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर 6. सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन**।

सर्वप्रथम **'धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य'** पर विस्तृत चर्चा करते हुए मैंने विभिन्न विद्वानों, चिन्तकों, समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों, इतिहासकारों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के धर्म, समाज, संप्रदाय और सांप्रदायिकता संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है। इस प्राथमिक कार्य के तहत भारतीय चिंतन जगत् एवं पाश्चात्य चिंतन जगत् के विचारकों के विचारों को अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि भारतीय चिंतन

जगत् में धर्म को कर्म के रूप में देखा गया, धर्म को मनुष्य के आचार-व्यवहार से जोड़कर देखा गया। वहीं पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म की उत्पत्ति पर मुख्य रूप से विचार किया गया। धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी ? पाश्चात्य चिंतन जगत् के लिए मुख्य रूप से विचारणीय पक्ष यही रहा है। तत्पश्चात् भारतीय मनीषा और पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म और संप्रदाय संबंधी विभिन्न विद्वानों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके बीच मौजूद साम्य एवं वैषम्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत सांप्रदायिकता पर भी विभिन्न विद्वानों एवं साहित्यकारों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। जिसके तहत सांप्रदायिकता के विभिन्न रूपों को उजागर करने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात धर्म का सांप्रदायिकता के साथ क्या संबंध है और वह समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है इसे रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही समाज के साथ साहित्य का संबंध किस प्रकार है ? विभिन्न साहित्यकारों ने इसे किस रूप में देखने का प्रयास किया है ? समाज के किस तबके को सांप्रदायिकता सबसे ज्यादा प्रभावित करती है ? इसके पीछे छुपे हुए लालची, स्वार्थी एवं भ्रष्ट तन्त्र का कितना योगदान है ? इन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

**'हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल'** को उठाते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि भारत में किस प्रकार स्वाधीनता के पहले और स्वाधीनता के बाद से लेकर आज तक सांप्रदायिक समस्या बढ़ती गई है। स्वतंत्रता के पहले औपनिवेशिक शासकों ने 'फूट डालो और शासन् करो' की नीति को अपनाया और भारत की दो बड़ी जातियों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया। भारतीय जनता ने भी अपने अतीत को न देखकर औपनिवेशिक शासकों द्वारा कही गयी बातों को सत्य मान लिया, जिसका परिणाम विभाजन के रूप में भारतीय जनता को भुगतना पड़ा। स्वतंत्रता के बाद स्वार्थी सत्ताधारियों ने

औपनिवेशिक शासकों की 'फूट डालो और शासन् करो' की नीति को मूल मंत्र के रूप में अपना लिया। फलत: आजादी के बाद सांप्रदायिकता दिनोंदिन बढ़ती गयी। हिंदी उपन्यासों की परम्परा पर दृष्टि डालते हुए सांप्रदायिकता के संदर्भों से रू-ब-रू होते उपन्यासों पर विचार किया गया है। हिंदी उपन्यासों की एक लंबी परंपरा रही है जिनमें सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है।

**'समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय'** में **60** के दशक के बाद के हिंदी उपन्यासों में विभाजित समाज का चित्रण किस प्रकार हुआ है यह दर्शाने का प्रयास मैंने किया है। **60** के दशक के बाद से लेकर अब तक सांप्रदायिकता की समस्या को केंद्र में रखकर दर्जनों उपन्यास लिखे जा चुके हैं। चाहे बाबरी मस्जिद ध्वंश हो या गुजरात का नरसंहार, उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति के सभी खतरे उठाते हुए अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है। साथ ही समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में वे कौन से तत्व हैं जो विभाजन के लिए जिम्मेदार हैं, इसकी भी जाँच-पड़ताल इस अध्याय के अन्तर्गत की गई है। उपन्यास लेखन के इतर कई उपन्यासकारों ने समय-समय पर निबंधों, वैचारिक आलेखों, साक्षात्कार आदि में सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार किया है, इसे भी उक्त अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

**'सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास'** नामक अध्याय में कुछ विशेष समकालीन उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सन् **1960** के बाद के सांप्रदायिकता संदर्भित वे उपन्यास, जो अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं, उन्हें विस्तृत अध्ययन के लिए चुना गया है। **1960** के बाद से ही सांप्रदायिक विचारों ने धर्म के अलावा जाति, भाषा, क्षेत्र आदि को अपने घेरे में लेना आरंभ कर दिया था। आरक्षण की राजनीति ने भारतीय समाज में ध्रुवीकरण तेजी से ला दिया। तुष्टीकरण और ध्रुवीकरण की के भँवर में

फँसकर भारतीय समाज लगातार नये खण्डों में विभक्त होता गया है। **1990** के बाद नवउदारवाद और भूमंडलीकरण आरंभ होता है। इस नए परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिकता के नए-नए रूप उभरते गए हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में इधर युवा लेखन ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। यही कारण है कि मैंने अपने शोध-कार्य में **सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर** को विशेष रूप में रेखांकित किया है। यह शोध-कार्य के पाँचवे अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में सांप्रदायिकता को लेकर युवा लेखकों की चिंता स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उनके उपन्यासों के माध्यम से यह देखना आवश्यक है कि युवा मानस सांप्रदायिकता के संदर्भ में क्या सोचता है। अत: इस अध्याय में युवा लेखकों के उपन्यासों में मौजूद सांप्रदायिकता की समस्या का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

शोध-कार्य के अंतिम अध्याय में **सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन** प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चौथे एवं पांचवे अध्याय में विशेष अध्ययन के लिए चुने गये उपन्यासों का भाषायी एवं शैल्पिक अध्ययन किया गया है। हर रचनाकार के लेखन की अपनी एक विशिष्ट शैली, विशिष्ट भाषा हुआ करती है। इस अध्याय में समानता एवं असमानता के उन बिंदुओं को उभारने का प्रयास किया गया है जहां ये रचनाकार एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं और उन बिंदुओं को भी उभारने का प्रयास किया गया है जहां ये रचनाकार समान नज़र आते हैं।

यह शोध-कार्य उत्तर बंग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की विभागीय फेलोशिप के अन्तर्गत संपन्न हुआ है। बिना अर्थ के कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता और यदि मुझे फेलोशिप न मिली होती तो शायद मैं शोध-कार्य के लिए सोच भी नहीं सकता था। अत: मैं हिंदी विभाग के सभी प्राध्यापकों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य

समझता हूँ। इस शोध-कार्य में कई गुरुजनों, मित्रों, अग्रजों का सहयोग एवं परामर्श समय-समय पर मिलता रहा। मैं सामूहिक रूप से उन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

मेरी शोध निदेशक डॉ. मनीषा झा को धन्यवाद ज्ञापित कर उनके स्नेह को मैं छोटा नहीं करना चाहता। डॉ. मनीषा झा की प्रेरणा से ही मैं यह कार्य सम्पन्न कर पाया हूँ। कठिन क्षणों में भी उन्होंने मेरी हौसला अफजाई की और निरन्तर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। जिस प्रकार अपना कीमती वक्त देकर मेरी शंकाओं, जिज्ञासाओं का मनीषा जी ने निदान किया है उसके लिए धन्यवाद ज्ञापित कर सकूं ऐसे शब्द मेरे पास नहीं है। समय-समय पर मनीषा जी से शोध-कार्य के दौरान विशेष आशीर्वचन भी मिले जिसके कारण यह कार्य सम्पन्न हो पाया अन्यथा शायद ही मैं अपना शोध-कार्य खत्म कर पाता। भविष्य में भी ये विशेष आशीर्वचन मुझे मिलते रहेंगे ऐसी मैं कामना करता हूं।

प्रस्तुत शोध-कार्य के दौरान कई पुस्तकालयों से भी सहयोग मिला जिनमें नेशन्ल लाइब्रेरी, कोलकाता, भारतीय भाषा परिषद पुस्तकालय, कोलकाता, केंद्रीय पुस्तकालय, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग तथा विभागीय पुस्तकालय, हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग का मैं विशेष आभारी हूं। साथ ही उन सभी विद्वानों के प्रति भी आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं जिनकी पुस्तकों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शोध-कार्य में सहयोग मिला।

यह शोध-कार्य मैं अपने स्वर्गीय पिता श्री मगन भाई पटेल एवं माँ श्रीमती रमिला बेन पटेल को समर्पित करता हूं जिन्होंने बचपन से ही हम तीनों भाई-बहनों के भीतर इंसानियत के बीज बोये। अग्रज श्री विपुल भाई पटेल को भी अशेष धन्यवाद जिनसे मिले मित्रवत स्नेह को मैं कभी भुला नहीं सकता। आयुश, आर्यन और ऋतिका को उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए ढेरों आशीष।

मैं यह शोध-प्रबंध विद्वानों के समक्ष सविनय प्रस्तुत कर रहा हूं। अथक परिश्रम के बावजूद यदि कोई खामी या गलती रह गयी हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं। यदि ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में मेरा यह कार्य कुछ सहायक सिद्ध हो तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

उत्तर बंग विश्वविद्यालय

राजा राममोहनपुर

दिनांक:

______________________________

बिनय कुमार पटेल

पंजीकरण संख्या-.........................

# विषय सूची

पृष्ठ संख्या


DECLARATION *i*
CERTIFICATE *ii*
सारांश *iii*
प्राक्कथन *ix*
विषय सूची *xviii*

**अध्याय- 1. धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य** **1**
**1. 1.** धर्म और संप्रदाय **2**
**1. 1. 1.** धर्म शब्द की व्युत्पत्ति **3**
**1. 1. 2.** धर्म की परिभाषा **7**
**1. 1. 3.** संप्रदाय **22**
**1. 1. 4.** धर्म और संप्रदाय **25**
**1. 1. 5.** संप्रदाय और सांप्रदायिकता **27**
**1. 2.** धर्म, सांप्रदायिकता और समाज **44**
**1. 3.** राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता **52**
**1. 3. 1.** राष्ट्र **52**
**1. 3. 2.** राष्ट्रीयता **57**
**1. 3. 3.** राष्ट्रवाद **59**
**1. 4.** समाज, साहित्य और सांप्रदायिकता **68**
संदर्भ ग्रंथ सूची **86**
**अध्याय- 2. हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल** **90**
**2. 1.** स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज और सांप्रदायिकता **91**
**2. 2.** स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज और सांप्रदायिकता **112**
**2. 3.** हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल **122**
संदर्भ ग्रंथ सूची **151**
**अध्याय- 3. समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय** **154**
**3. 1.** समकालीन उपन्यास में विभाजित समाज का चित्रण **155**
**3. 2.** समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिक तत्वों की खोज और पहचान **174**

3. 3. समकालीन उपन्यासकारों की दृष्टि में सांप्रदायिकता 189
संदर्भ ग्रंथ सूची 209
**अध्याय- 4. सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास 212**
4. 1. आधा गाँव 213
4. 2. तमस 232
4. 3. झीनी-झीनी बीनी चदरिया 248
4. 4. सूखा बरगद 262
4. 5. कितने पाकिस्तान 277
4. 6. जिंदगीनामा 300
4. 7. आख़िरी कलाम 315
संदर्भ ग्रंथ सूची 330
**अध्याय- 5. सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर 335**
5. 1. जिन्दा मुहावरे 336
5. 2. हमारा शहर उस बरस 350
5. 3. मैं बोरिशाइल्ला 365
5. 4. उपयात्रा 375
संदर्भ ग्रंथ सूची 388
**अध्याय- 6. सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन 390**
6. 1. भाषा 391
6. 2. शिल्प 418
संदर्भ ग्रंथ सूची 445
**उपसंहार 448**
**पुस्तक सूची 462**
आधार ग्रंथ सूची 463
संदर्भ ग्रंथ सूची 465
**ग्रंथानुक्रमणिका 472**
**लेखकानुक्रमणिका 473**

# अध्याय - 1

# धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य

1. 1. धर्म और संप्रदाय
1. 2. धर्म, सांप्रदायिकता और समाज
1. 3. राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता
1. 4. समाज, साहित्य और सांप्रदायिकता

## धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य

समकालीन भारतीय समाज में सांप्रदायिकता एक गंभीर समस्या के रूप में उभरी है। इसलिए इस पर विस्तृत चिंतन करने की आवश्यकता है। अत: धर्म और संप्रदाय के आपसी संबंध पर विचार करते हुए सांप्रदायिकता तथा धर्म पर भी विचार करना जरूरी है। राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता को प्राय: एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में देखा जाता है। ऐसे में यह देखना आवश्यक है कि राष्ट्रवाद का सांप्रदायिकता के साथ क्या संबंध है। किसी भी समाज पर साहित्य का गहरा प्रभाव होता है साथ ही साहित्य भी समाज में आये परिवर्तनों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अतएव समाज और साहित्य के आपसी संबंध को दर्शाते हुए साहित्य में सांप्रदायिकता के बिंदुओं की खोज करना आवश्यक है।

## 1. 1. धर्म और संप्रदाय

धर्म आदिम मानव की देन है। यह वह समय था जब मनुष्य भूखा, नंगा और बर्बर था। ज्ञान से कोसो दूर था। ऐसे समय में समाज में व्यवस्था बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका धर्म ने अदा की है। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि धर्म का आरंभिक स्वरूप क्या था ? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी ? किसी सभ्य समाज में धर्म की भूमिका क्या थी ? और क्या आज भी धर्म की कोई आवश्यकता है जब हम सभ्यता के एक बड़े परिवर्तनगामी मोड़ पर खड़े हैं ? क्या सचमुच धर्म मानव कल्याण के लिए है या फिर इसके पीछे कोई स्वार्थ भी निहित है ? जहाँ तक धर्म की परिभाषा स्थिर करने की बात है यह बड़ा ही कठिन काम है। धर्म की किसी एक सर्वमान्य परिभाषा स्वीकार कर पाना कठिन है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कहीं धर्म संस्कृति से जुड़ा है तो कहीं आचार-व्यवहार से। कहीं धर्म बाह्य कर्मकांडों से जुड़ा है तो कहीं आन्तरिक अनुभूति के साथ धर्म का संबंध माना जाता है।

**1. 1. 1. धर्म शब्द की व्युत्पत्ति-** धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। जिसका तात्पर्य है 'धारण करना'। इसकी विशेषता है शक्ति एवं गुण धारण करना। जो किसी व्यक्ति अथवा वस्तु में विद्यमान रहती है। जैसे अग्नि का गुण है जलना और जल का गुण है शीतल करना।

**प्रामाणिक हिंदी कोश** में धर्म के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं-" 1. किसी वस्तु, व्यक्ति में सदा रहने वाली उसकी मूल वृति, प्रकृति, स्वभाव, मूल गुण। 2. गुण, वृत्ति। 3. स्वर्ग आदि शुभ फल देने वाला कार्य। 4. किसी जाति, वर्ग, पद आदि के लिए निश्चित किया हुआ कार्य या व्यवहार, कर्तव्य जैसे क्षत्रिय का धर्म, सेवक का धर्म। 5. सदाचार। 6. पुण्य, सत्कर्म। 7. परलोक, ईश्वर आदि के संबंध में विशेष प्रकार का विश्वास और उपासना की विशेष प्रणाली। 8. मत, संप्रदाय, पन्थ, मजहब। 9. नैतिक व्यवस्था, नीति, कानून जैसे हिन्दू धर्मशास्त्र। 10. विवेक, ईमान।"[1] यहां यह देखा जा सकता है कि धर्म के विभिन्न अर्थ दिये गये हैं। कभी इसे मनुष्य के कर्म के साथ जोड़ कर देखा गया है तो कभी मनुष्य के उपासना की किसी विशिष्ट प्रणाली के साथ इसे जोड़कर देखा गया है।

कोई भी शब्द अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी स्वतंत्र नहीं रहता जबतक कि उसका किसी व्यक्ति, वस्तु या परिवेश के साथ कोई संबंध न हो। जैसे एक शब्द है 'सूर्य '। 'सूर्य' शब्द के कहने मात्र से आसमान में चमकता हुआ एक गोल पिंड स्मृति में कौंधने लगता है। यहां सिर्फ सूर्य की स्मृति नहीं होती बल्कि परिवेश, आकाश तो स्मृति में आते ही हैं, व्यक्ति एक गरमाहट भी महसूस कर पाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के जीवन में हर वस्तु का एक अनुभव जुड़ा हुआ है। प्रकृति का अनुभव मनुष्य को बचपन से ही मिलने लगता है। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द भी मनुष्य के साथ बाल्यकाल से ही जुड़ जाता है। धर्म संबंधी तात्विक चिंतन की लंबी परंपरा भारतीय मनीषा में रही है। " पतंजलि ने कहा है-

" योग्यतावाच्छिन्ना धर्मिण: शक्तिरेव धर्म:" जिसका अर्थ है धर्मी की योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है। महर्षि कणाद ने कहा है- जिसके द्वारा उन्नति हो और अन्त में मोक्ष प्राप्त हो वही धर्म है। साधारण जनता के शास्त्रकारों ने बताया है- 'वेदरहित कर्म धर्म है और वेद निषिद्ध कर्म अधर्म है।"[2]

धर्म के संबंध में श्रुति वाक्य है- " 'धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा।' तात्पर्य यह कि धर्म ही विश्व का आश्रयभूत है। स्वामी विवेकानन्द का अपना मत है कि 'बिना त्याग या वैराग्य के धर्म या नीति का उदय कब हो सकता है। त्याग ही से धर्म का आरम्भ होता है और त्याग में ही उसकी परिसमाप्ति। वेद कहते हैं- त्याग करो - इसके सिवा और दूसरा कोई पथ नहीं है।

न प्रजया धनेन न चेन्यथा
त्यागेने केन अमृतत्व मानुष।"[3]

अर्थात् मुक्ति न संतानों से होती है, न धन से, न यज्ञ से, वह अमृतत्व केवल त्याग से ही मिलता है।

**संस्कृत वाङ्मय कोश** के अनुसार- " संस्कृत वाङ्मय में वेदों से लेकर अनेक ग्रंथों में "धर्म" शब्द का भिन्न-भिन्न स्थानों पर विविध अर्थों में प्रयोग हुआ है। मीमांसकों ने 'वेदप्रतिपाद्य: प्रयोजनवदर्थो धर्म:' अथवा 'वेदेन प्रयोजनम् उद्दिश्य विधीयमानोडयो धर्म:' इत्यादि वाक्यों में धर्म शब्द का विशिष्ट अर्थ बताया है, जिसके अनुसार मानव जीवन की उद्देश्यपूर्ति के लिए, वेद वचनों द्वारा आदेशित कर्तव्य को धर्म कहा है।"[4]

**तुलसी शब्द कोश** के अनुसार-" धरम-धर्म-शास्त्रविहित आचरण, कर्त्तव्य कर्म।"[5] अर्थात् शास्त्रों में वर्णित आचरण के अनुरूप कर्म का पालन ही धर्म है।

**हिंदी विश्वकोश** में धर्म के संबंध में निम्नलिखित बातें कही गयी हैं- " धर्म- (सं. क्रि.) 'धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्माभिरति वा धृ-मन्।' (अत्तिस्तुहस्त्रिति। उण् 1।

**139**) शुभदृष्ट, पुण्य, श्रेय, सुकृत, सत्कर्म, कल्याणकारी कर्म, सदाचार। वह आचरण या वृति जिससे जाति या समाज की रक्षा और सुख-शान्ति की वृद्धि हो, तथा परलोक में अच्छी गति मिले।"[6] उपरोक्त परिभाषा में धर्म की व्याख्या जहाँ एक ओर व्यक्तिगत जीवन से जोड़कर की गयी है वहीं दूसरी ओर सामाजिक एवं जातिगत जीवन से जोड़कर भी इसे व्याख्यायित किया गया है।

आगे चलकर इसी ग्रंथ में संस्कृत भाषा के सबसे प्राचीन ग्रंथ में 'धर्म' शब्द के उल्लेख के संवंध में इस प्रकार बताया गया है- " 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुगर्वा अदभ्य:। अतो धर्माणि धारयन्।'(ऋक् **1**।**22**।**18**)अर्थात् परमेश्वर ने आकाश में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक निर्माण कर उनमें 'धर्मों' को धारण किया है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ जगनिर्वाहक नियमों का समूह होता है। अंग्रेजी में *laws* कहने से जिस अर्थ का बोध होता है यहाँ 'धर्म ' शब्द का प्राय: वैसा ही अर्थ होता है।

**2**. मनुष्यों के लिए जो कर्तव्य और आदरणीय बतलाया गया है वही धर्म है। स्मृतिशास्त्र में धर्म शब्द का ऐसा ही अर्थ मिलता है। श्रुति और स्मृतियों में धर्म शब्द के अर्थ का जो विरोधाभास पाया जाता है, उसकी विद्वानों ने इस प्रकार मीमांसा की है कि दोनों ही परमेश्वर द्वारा प्रतिष्ठित या व्यवस्थित है, इसमें विशेष छान-बीन की जरूरत नहीं।

**3**. स्मृतिकारों में मनु ही प्रधान समझे जाते हैं। उन्होंने अपनी संहिता के द्वितीय अध्याय में 'धर्म' की मीमांसा करते हुए कहा है कि रागद्वेष परिशून्य विद्वान और साधुगण समाज में जिन नियमों का पालन करते हैं उसी को धर्म कहते हैं। इसी अर्थ में वर्णाचार, आश्रमाचार, सदाचार आदि को धर्म कहा गया है।

× × ×

**5**. मनोवृतियों को धर्म कहते हैं जैसे- दयाधर्म, अहिंसा, परमधर्म, सत्यधर्म, क्रोध, अपकृष्ट

धर्म। मनु मत से जहाँ सदाचार धर्म के नाम से कहा जाता है, वहीं सदाचार धर्म के अर्थ में संकोचन और उत्कर्ष हो कर ऐसा अर्थ होता है।

× × ×

**7.** कर्तव्य भी धर्म कहलाता है-जैसे- पिता का धर्म, पुत्र का धर्म, पति-पत्नी का धर्म। यह भी स्मृत्युक्त 'सदाचार' अर्थ से उद्धृत है।"[7] इसके अलावा भी उक्त ग्रंथ में धर्म कई तात्पर्य दिये गये हैं। इंद्रियों के कार्यों का भी धर्म के नाम से उल्लेख होता है- जैसे चक्षु का धर्म दर्शन, मन का धर्म चिंतन। गुण की क्रिया का नाम भी धर्म है जैसे-शीत का धर्म संकोचन, ताप का धर्म संप्रसारण। वृत्यनुसारिणी क्रिया को भी धर्म कहते हैं जैसे-चौरधर्म, दस्यु का धर्म, याचक का धर्म, व्यवसायी का धर्म। पदार्थ के गुण को धर्म कहते हैं जैसे-जीव धर्म। यहां धर्म शब्द से आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि गुण से है, जो केवल जीव में होता है। काल एवं युगादि के भेद से मानवाचार के भेद को धर्म कहा जाता है, जैसे-कालधर्म, युगधर्म, मनु के समय का धर्म, युधिष्ठिर के समय का धर्म, अकबर के समय का धर्म आदि।

यहां धर्म के विविध संदर्भ दिखाई पड़ते हैं। धर्म को व्यापक रूप में देखा गया है। कभी इसे व्यक्ति के जीवन के साथ जोड़कर तो कभी कर्म से जोड़कर देखने की कोशिश की गयी है। कभी इसे व्यापक स्तर देकर समाज के साथ जोड़कर देखने का भी प्रयास किया गया है। कहीं इसे नीति-अनीति से जोड़ा गया तो कहीं इसे परलोक एवं स्वर्ग प्राप्ति जैसी परिकल्पनाओं से जोड़ कर देखा गया। कभी धर्म को काल और युग से जोड़कर देखा गया है तो कभी धर्म को मनुष्य के नित्य कर्म से भी जोड़ा गया है। कहने का तात्पर्य है कि हिन्दी में धर्म शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है।

धर्म शब्द का अंग्रेजी रूपान्तरण है 'रिलीजियन' (Religion)। 'रिलीजियन' शब्द की उत्पत्ति 'रिलिजियो' (Religio) से हुई है जिसका तात्पर्य है ' एक साथ जोड़ना '

(To Bind With)। अंग्रेजी के कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों में धर्म संबंधी दी गई व्याख्याओं को भी देखना आवश्यक है।

**'दि इंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन'** के अनुसार-" धर्म जीवन के विविध अनुभवों की गहराई का वह संगठन है जो अपने आस-पास की संस्कृति में मौजूद रीति-रिवाज, शुद्धता, पूर्णता के अनुरूप बदलता रहता है।"[8]

**'दि इंसाक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन एंड एथिक्स'** के अनुसार-" 'धर्म ' शब्द, चाहे इसकी सटीक परिभाषा जो भी हो, स्पष्ट रूप से कुछ खास विशेषताओं से जुड़ा है (विश्वास, रस्म, रिवाज, अनुभूति, चित्तवृति, पाखण्ड इत्यादि)। इन विशेषताओं का निर्धारण पूर्वनिर्धारित धारणाओं के आधार पर होता है और कुछ प्राथमिक नियमों के द्वारा यह तय किया जाता है कि क्या इस वर्ग के तहत है और क्या नहीं ?"[9]

उपरोक्त ग्रंथों के धर्म संबंधी विचारों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त एक चीज स्पष्ट है कि धर्म की किसी एक सर्वमान्य परिभाषा को स्थिर नहीं किया जा सकता है। ऐसा इसलिए क्योंकि कहीं धर्म संस्कृति से जुड़ा है तो कहीं यह आचार-व्यवहार से। किसी ने इसे आन्तरिक अनुभूति के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास किया तो किसी ने इसे वाह्य कर्म कांड के साथ जोड़कर देखा एवं व्याख्यायित किया।

**1. 1. 2. धर्म की परिभाषा-** धर्म के स्वरूप पर विस्तार से विचार करने के लिए उसकी विभिन्न परिभाषाओं से गुजरना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन जगत ने धर्म की उत्पत्ति, स्वरूप एवं धर्म के विभिन्न अंगों को परिभाषित करने का प्रयास किया। सर्वप्रथम भारतीय विद्वानों एवं दार्शनिकों द्वारा धर्म की उत्पत्ति एवं उसके स्वरूप संबंधी विचारों को देखा जाय तो कई बातें सामने आती हैं।

प्राचीन काल से ही धर्म का प्रभाव मनुष्य के आचार-विचार एवं व्यवहार पर अत्यधिक रहा है। यहाँ तक कि आज जब मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है, वह अगोचर शक्तियों के सत्य को खोज निकालने में असफल रहा है। निरन्तर प्रयासों के बावजूद मनुष्य प्राकृतिक आपदाओं पर नियंत्रण कर पाने में असफल रहा है, जो उसे किसी दैवीय शक्ति पर विश्वास करने के लिए बाध्य करती है। आदिम युग से ही मनुष्य की यह धारणा रही है कि धार्मिक क्रियकलापों एवं आचरण से वह कुछ विशेष लाभ प्राप्त कर सकता हे जैसे- स्वास्थ्य, दीर्घायु, बच्चे विशेषकर पुत्र, भौतिक संसाधन, समृद्ध जीवन, आखेट में सफलता, वर्षा, अच्छी फसल, युद्ध में विजय इत्यादि।

सर्वप्रथम महात्मा गाँधी के धर्म संबंधी विचारों को जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। धर्म के संबंध में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं-" मैं समझा दूँ कि धर्म से मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब हिंदू धर्म से नहीं है, जिसे मैं बेशक दूसरे सब धर्मों से अधिक पसंद करता हूँ। मेरा मतलब उस धर्म से है जो हिंदू धर्म को लांघ गया है, जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है। जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट संबंध जोड़ता है और जो हमें निरंतर अधिक शुद्ध और पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है, जो अपनी संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है, जब तक उसे अपने स्वरूप का पता नहीं लग जाता, सिरजनहार का ज्ञान नहीं हो जाता तथा स्रष्टा के और अपने बीच का संबंध समझ में नहीं आ जाता।"[10]

धर्म संबंधी अपने इन विचारों में महात्मा गाँधी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म हमें निरंतर शुद्ध करता है और पवित्र भी अर्थात् हमारे भीतर मानवीयता के श्रेष्ठ गुणों को स्थापित करने में हमारी मदद करता है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन धर्म को जीवन, जगत और

प्रकृति के साथ जोड़कर देखते हुए कहते हैं-" धर्म विचारों का गंभीर अनुसरण है, दृढ़ता के साथ किसी वस्तु की खोज, प्राप्त साधनों से किसी साहसिक कार्य के सम्पन्न करने का नाम है। सत्य, शिव और सुंदर का संधान ही ईश्वर की खोज है। मां का दूध पीता हुआ नवजात, आकाश की ओर टकटकी बांधकर अनगिनत तारों की ओर देखता हुआ अनपढ़ व्यक्ति, अपनी प्रयोगशाला में माइक्रोस्कोप के द्वारा जीवन का अध्ययन करता वैज्ञानिक, निर्जन में संसार के असीम सौन्दर्य और अपार दु:खों पर चिंतन करता कवि, तारों से भरे आकाश या हिमालय की ऊंची चोटियों या शांत सागर की ओर निहारता मनुष्य जो अच्छा भी है और महान भी, सबकुछ अस्पष्ट होने के बावजूद इसमें अनन्त ज्ञान है, स्वर्गिक अनुभूति है।"[11] डॉ. राधाकृष्णन के धर्म संबंधी विचार कर्म के सिद्धांत के काफी करीब नजर आते हैं। जिस तरह मां अपनी संतान को बिना किसी स्वार्थ के दूध पिलाती है, वैज्ञानिक, मानव जीवन को और भी बेहतर बनाने के लिए प्रयोगशाला में दिन-रात लगा रहता है, प्रकृति का आनन्द लेना और उसे पाठकों तक पहुंचाना जैसे कवि का धर्म है उसी प्रकार मनुष्य का धर्म है मनुष्य में आस्था रखना। सत्य, शिव और सुंदर का संधान करना।

कविगुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार- " प्रकृति में मौजूद सभी वस्तुओं के सुगन्धित सत् तत्व का नाम धर्म है।"[12] वस्तुत: टैगोर ने प्रकृति प्रेम को आस्तिकतावद से सम्बद्ध किया तथा प्रकृति के विभिन्न तत्वों को परमसत्ता से जोड़ते हुए मनुष्य को परमसत्ता के निकट लाने का प्रयास किया। टैगोर ने स्पष्ट कहा है कि धर्म की महत्ता तब है जब वह मानवीयता से जुड़े। एक ओर भजन, पूजा-पाठ करना और दूसरी तरफ गरीबों पर अत्याचार करना न तो मानवीयता है और न ही किसी धर्म की शिक्षा।

धर्म संबंधी अपने विचार रखते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू कहते हैं- " मैं कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ। परन्तु मैं किसी वस्तु में विश्वास अवश्य करता हूँ। आप उसे धर्म

कहते हैं या जो चाहे कह सकते हैं। अब जो भी वस्तु मनुष्य को उसकी छुद्रताओं से ऊपर उठने में सहायता देती है, चाहे वह कोई देवता हो अथवा कोई पाषाण प्रतिमा, वह शुभ है और उसे ठुकराया नहीं जाना चाहिए।"[13] पंडित नेहरू का यह मानना था कि हर वह कार्य धार्मिक है जो निरन्तर मनुष्य को मानवीयता की ओर मोड़ने का प्रयास करता है। मनुष्य को सत् तत्वों से जोड़ने का प्रयास करता है और बुराइयों से दूर रखता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर बिपन चंद्र के अनुसार- " धर्म के दो रूप हैं। उसका एक रूप है निष्ठाओं की वह पद्धति जिनके अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का संचालन करता है और दूसरा रूप है धर्म पर आधारित, सामाजिक-राजनीतिक पहचान की विचारधारा यानी सांप्रदायिकता। दूसरे शब्दों में, धर्म सांप्रदायिकता का कारण नहीं बनता, हालाँकि सभी तरह के सांप्रदायिकतावादी धार्मिक मतभेदों का इस्तेमाल करते हैं। इन मतभेदों का इस्तेमाल उन सामाजिक आवश्यकताओं, आकांक्षाओं, संघर्षों इत्यादि को ढँकने या विकृत रूप में पेश करने के लिए किया जाता है, जिनका धर्म से कुछ भी लेना-देना नहीं है।"[14] प्रोफेसर बिपन चंद्र के विचारों में धर्म का एक रूप वह है जहां व्यक्ति पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, मनुष्य सेवा जैसी चीजें अपने जीवन में आत्मसात करता है। वहीं धर्म का दूसरा रूप वह है जहां व्यक्ति धर्म का इस्तेमाल अपने निजी हितों के लिए करता है। कभी अपनी धार्मिक पहचान बनाता है तो कभी राजनीतिक हितों के लिए धर्म का दोहन करता है। यह धर्म का विकृत रूप है।

पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म के अध्ययन के लिए एक और मार्ग अपनाया गया जहाँ यह तर्क रखा गया कि सफल सामाजिक ढाँचे के लिए धर्म एक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। यह समाज को एक श्रृंखला में बाँधता है ताकि मनुष्य का जीवन-यापन उस समाज में संभव हो पाये। दुर्खीम, रेडक्लीफ ब्राउन जैसे विद्वानों का यह दृष्टिकोण धर्म की उत्पत्ति को छोड़कर, धर्म के सामाजिक कार्यप्रणाली के साथ संबंध जोड़ता है।

प्रसिद्ध विद्वान रोबर्टसन स्मिथ के अनुसार- " चाहे आदिम धर्म हो या आधुनिक, हम यह पाते हैं कि जहाँ एक ओर धर्म विशेष मान्यताओं से जुड़ा है वहीं दूसरी ओर विभिन्न संस्थाओं, शास्त्रसम्मत रस्मों-रिवाजों और चरित्र के व्यावहारिक नियमों एवं शर्तों से जुड़ा है। हमारी आदतें हैं कि हम विश्वास के आधार पर धर्म को देखते हैं न कि व्यवहार के आधार पर।"[15] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है विद्वानों के बीच धर्म की उत्पत्ति के संबंध में मतैक्य नहीं है। पाश्चात्य चिंतक टेलर के अनुसार, " असीम, अगोचर सत्ता में विश्वास ही धर्म है।"[16] स्पिरो नामक विद्वान कहते हैं, " सांस्कृतिक रूप से स्वयं सिद्ध किसी दैवीय शक्ति में विश्वास एवं तद्नुरूप सांस्कृतिक ढाँचागत व्यवहार ही धर्म है।"[17] मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों ही धरातलों पर किसी व्यक्ति और समाज के बीच एक अन्र्तसंबंध होना जरूरी है। इस प्रकार विद्वानों ने समय-समय पर धर्म की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। आधुनिक मानव वैज्ञानिकों के अनुसार धर्म के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए है कि हम किसी विशेष धर्म में मौजूद खास गुणों को खोजें और प्रतिष्ठित करें। एक हद तक यह धर्म की परिभाषा को स्थापित करने में हमारी मदद करता है।

टेलर के ब्रह्मवादी सिद्धान्त के अनुसार धर्म सर्वव्यापी तो है परंतु इसका स्वरूप सभी जगहों पर एक जैसा समान नहीं है। जहाँ किसी खास कवीले में कुछ भूतों या आत्माओं पर विश्वास किया जाता होगा, वहीं किसी दूसरे कवीलाई वर्ग में संभव है कि भूतों एवं आत्माओं का एक देवालय ही बना दिया गया हो। ऐसा विश्वास था कि ये ही मनुष्य के भाग्य के मार्गदर्शक हैं। इस प्रकार ब्रह्म या आत्मा संबंधी मान्यता दो भिन्न वर्गों में अलग-अलग हो सकती है। 'शरीर नश्वर है परंतु आत्मा नहीं मरती' जैसी बातों में विश्वास के कारण ही पूवर्जों के पूजन की रीति चली। यह विश्वास ही टेलर के अनुसार ब्रह्मवाद है। टेलर का मानना है कि धर्म और ब्रह्म दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं।

स्पष्ट है कि ब्रह्मवादी सिद्धान्त आत्मा की आराधना को प्रमुखता देता है और प्रकृति की आराधना को गौण मानता है। मैक्समूलर का प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त इसके ठीक उलट है। मैक्समूलर का मानना है कि मनुष्य में दैवीय शक्ति के प्रति विश्वास प्राकृतिक प्रलय एवं आपदाओं से उत्पन्न अतिप्रबल भय से हुआ है। मैक्समूलर ने इसे मनुष्य की विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है जैसे-मनुष्य द्वारा बिजली का कड़कना ईश्वर का क्रोध माना गया, बारिश भगवान के आँसू और वज्रपात से लगी आग उनका प्रकोप माना गया। इस अगम अगोचर दैवीय शक्ति को परिभाषित करने के लिए ही धर्म की उत्पत्ति हुई। अतएव मैक्समूलर का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति वैचारिक एवं भाषिक रूप में तब हुई जब उस अगम अगोचर शक्तिशाली को परिभाषित किया गया।[18] इस रूप में विश्व के कुछ धर्म प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त के करीब नज़र आते हैं। उदाहरण-स्वरूप आर्यों का धर्म जो वैदिक साहित्य में वर्णित है, इस सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

प्रसिद्ध विद्वान मेलिनोस्की के अनुसार, " धर्म मित्रवत भाव से मनुष्य के उन भावनात्मक स्तरों के साथ जुड़ा हुआ है जो तनाव के स्तर हैं। इनके चमत्कारिक एवं धार्मिक व्यवहार इनके साहसिक कार्यों से जुड़े होते हैं। ये भय के विभिन्न स्तर हैं।"[19] कोई आपदा मनुष्य के मन में कई प्रकार के तनावों को जन्म देती है। अस्तित्व पर आये इस खतरे को काबू में लाने के लिए धर्म भावनात्मक रूप में एक हथियार का काम करते हुए इस तनाव और दबाव से लड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि धर्म दैवीय शक्तियों और मनुष्य के बीच सामंजस्य स्थापित करने का काम करता है। इसे धर्म के कार्यकारिणी सिद्धान्त कहा जाता है।

धर्म का काम केवल भय और तनावमुक्त और भावनात्मक मानव मस्तिष्क तैयार करना ही नहीं है बल्कि धर्म मनुष्य को अपने अधीन कर लेता है। अन्तत: एक वर्ग का बचा

रहना एक व्यक्ति के बचे रहने से अधिक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। ऐसा इसलिए है क्योंकि बिना सामाजिक अस्तित्व के व्यक्तिगत अस्तित्व संभव नहीं है। समाज के ढाँचे के अनुरूप जीवन-यापन करने के लिए हर व्यक्ति बाध्य है। समाज से बाहर सोच पाना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है क्योंकि ऐसा जैसे ही होता है वह व्यक्ति अधार्मिक एवं विश्रृंखल करार दिया जाता है।

दुर्खीम की कृति 'ले फॉर्मीस एलीमेंटेयर दे ला वी रेलीजियोस' (The Elementary forms of the religious life) सन् **1912** में प्रकाशित हुई। धर्म 'भ्रम' पर टिका है- वस्तु निष्ठवादियों के इस विचार का विरोध करते हुए और धर्म को 'अनुभव के बुनियादी तत्व' पर आधारित मानते हुए दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है- " धर्म जो कुछ भी पवित्र है, अर्थात् जो कुछ पृथककृत और वर्जित है उससे संबंधित विश्वासों और आचरण की प्रणाली है। ये विश्वास और आचरण इन्हें माननेवालों को एक और केवल एक नैतिक समुदाय में ऐक्यबद्ध करते हैं, जिसे चर्च कहा जाता है। हमारी परिभाषा में जिस दूसरे तत्व का समावेश किया गया है वह पहले से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि धर्म की कल्पना चर्च से अविच्छेद है, यह दिखलाकर वह तत्व इस बात को स्पष्ट करता है कि धर्म को प्रमुख रूप से सामूहिक चीज होना चाहिए।"[20] इसी रचना में आगे चलकर दुर्खीम मानते हैं (Religion is what religion does)। दुर्खीम धर्म की परिभाषा धर्म के ही विभिन्न अंगों से देते हैं और वे अंग हैं धर्म पर विश्वास, आचार एवं संस्कार। जहाँ विश्वास धर्म के गुरुत्व में विद्यमान है वहीं आचार एवं संस्कार धर्म के शक्तिशाली तत्व पर निर्भर है।

दरअसल धर्म मनुष्य जीवन के कुछ आधारभूत प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है। जैसे- इस संसार में इतनी बुराइयाँ क्यों मौजूद हैं ? हम इनसे क्यों प्रभावित हो जाते हैं ? मृत्यु के बाद हमारे साथ क्या होता है ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिए धर्म का

सीधा संबंध जोड़ा जाता है अदृश्य शक्तियों के साथ। धर्म को केवल वाह्य जगत् के साथ ही नहीं बल्कि इसे मनुष्य के अन्तर्जगत के साथ भी जोड़कर देखा गया। उदाहरणस्वरूप ईसाई धर्म, इस्लाम जहाँ वाह्य जगत् के साथ जुड़े है वहीं बौद्ध एवं जैन धर्म अन्तर्जगत से जुड़े है।

पुरातत्व संबंधी प्राप्त जानकारियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धार्मिक विश्वास का अस्तित्व तब से है जब से मानव पहली बार समूह में रहने लगा। वे एक समूह के रूप में रहते थे एवं एक ही संस्कृति और मूल्य एवं नियमों को माना करते थे जो उनके पूर्वजों एवं मानसिक भ्रम से उत्पन्न हुए थे। धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता मूर्तिपूजा थी लेकिन धर्म के अनुरूप आचरण एवं धार्मिक क्रियकलापों में शिरकत करना भी उतना ही आवश्यक था।

चूँकि धर्म को एक दर्शन के रूप में भी देखा गया है इसलिए दर्शनशास्त्र में भी धर्म को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स मार्टीन्यू के अनुसार- " धर्म एक ऐसे अमर ईश्वर में विश्वास है जो दिव्य है, पवित्र है, अपूर्व है, सुन्दर है; जो मस्तिष्क से लेकर पूरे ब्रह्मांड को संचालित करता है एवं मनुष्य जाति से सदाचार संबंधी रिश्ते कायम करता है।"[21] एक और दार्शनिक विद्वान हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार- " धर्म उस असीम शक्ति में विश्वास है जिसने इस पूरे संसार का निर्माण किया है और हमारे ज्ञान को श्रेष्ठता की ओर ले जाता है।"[22] उपरोक्त दोनों परिभाषाओं में मार्टीन्यू धर्म को एक ऐसे ईश्वर में विश्वास से जोड़ते हैं जो जीवित है एवं पूरे ब्रह्मांड पर शासन करता है और मनुष्य के साथ भावनात्मक स्तर पर जुड़ा हुआ है। तो दूसरी ओर, हरबर्ट स्पेन्सर धर्म को एक ऐसी शक्ति में विश्वास से जोड़ते हैं जो स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि संसार का निर्माण उसी शक्ति से हुआ है।

दार्शनिक फ्रेजर कहते हैं- " मेरे अनुसार धर्म उस शक्ति की आराधना है जो मनुष्य से श्रेष्ठ है और ऐसा विश्वास है कि वह शक्ति प्रकृति एवं मानव जीवन को दिशा भी देती है और संचालित भी करती है।"[23] दार्शनिक ब्रेडली के अनुसार- " वस्तुत: धर्म हमारे अस्तित्व के प्रत्येक भाव के माध्यम से ईश्वरत्व के संपूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास है।"[24] उपरोक्त दार्शनिकों ने भी मार्टीन्यू और स्पेन्सर से ही मिलते-जुलते विचार धर्म के संबंध में रखे हैं। दोनों ने भी मानव जीवन की प्रत्येक गतिविधि को धर्म के अन्तर्गत माना है यही नहीं, इस सभी गतिविधियों का नियंत्रण भी धर्म ही करता है ऐसा इनका विश्वास है।

कई विद्वान धर्म पर चोट करते हुए मार्क्स के धर्म संबंधी विचार को प्रकट करते हैं कि मार्क्स धर्म को अफीम कहते हैं। जैसा कि ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ कोटेशन्स एंड प्रोवर्ब्स में भी कहा गया है- " धर्म... जनता के लिए अफीम है।"[25] ठीक है कि मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा था परंतु यह अधूरी परिभाषा है। मार्क्स ने कहा था- " धर्म पीड़ित प्राणी की आह है, हृदयहीन संसार का हृदय है, आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा और धर्म जनता के लिए अफ़ीम है।"[26] जैसा कि नामवर सिंह ने आशीष त्रिपाठी को दिये गये साक्षात्कार में इसकी चर्चा करते हुए कहा- " इस संदर्भ में मार्क्स ने धर्म को संसार की आध्यात्मिक सुगंध भी कहा है, जिसका लोग ज़िक्र नहीं करते। दरअसल मार्क्स धर्म को 'आइडियोलॉजी' यानी 'विचारधारा' मानते थे और उनकी नज़र में यह 'आइडियोलॉजी' वस्तुत: छद्म चेतना या मिथ्या चेतना है-वास्तविक चेतना के बरक्स। इसलिए वे धर्म के नामपर चेतना के विरूद्ध 'विज्ञान' के पक्षधर थे और विज्ञान भी उनके लिए केवल प्रकृति विज्ञान तक सीमित न था बल्कि अर्थशास्त्र भी विज्ञान के दायरे में आता है। जिस क्षेत्र में उन्होंने मुख्य रूप से काम किया। इस प्रकार मार्क्स ने धर्म को अफ़ीम कहकर एकदम खारिज नहीं किया, बल्कि उसे असर की एहमियत का एहतराम किया। इसी बात का सबूत है वह

वाक्य-'धर्म के विरुद्ध संघर्ष परोक्ष रूप से उस संसार के विरूद्ध संघर्ष है, जिसकी आध्यात्मिक सुगंध धर्म है।' "[27]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह पता चलता है कि 'धर्म' एक ऐसा विषय रहा है जिस पर गंभीर बहस हुई है। 'धर्म' ने सभी को आंदोलित किया है। पश्चिम के विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में धर्म की उत्पत्ति के संदर्भ में यह दिखाई पड़ता है कि कमोबेश हर विद्वान ने धर्म की उत्पत्ति की जड़ में भय को ही प्रमुख माना है। जबकि भारतीय चिंतन में धर्म को मनुष्य के आचार, व्यवहार, रहन-सहन एवं आन्तरिक अनुभूति के साथ जोड़कर व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया। पश्चिमी चेतना ने धर्म को लौकिक नैतिकता, सामाजिक बंधनों या फिर किसी ऐसे 'परमात्मा' से जोड़ा जो उस समूह के किसी एक कार्य से या तो अतिप्रसन्न होता है या अतिक्रुद्ध, वह शासक भी है और निर्माता भी और पूरी पृथ्वी का संचालन वही करता है और पृथ्वी से दूर कहीं और रहता है। पश्चिम ने धर्म को बहिर्मुखी चेतना से जाना है जबकि भारतीय मनीषा ने धर्म को अंतर्मुखी चेतना से जानने की चेष्टा की है। भारतीय मनीषा में धर्म को सर्वप्रथम व्यक्तिगत माना गया है बाद में वह सामाजिक है। सबसे पहले आत्मानुभूति के द्वारा धर्म को विश्लेषित किया जाता है, उसकी अनुभूति करनी पड़ती है, उसे आत्मसात् करना पड़ता है तत्पश्चात् धर्म सामाजिक बनता है। नरेन्द्र मोहन कहते हैं- " भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने धर्मतत्व पर जो अंतर मंथन किया, उससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि धर्म एक ऐसी आंतरिक क्रांति है, जिसका मूल उद्देश्य अनुभूति द्वारा अंतस् में ऐसा रूपांतरण करना है कि वह प्राणिमात्र ही नहीं, बल्कि समस्त प्रकृति के लिए पूर्णरूप से सहयोगी बन जाए। इन भारतीय मनीषियों की दृष्टि में धर्म एक अनुभव है- सर्वव्यापी भगवत्ता का, परम चैतन्य का और परमसत्ता का; जबकि पश्चिम ने धर्म के संदर्भ में जो चिंतन किया, वह चिंतन भय से उपजा था।"[28]

धर्म अर्थात् आध्यात्मिक प्रगति के लिए किस व्यक्ति को किस मार्ग पर चलना है अंततः यह उस व्यक्ति द्वारा तय होना चाहिए, दो व्यक्तियों का धर्म एक जैसा नहीं हो सकता। इसलिए भारतीय दर्शन की यह मान्यता है कि धर्म वैयक्तिक कर्म और वैयक्तिक चेतना है परन्तु पश्चिम में यह मान्यता है कि धर्म यदि है तो वह व्यक्ति आश्रित नहीं है, बल्कि वर्ग आश्रित है, समूह आश्रित है। पश्चिम में धर्म का संबंध वाह्य चेतना से है। वहाँ धर्म का मार्ग एवं कुमार्ग कोई विशेष महापुरुष ही बताता है और इसी बताए हुए मार्ग पर चलने के लिए हर व्यक्ति को प्रेरित और सम्मोहित किया जाता है। कोई मानव जब अपने आपको 'धर्म' और 'परमात्मा' का विशेष ज्ञाता मानता है और जब वह अपने विचार, अपनी आस्था और अपनी व्याख्या तथा मत को समाज पर थोपना चाहता है तो संप्रदाय का जन्म होता है। यह स्थिति साम़ान्य व्यक्ति को दुराग्रही तक बना देती है। हठवादिता और अंधविश्वास का जन्म भी इसी मानसिकता के कारण होता रहा है। यह अतिप्रतिबद्धता ही समाज को रूढ़िवादी बनाती है और रूढ़ि तथा अतिवाद से सम्मोहित मन नए विचार, तर्क अथवा समाधान के लिए दरवाजे बंद कर लेता है।

आदिम मानव ने प्रार्थनाओं और उपासनाओं का प्रयोग संभवतः प्राकृतिक आपदाओं से जूझने और उन्हें शांत करने के उद्देश्य से किया और प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को दैवीय शक्ति मानकर उनके स्वरूप का मानवीकरण किया गया, देवी-देवताओं की परिकल्पना की गई और उनकी प्रतिमाएं गढ़ी गयीं, चित्र बनाए गए और उन्हें प्रसन्न करने के लिए उपाय खोजे गये। इन्हीं प्रार्थनाओं, पूजा-पद्धतियों तथा उपासनाओं को तत्कालीन मानव ने धर्म की संज्ञा दे दी और धर्म को ही निज की समृद्धि व सुख का साधन मान लिया।

आदिम युग में जब मनुष्य ने समूह में रहने की आवश्यकता को महसूस किया होगा तब अलग-अलग कबीलों की उत्पत्ति हुई। इन कबीलों ने प्राकृतिक आपदाओं से जूझना

शुरू किया और वैज्ञानिक चिंतन के अभाव में इन आपदाओं में मानवीकरण का आरोपण कर उस अगम, अगोचर सत्ता को परम शक्तिशाली कहकर परिभाषित किया जिससे ईश्वर की उत्पत्ति हुई। वह ईश्वर जिसने इस सृष्टि का निर्माण किया, जो इस सृष्टि का संचालन भी करता है। वर्षा, बादल गरजना, बिजली कड़कने के फलस्वरूप जंगल में लगी आग को भी परिभाषित करने का प्रयास किया गया जो क्रमश: ईश्वर के आँसू, उनका क्रोध एवं उनके क्रोध से उत्पन्न प्रकोप बना। अब यह भी प्रयास हुआ होगा कि ईश्वर के इस क्रोध को शांत कैसे किया जाय। इसके लिए यज्ञ, आहुति, पशुबलि, नरबलि जैसे कर्मकांड अपनाये गये। कबीले में रहने के कुछ नियम-कनून बने। धीरे-धीरे और भी कर्मकांड इसके साथ जुड़ते गये और ज्यादा सख्त नियम-कानून बनते गये और इन नियमों को ही धर्म की संज्ञा देकर विभूषित किया गया। किसी ईश्वर में विश्वास रखना ही केवल मात्र धर्म नहीं है बल्कि उस कबीले या समाज द्वारा बनाये गये तमाम नियम-कानून, कर्मकांड एवं वाह्याचारों को मानना भी धर्म का एक अनिवर्य हिस्सा बना। इसके साथ ही धार्मिक क्रियाकलापों एवं समारोहों में शिरकत करना भी अनिवार्य था। आर्यों के (हिंदू धर्म) धर्म को इस रूप में देखा जा सकता है।

हर धर्म का आर्विभाव इसी रूप में हुआ, यह कहा नहीं जा सकता। मानव सभ्यता के इतिहास के आधार पर कहा जा सकता है कि कई बार किसी एक कबीले में मौजूद किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी विद्वता, उसकी मेघा से पूरे कबीले के लोग प्रभावित हुए हों। उस व्यक्ति ने स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया और कहा कि ईश्वर ने उसे मानवमात्र के कल्याण के लिए भेजा है, पतितों के उद्धार के लिए भेजा है और इस प्रकार उस व्यक्ति ने अपने कुछ अनुयायी बना लिए। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती गई और अंतत: एक नये धर्म की स्थापना हुई। इस्लाम, ईसाई एवं बौद्ध धर्म को इस रूप में देखा जा सकता है। पैगंवर साहब, ईसामसीह और गौतम बुद्ध ने स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया

एवं उनके द्वारा कही गयी बातों को सभी मानकर चलने लगे। धीरे-धीरे ये बातें, उनके बताये गये नियम रूढ़ हुए और जिसने धर्म का रूप धारण कर लिया। जिसका मूलभाव मनुष्य का कल्याण ही था।

धर्म में विकृति तब आयी जबउसने मनुष्य के विवेक पर भी कब्जा जमाना शुरू किया। अपने प्रति पूर्ण समर्पण की माँग की। व्यक्ति स्वतंत्र होकर न कुछ सोच सकता था और न ही कर सकता था। जो कुछ उसे करना था वह धर्म के दायरे में रहकर ही। जन्म से मृत्यु पर्यन्त धर्म की सलाखों से वह जकड़ा हुआ है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसे अधार्मिक घोषित कर दिया जाता था जिसकी सजा समाज निष्काषन से लेकर मृत्युदंड तक हुआ करती थी। समाज निष्काषन की प्रथा आज भी भारतीय समाज में मौजूद है। अब व्यक्ति की वैयक्तिकता खत्म हो चुकी है, पूरा का पूरा समाज धर्म द्वारा संचालित होता है। एक व्यक्ति की पूरी दिनचर्या धर्म द्वारा संचालित हुआ करती थी और आज भी संचालित होती है।

चाहे कोई भी धर्म हो उसकी उत्पत्ति मानव के कल्याण के लिए ही हुई है। समाज को एक श्रृंखला में पिरोने के लिए धर्म का आर्विभाव हुआ। कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद कहते हैं- " धर्म हमारी रक्षा और कल्याण के लिए है। अगर वह हमारी आत्मा को शांति और देह को सुख नहीं प्रदान कर सकता, तो मैं उसे पुराने कोट की भांति उतार फेंकना पसंद करूंगा। जो धर्म हमारी आत्मा का बंधन हो जाए, उससे जितनी जल्द हम अपना गला छुड़ा लें, उतना ही अच्छा।"[29]

प्रसिद्ध कथाकार राजेंद्र यादव 'अन्यथा' नामक पत्रिका द्वारा आयोजित **'21 वीं शताब्दी में धर्म की प्रासंगिकता'** विषय पर परिचर्चा के दौरान कहते हैं- "... धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच का संवाद है और चूँकि यह संवाद है इसलिए यह व्यक्तिगत नहीं रह पाता, आगे तक भी जाता है और इसमें तरह-तरह के कर्मकांड, तरह-तरह के पाखंड और

तरह-तरह के तौर-तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं। ... धर्म एक विचार है। वह आज अपना तत्व खो चुका है। अब सिर्फ उसका कर्मकांड रह गया है, उसमें सिर्फ सांप्रदायिकता रह गई है। बिना विचार के कोई नहीं रह सकता, यह मेरा मानना है। कई लोग कहते हैं कि धर्म के बिना कोई रह नहीं सकता। यदि धर्म एक प्रकार का विचार है तो मैं कहता हूँ कि आज हमें एक ऐसे विचार की जरूरत है जो ज्यादा वैज्ञानिक, ज्यादा रैशनल, ज्यादा भविष्यदर्शी हो। धर्म हमेशा अतीतदर्शी होता है। वह वर्तमान तक नहीं आता, वह पीछे देखता है। जो जितना पीछे है वह उतना ही महान है। वेदों तक में लिखा है कि जो इससे पहले थे, वे हमसे भी महान थे। यह सभी को अतीत में ही देखता हैं, यह अतीतवादी है। अत: आज हमें ऐसे धर्म की जरूरत है जो वर्तमान में जिए, आज के वातावरण के साथ तालमेल बैठा सके और वैज्ञानिक सोच को अपने में पिरो सके।"[30] हर धर्म में दूसरे धर्म के प्रति आदर, उसके अनुयायियों के प्रति समानता का भाव, पशु-पक्षी-प्राणियों के प्रति दयाभाव, दुखियों-पीड़ितों के प्रति सेवाभाव जैसी बातें कही गयीं। धर्म का आर्विभाव इसलिए हुआ कि मानव के स्वभाव में गुणात्मक सुधार आये तथा उसमें एक जीवंत रूपान्तरण हो। मूल बात यह कि धर्म की उत्पत्ति के पीछे मानव कल्याण का एक महत्त उद्देश्य था। समस्या तब खड़ी हुई जब यह पुरोहितों एवं पाखण्डियों के हाथों में पड़ा। जब कोई स्वयं को 'धर्म' और 'परमात्मा' का विशेष ज्ञाता मानता है ओर अपने विचार, अपनी आस्था और अपने मत को दूसरे पर थोपना चाहता है, समाज पर लादना चाहता है तो समस्या खड़ी हो जाती है। यहाँ पूरे समाज और उसके बाद व्यक्ति को प्रतिबद्धता के दायरे में रखा जाने लगा। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि अपने प्रति पूर्ण समर्पण की माँग के कारण धर्म ने मनुष्य के विवेक पर ही अपना कब्जा जमा लिया जिसने मनुष्य के सोचने की क्षमता कुंद कर दी, इससे हठवादिता और अंधविश्वास ने जन्म लिया।

देवतावाद या पैगम्बरवाद तथा पुरोहितवाद से जुडने के लिए सुझाए गए कर्मकांड को भी 'धर्म' की संज्ञा दे दी गई। धर्म को अनेक आस्थाओं, मतों, मतांतरों व विश्वासों में विभाजित किया, व हर विभाजन को एक पृथक धर्म की संज्ञा दे दी गई। अपने कर्मकांड को धर्म कहकर संबोधित करना प्रारंभ कर दिया और इससे ही धर्म शब्द प्रदूषित हो गया। पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन को वास्तव में धर्म नहीं कहा जा सकता, ये समस्त कर्म, मात्र कर्मकांड हैं, जिनसे मनुष्य के मन में धर्म को जानने, उसे अनुभव करने की जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है।

वास्तव में 'धर्म' शब्द का कदाचित दुरुपयोग भी किया गया है। धर्म अपने आप में एक ऐसा शब्द है जिसके समस्त रहस्यों का उद्‌घाटन करने की क्षमता मानव के पास है भी या नहीं अब तो इस बात पर भी संदेह है। धर्म को परिभाषाओं में नहीं बाँधा जा सकता। धर्म की वास्तविक शक्ति की परख केवल मात्र कर्म के माध्यम से ही हो सकती है। कर्म ही उस व्यवस्था का निर्माण कर सकता है जिससे धर्म और पाखंड के बीच अंतर किया जा सकता है। यदि धर्म को कर्म के रूप में ढ़ाला नहीं जा सकता तो वह पाखंड ही होगा। धर्म की आवश्यकता तभी तक है जब तक वह मनुष्य के मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा कर सकता है। अगर धर्म मनुष्य को कर्मकांडी, रूढ़िवादी, दकियानूसी एवं नवीनता विरोधी, प्रतिगामी सोच का बनाता है तो ऐसे किसी भी धर्म की आवश्यकता नहीं है। धर्म में गति है और शाश्वत गति है। धर्म देश, काल और परिस्थितियों को भी लाँघ सकता है और फिर भी गतिमान रह सकता है। धर्म तो सतत् है, सर्वकालिक है, सार्वदेशिक है और हर प्राणी के लिए उपलब्ध है- ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य का प्रकाश सभी को मिलता है।

वर्तमान संदर्भों में यदि देखा जाय तो एक ओर धर्म जहाँ वैयक्तिक अनुभूति है, वहीं उसकी सामाजिक भूमिका भी है। धर्म जहाँ एक व्यक्ति को संचालित करता है, वहीं

वह पूरे समाज को भी सुव्यवस्थित रखता है। धर्म एक ओर चिंतन प्रधान है तो दूसरी ओर कर्मप्रधान भी है। जहाँ एक ओर धर्म लौकिक जगत् से संबंधित है, वहीं दूसरी ओर परलौकिक या आध्यात्मिक जगत से भी उतना ही जुड़ा हुआ है। धर्म जहाँ प्रकृत स्वभाव है, वहीं वह अर्जित गुण भी है। परन्तु मुख्य रूप से धर्म वैयक्तिक ही होना चाहिए। आखिरकार एक व्यक्ति को क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं ? यह उस व्यक्ति पर ही छोड़ देना चाहिए। भगवान बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को अंतिम समय में यही उपदेश दिया था 'अप्प दिपो भव:' अर्थात् अपने अंतस् के प्रकाश से प्रकाशित होकर ज्ञान अर्जन करो। यदि धर्म ऐसा आचरण रखने पर जोर देता है तो निश्चित रूप से व्यक्ति का विवेक स्वतन्त्र भी रहता है और हमेशा जागृत भी। जहाँ विवेक को स्वतन्त्रता नहीं दी जाती वहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित होती है और कट्टरता धीरे-धीरे पैर पसारने लगती है जो धर्म में विकृति लाती है।

**1. 1. 3. संप्रदाय-** धर्म के कई प्रमुख अंग हैं जिनमें से एक प्रमुख अंग है- संप्रदाय। **'प्रामाणिक हिंदी कोश'** में 'संप्रदाय' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है -" संप्रदाय- 1. कोई विशेष धार्मिक मत, 2. किसी मत के अनुयायियों की मंडली 3. किसी विषय या सिद्धांत के संबंध में एक ही विचार या मत रखनेवाले लोगों का वर्ग, शाखा।"[31] अत: स्पष्ट है कि एक समान मत या विचारधारा में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों के समूह को संप्रदाय कहा जाता है।

संप्रदाय का अंग्रेजी रूपान्तरण है **कम्युनिटी**। विभिन्न ग्रंथों में संप्रदाय संबंधी विचार इस प्रकार हैं। **'दि इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजीयन'** में लिखा गया है-" कम्युनिटी शब्द की उत्पत्ति वेब्सटर्स (websters) के अनुसार लैटीन शब्द 'कम्युनिटास'(communitas) से हुई है जिसके कई अर्थ हैं जैसे- 1. कुछ लोगों का समूह जो किसी एक संगठन के हों या जिनके हित एक समान हों या एक ही स्थान पर रहनेवाले लोग जिनके नियम-कानून समान

हों। **2.** वृहत स्तर पर ऐसा समाज जो एक राष्ट्र या राज्य के रूप में हो। **3.** साझा संबंध या स्वामित्व और **4.** एक समान सार्वजनिक चरित्र।"[32]

समाजशास्त्रियों ने समय-समय पर संप्रदायों को परिभाषित करने का प्रयास किया। जिस आधार को ग्रहण कर इन विद्वानों ने संप्रदाय को परिभाषित किया। व्यक्तियों का ऐसा समूह जो अलग-अलग समुदायों में रहता है और सामूहिक जिम्मेदारियों को भी निभाता है उन्हें संप्रदाय कहा जा सकता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकिवर और पेज के अनुसार- " जब कभी किसी समूह के सदस्य, चाहे वह समूह बड़ा हो अथवा छोटा, एक साथ इस प्रकार जीवन-यापन करता हो जहाँ किसी व्यक्ति विशेष के लाभ के संबंध में न सोचकर एक समूह के सार्वजनिक जीवन की आधारभूत सुविधाओं के संबंध में सोचा जाता है उस सार्वजनिक जीवन-यापन को एक संप्रदाय के दायरे में कहा जा सकता है।"[33] इस परिभाषा में 'सार्वजनिक जीवन की आधारभूत सुविधाओं' पर विशेष बल दिया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि एक संप्रदाय के सदस्य को अपने समूह के हित की सार्वजनिक सुविधाओं के संबंध में पहले सोचना चाहिए।

ऑग्बर्न और निमकॉफ के अनुसार-" संप्रदाय का तात्पर्य एक क्षेत्र विशेष के समाज में मौजूद अलग-अलग संगठनों से लगाया जा सकता है।[34] सी. एच. कोले के अनुसार-"...दूसरी ओर संप्रदाय का अर्थ एक स्थायी सामाजिक समूह द्वारा स्वीकृत इच्छाओं की समग्रता से लगाया जा सकता है।"[35] लींडमैन के अनुसार- " संप्रदाय को यदि स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाय तो सचेतन रूप से लोगों के संगठित समूह को कहा जा सकता है जो एक क्षेत्र विशेष में निवास करता हो या स्थानीय राजनीतिक प्रजातान्त्रिक शक्ति से संपन्न हो और कुछ प्राथमिक संस्थाओं जैसे स्कूल और चर्च इत्यादि की मदद कर रहा हो।"[36] यहाँ चर्च से लींडमैन का तात्पर्य धार्मिक संस्थाओं से लगाया जा सकता है। जिन्सबर्ग के अनुसार-

" एक स्थान विशेष पर कब्जा जमाकर रहनेवाले लोगों का समूह जो एक समान नियमों के पालन द्वारा परस्पर सामाजिक संबंध स्थापित करते हों, इस ईकाई को हम संप्रदाय के रूप में समझ सकते हैं।"[37]

इन परिभाषाओं में संप्रदाय की दो विशेषताएं उभरकर आती हैं। संप्रदाय को दो रूपों में देखा जा सकता है-

**1**. स्थान विशेष के आधार पर- भौगोलिक, भाषिक, वेशभूषा, खान-पान आदि।

**2**. समुदाय की भावुकता के आधार पर-चिन्तन, सोच, विचारधारा, सार्वजनिक क्रियाकलाप इत्यादि के आधार पर।

**'डिक्शनरी ऑफ एंथ्रोपॉलाजी'** में संप्रदाय का अर्थ इस प्रकार दिया गया है - " संप्रदाय- मुख्यत: संगठित तथा परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित परिवार जो किसी क्षेत्र विशेष में रहते हों और कार्य करते हों।"[38]

उपरोक्त ग्रंथों एवं विद्वानों द्वारा संप्रदाय के संबंध में दी गई परिभाषाओं के विस्तृत अध्ययन से संप्रदाय की कुछ खास विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है जिनमें प्रमुख हैं-

**1**. समूह-संप्रदाय एक समूह में रहता है। बिना समूह के संप्रदाय का अस्तित्व संभव नहीं है।

**2**. स्थान-संप्रदाय एक स्थान विशेष से जुड़ा होता है जो अपनी भौगोलिकता, वेश-भूषा, खान-पान इन सभी में अन्य संप्रदायों से कुछ अलग विशेषताएँ लिए होता है।

**3**. निश्चित नियम- एक संप्रदाय के हर सदस्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह उस संप्रदाय के नियमों, रीति-रिवाजों, क्रियाकलाप, विचारधारा में विश्वास रखे, उसे अपनाये एवं उसका अनुगामी बने।

**4**. परस्पर सहयोग- एक संप्रदाय के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने संप्रदाय के ही दूसरे सदस्यों के प्रति परस्पर सहयोग की भावना रखें। आपस में सौहार्द की भावना

बनाए रखें।

**1. 1. 4. धर्म और संप्रदाय-** धर्म और संप्रदाय का आपस में गहरा रिश्ता है। बिना धर्म के कोई संप्रदाय आज के समय में अपना अस्तित्व नहीं रखता। धर्म से पृथक किसी संप्रदाय की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्तमान समय में धर्म अपने प्रति पूर्ण समर्पण की माँग करता है और संप्रदाय इसका कट्टर संरक्षक बन गया है। हर धर्म को अपने विकास एवं अपने प्रभुत्व के लिए अनुयायियों की आवश्यकता होती है और इनका समूह ही संप्रदाय कहलाता है। संप्रदाय किसी भी धर्म का वर्चस्व स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह व्यक्ति में आस्था ही जागृत नहीं करता बल्कि व्यक्ति को धर्म के नाम पर संरक्षण देता है और अपने समूह में शामिल कर उसे सुरक्षा देता है और इसी प्रकार अपने संगठन में भी मज़बूती प्रदान करता है। हर धर्म में सेवाभाव को प्रमुखता से स्थान दिया गया है लेकिन वास्तविकता यह है कि किसी भी व्यक्ति की सेवा निश्छल होकर नहीं की जाती। उस व्यक्ति की सेवा अथवा सहायता यह देख कर होती है कि वह उस धर्म का है या नहीं। इस प्रकार लगभग हर धर्म का यह सेवाभाव छद्म ही प्रतीत होता है। यदि वह व्यक्ति अन्य धर्मावलम्बी होगा तो पहले उसे अपने धर्म का त्याग करना होगा और जिस धर्म से वह संरक्षण पाना चाहता है उसे अपनाना होगा तभी उसे संरक्षन मिल पाना संभव है। अंततः ऐसे ही धर्म को मज़बूत स्थिति प्रदान की जा सकती है।

जहाँ धर्म और संप्रदाय में कुछ समानता है, वहीं दूसरी ओर धर्म और संप्रदाय के बीच विषमता भी मौजूद है। जहाँ धर्म अपने स्वरूप में विशाल होता है वहीं संप्रदाय अपने स्वरूप में कट्टर एवं संकीर्ण होता है। एक ही धर्म के अन्तर्गत कई संप्रदाय हो सकते हैं परन्तु एक संप्रदाय का धर्म अलग-अलग नहीं हो सकता। वास्तव में धर्म अपने स्वरूप में विशाल होता है, उदार होता है लेकिन संप्रदाय अपने प्रति पूर्ण समर्पण की माँग करता है। संप्रदाय

किसी व्यक्ति द्वारा अपनी विद्वता अथवा ज्ञान को दूसरों पर थोपने के कारण जन्म लेता है और अपने अनुयायियों को कुछ भी सोचने की छूट नहीं देता। उनके विवेक को कुंद बना देता है जिसके कारण संप्रदाय में संकीर्ण मानसिकता जन्म लेने लगती है। परिणामस्वरूप वह कट्टर हो जाता है जबकि वास्तविक रूप में धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं है धर्म तो मनुष्य के विवेक को जागृत करता है। धर्म में अन्य धर्मावलम्बीयों के प्रति बैरभाव, हिंसा एवं असहिष्णुता जैसी बातें नहीं कही गयीं क्योंकि ये सब मनुष्य के सर्वागीण विकास के बाधक तत्व हैं जबकि धर्म की उत्पत्ति तो मनुष्य के विकास के लिए हुई। भले ही इसके मूल में भय रहा हो परन्तु इसी भय ने कहीं न कहीं विश्रृंखल मानव जाति को श्रृंखलाबद्ध, सुसंबद्ध रहना एवं जीवन-यापन करना सीखाया। कट्टरता तब पैदा हुई जब धर्म को हथियार बनाकर कुछ सुविधापरस्तों ने इसका उपयोग या कहें दुरुपयोग किया। अपनी सुविधा के अनुसार नियमों को तोड़ा-मरोड़ा एवं उन्हें संचालित किया। चूँकि इन सुविधापरस्तों को साधन सम्पन्न एवं प्रभुत्वशाली बनना था इसलिए इन्होनें तमाम संप्रदायों को संरक्षण प्रदान किया और अलग-अलग स्थानों पर अपनी सत्ता कायम की।

धर्म का इतिहास इस बात का गवाह है कि हर प्रभुत्वशाली धर्म ने अपने से कमतर प्रभुत्वशाली धर्म के बढ़ते वर्चस्व को रोकने के लिए रक्तपात किया और उसे धर्मयुद्ध का नाम दे दिया। कालान्तर में जब अपेक्षाकृत कमतर प्रभुत्वशाली धर्म ने अपना वर्चस्व कायम किया तो इसने भी वही बर्ताव दूसरे धर्मावलम्बियों के साथ किया जो पहले इसके साथ हुआ था। यह प्रक्रिया आज भी जारी है। परस्पर विकास की भावना किसी भी धर्म के विकास में नहीं देखी जा सकती। हर धर्म का अपना एक रक्तरंजित इतिहास रहा है। इसके मूल में संप्रदाय ही है। एक संप्रदाय अपने धर्म के प्रति इतनी आस्था रखता है कि कहीं न कहीं वह अपने चरित्र में कट्टर हो जाता है, असहिष्णु हो जाता है। परिणामस्वरूप अपने धर्म के रक्षार्थ

वह अस्त्र उठाना धर्मसम्मत मानता है। जहाँ धर्म में व्यक्ति को प्रधानता दी गई है वही एक संप्रदाय में व्यक्ति की वैयक्तिकता का कोई स्थान नहीं होता बल्कि पूरे संप्रदाय का हित ही व्यक्ति का हित है, ऐसा माना जाता है। एक व्यक्ति के बचने से ज्यादा एक संप्रदाय के अस्तित्व की रक्षा ज्यादा मायने रखती है। इस प्रकार धर्म और संप्रदाय जहाँ एक ओर अन्योन्याश्रित हैं वहीं इनमें कुछ असमानताएं भी हैं।

**1. 1. 5. संप्रदाय और सांप्रदायिकता-**संप्रदाय से ही जुड़ा एक शब्द है सांप्रदायिकता। संप्रदाय शब्द से जोड़ने का तात्पर्य यह नहीं कि सांप्रदायिकता के साथ इसका कोई सीधा संबंध है। किसी संप्रदाय का अनुयायी होने का तात्पर्य यह नहीं कि वह सांप्रदायिक है लेकिन हर सांप्रदायिक व्यक्ति किसी न किसी संप्रदाय में विश्वास जरूर रखता है। सांप्रदायिकता का तात्पर्य क्या है ? इस संबंध में **द ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी** के अनुसार-"**सांप्रदायिकता-** समाज के जातिगत संगठनों का नियम : सरकार द्वारा स्वीकृत वह सिद्धान्त जो स्वराज्यीय व्यवस्था के प्रसार के लिए प्रत्येक स्थानीय जातीय संगठन की पक्षधरता ले। इस प्रकार इस व्यवस्था का समर्थन करने वाला सांप्रदायिक कहा जायेगा।"[39]

उपरोक्त परिभाषा को अक्षरश: स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि पाश्चात्य विद्वानों ने सांप्रदायिकता का आकलन जिन परिस्थितियों के आधार पर किया है वे परिस्थितियां भारतीय परिस्थितियों के समान नहीं हैं। वहाँ इसे औद्योगिकरण के दौर में बने मजदूर संगठनों के साथ जोड़ कर देखा गया है। ऐसा वर्गीकरण पाश्चात्य देशों में स्वीकृत हो सकता है, भारत और उसके पड़ोसी देशों पर नहीं क्योंकि यहाँ धर्म और जाति के नाम पर काफी विविधता देखने को मिलती है। इस कारण सांप्रदायिकता को भारतीय या दक्षिण एशियाई परिस्थितियों के आधार पर परिभाषित करना होगा।

**प्रामाणिक हिन्दी कोश** मे सांप्रदायिकता को इस रूप में परिभाषित किया गया है- " **सांप्रदायिकता - 1.** सांप्रदायिक होने का भाव **2.** केवल अपने संप्रदाय की श्रेष्ठता और हितों का विशेष ध्यान रखना और दूसरे संप्रदायों से द्वेष रखना(कम्यूनलिज्म)।"[40] उपरोक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि जब एक व्यक्ति केवल अपने संप्रदाय अथवा समुदाय के हित-अहित के संबंध में सोचता है एवं अपने संप्रदाय या समुदाय को ही श्रेष्ठ समझता है और दूसरे संप्रदाय से द्वेष रखता है तो इस स्थिति को सांप्रदायिकता के दायरे में रखा जा सकता है।

नरेन्द्र मोहन इस संबंध में कहते हैं - "कोई मानव जब अपने आपको 'धर्म ' और 'परमात्मा' का विशेष ज्ञाता मानता है और जब वह अपने विचार, अपनी आस्था और अपनी व्याख्या तथा मत को समाज पर थोपना चाहता है तो उससे ही संप्रदाय का जन्म होता है।यह स्थिति सामान्य व्यक्ति को तथा उन्हें जो उसके अनुगामी हैं, दुराग्रही तक बना देती है।हठवादिता और अंधविश्वास का जन्म भी इसी मानसिकता के कारण होता रहा है।यह अतिप्रतिबद्धता ही समाज को रूढ़िवादी बनाती है और रूढ़ता तथा अतिवाद से सम्मोहित मन नए विचार, तर्क अथवा समाधान के लिए अपने दरवाजे बन्द कर लेता है।"[41] स्पष्ट है कि जब धर्म के अनुयायियों में श्रेष्ठताबोध का भाव आ जाता है एवं जब वे दुराग्रही बन जाते हैं तब सांप्रदायिकता जन्म लेती है क्योकि वहाँ किसी बहस या नये विचारों का कोई स्थान नहीं रहता वहाँ हठवादिता एवं अंधविश्वास अपनी जगह बना लेते हैं।

इतिहासकार बिपन चंद्र ने अपनी पुस्तक " **भारत का स्वतंत्रता संघर्ष** " में '**सांप्रदायिकता का उदय और विकास** ' नामक अध्याय में सांप्रदायिकता पर विचार प्रकट करते हुए स्पष्ट किया है-" सांप्रदायिकता या सांप्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण होते हैं और उनमें एक तारतम्य होता है।इस क्रम में सवसे पहला स्थान इस विश्वास का है

कि एक ही धर्म माननेवालों के सांसारिक हित-यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक हित-भी एक जैसे ही होते हैं।सांप्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है।इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक-राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है।वर्गों, जातीय समूहों, भाषाई-सांस्कृतिक जमायतों, राष्ट्रों या प्रांतों और राज्यों जैसी राजनीतिक-क्षेत्रीय इकाइयों के स्थान पर धर्म पर आधारित इन समुदायों को ही भारतीय समाज की बुनियादी इकाइयों के रूप में देखा जाने लगता है।ऐसा मान लिया जाता है कि भारतीय जनता धर्म पर आधारित इन समुदायों के सदस्यों के रूप में ही अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन का संचालन कर सकती है।इन विभिन्न समुदायों के अपने अलग-अलग नेता होते है, जो अपने को राष्ट्रीय क्षेत्रीय या किसी खास वर्ग का नेता बतलाते हैं।उनके बारे में माना जाता है कि ऐसा कहकर वे सिर्फ ढ़ोंग करते हैं-दरअसल तो वे महज अपने समुदाय के नेता होते हैं।उनसे ज़्यादा-से-ज़्यादा उम्मीद यही की जा सकती है कि वे सांप्रदायिक नेताओं के रूप में एकताबद्ध हों और इस तरह राष्ट्र या देश की बड़ी इकाई की सेवा करें।

सांप्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न हैं।

सांप्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या 'समुदायों' के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं।इस चरण में आकर सांप्रदायिक व्यक्ति ज़ोर देकर कहने लगता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के सांसारिक हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना ही है।"[42]

बिपन चंद्र की सांप्रदायिकता संबंधी उपरोक्त विस्तृत परिभाषा से स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता एक विचारधारा है जो धीरे-धीरे समाज में अपनी पैठ बनाकर अपनी जड़ें मज़बूत करती जाती है। अपने प्रथम चरण में सांप्रदायिकता या सांप्रदायिक विचारधारा यह मानकर चलती है कि एक धर्म में विश्वास रखनेवालों के सांसारिक हित एक जैसे होते हैं और अन्य धर्मों से उनके हित भले ही अलग हों परन्तु वे आपस में कहीं भी टकराते नहीं और न ही राष्ट्रीय हितों को क्षति पहुँचाते हैं। दूसरे चरण में ये समुदाय ऐसा मानने लगते हैं कि इनके हित अलग जरूर हैं इस कारण कभी-कभी इनमें टकराव की स्थिति आ जाती है फिर भी ये ऐसा मानकर चलते हैं कि सामान्य राष्ट्रीय हितों से उनकी संगति बैठायी जा सकती है। तीसरे चरण के अन्तर्गत ये समुदाय यह विचार प्रकट करते हैं कि इनके न केवल धार्मिक हित अलग-अलग हैं बल्कि साथ ही साथ अन्य धर्मों में विश्वास रखने वालों के साथ इनकी कोई संगति नहीं बैठायी जा सकती इसलिए वे न केवल अपने लिए अलग व्यवस्था की माँग करते हैं बल्कि अलग राष्ट्र की भी माँग कर बैठते हैं जिसके मूल में भय या घृणा विद्यमान होती है तथा भाषा, कर्म एवं आचरण के स्तर पर इसका मिजाज हिंसक होता है। प्रथम एवं दूसरे चरण की सांप्रदायिकता तीसरे चरण की सांप्रदायिकता को लगातार पुष्ट और मजबूत करती जाती है।

इतिहासकार असगर अली इंजीनियर सांप्रदायिक दंगों के सामान्य एवं विशिष्ट कारणों के विश्लेषण के क्रम में सांप्रदायिकता को परिभाषित करते हुए कहते हैं- " साम्प्रदायिकता का जन्म मुख्यत: अपने सम्प्रदाय के लोगों की धार्मिक भावनाओं के दोहन के माध्यम से राजनीतिक या आर्थिक शक्ति को नियन्त्रित करने जैसे धर्मनिरपेक्ष मुद्दों से हुआ। साम्प्रदायिकता को आमतौर पर धार्मिक संगठनों और मान्यताओं ने प्रोत्साहित नहीं किया, बल्कि राजनीतिक पार्टियों के धर्मनिरपेक्ष नेताओं ने किया।"[43] असगर अली इंजीनियर

की सांप्रदायिकता संबंधी इस परिभाषा का अध्ययन करने पर दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलकर हमारे सामने आते हैं। प्रथमत: सांप्रदायिकता के पीछे धर्म ही एकमात्र कारण है यह धारणा गलत है। दूसरी बात यह कि धर्म का इस्तेमाल एक हथियार के रूप में किया जाता है क्योंकि धर्म में विशाल जनसमुदाय को आकृष्ट करने की क्षमता होती है। स्वयं असगर अली इंजीनियर के शब्दों में कहें- " यह समझना जरूरी है कि साम्प्रदायिकता आधुनिक काल की परिघटना है और इसका मूल कारण राजनीतिक सत्ता व सरकारी नौकरियों में हिस्सेदारी है, न कि धर्म। धर्म इसका मूल कारण नहीं है, लेकिन लोगों को एकत्रित करने की क्षमता के कारण धर्म का हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है।"[44] दूसरी बात जो गौर करने लायक है वह यह कि ये सांप्रदायिकतावादी धर्म को मुद्दा बनाकर दंगे-फसाद करवाते हैं जबकि उनकी मंशा राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों को अपनी मुट्ठी में लेना है।

कुछ ऐसे ही विचार बलराज पुरी ने भी सांप्रदायिकता पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है-" साधारणत: सांप्रदायिकता का तात्पर्य हम किसी समुदाय द्वारा उसकी धार्मिक असहिष्णुता के रूप में देखते हैं। लगभग सभी सांप्रदायिक विवाद, विभिन्न समुदायों में नौकरी, आर्थिक अवसरों एवं राजनीतिक शक्ति के असमान वितरण के कारण उत्पन्न असंतोष से होता है। ऐसा बहुत कम हुआ है जब सांप्रदायिक विवादों का कारण धार्मिक रहा हो।"[45]

कथाकार मुंशी प्रेमचन्द के विचार इस संबंध में द्रष्टव्य हैं, " हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखंड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं, जो साम्प्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं।---

इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सके।-- दोनो ही साम्प्रदायिक संस्थाएं मध्यम वर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों और पद-लोलुपों की हैं।उनका कार्य अपने लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें।साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं।"[46] मुंशी प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता को संस्कृति का पर्याय बनाकर ढोने वालों एवं संस्कृति के नाम पर सांप्रदायिकता का प्रचार करने वालों का विरोध किया है।संस्कृति की दुहाई देने वालों का न तो साधारण जनता के कष्टों के साथ कुछ लेना-देना है और न ही राष्ट्र के निर्माण के साथ उनकी प्रतिबद्धता।उनका एक मात्र लक्ष्य है इन मसलों को भड़काकर अपने राजनीतिक एवं आर्थिक हित साधना।

उपरोक्त सभी विद्वानों के सांप्रदायिकता संबंधी विचारों से अवगत होने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि लगभग सभी चिन्तकों ने सांप्रदायिकता को केवल धर्म के घेरे में रखकर नहीं देखा है बल्कि उसके आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य पहलूओं को भी ध्यान में रखा है।सांप्रदायिकता किसी एक कारण की वजह से नहीं बढ़ती बल्कि ये सभी कारण मिल-जुलकर ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं जिनके कारण सांप्रदायिकता फलती-फूलती है और हिंसा तक पहुँच जाती है।

जब दो विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच यह विचार उत्पन्न हों कि न केवल उनके धर्म अलग हैं, उनकी पूजा पद्धतियाँ अलग हैं, उनके आचार-विचार अलग हैं, उनके त्योहार अलग हैं बल्कि उनकी प्राथमिकताएं भी अलग हैं एवं उनके बीच किसी भी प्रकार की समानता नहीं है।जिस कारण वे या तो पृथक व्यवस्था की माँग करते हैं या फिर वे राष्ट्र की मुख्यधारा से स्वयं को अलग रखते हैं तब ऐसी विचारधारा को धार्मिक सांप्रदायिकता की

कोटि में रखा जा सकता है। धर्म के कारण सांप्रदायिकता फैलती है ऐसा सोचना गलत है परंतु सांप्रदायिकतावादी धर्म का उपयोग एक हथियार के रूप में करते हैं।

इतिहासकार बिपन चंद्र के अनुसार," धर्म और धार्मिक मतभेद साम्प्रदायिकता के आधार नही हैं और वे इसके लिए जिम्मेदार भी नहीं हैं। भारत जैसे बहुधर्मी देश में जहां धार्मिक मतभेद होना स्वाभाविक है, इन मतभेदों या सांप्रदायिकता को राजनीतिक संगठन और राजनीतिक कदमों का कारण मानना न निहित है और न अनिवार्य। यह भी गलत है कि सांप्रदायिकों का उद्देश्य अपने धर्म की रक्षा और उसका विकास करना होता है। वे न धर्म से प्रेरित होते हैं और न धर्म उनकी सांप्रदायिक राजनीति का साध्य होता है। दूसरे शब्दों में धर्म सांप्रदायिकता का अंतर्निहित कारण नहीं है।"[47] परंतु सांप्रदायिकतावादी आपस में वैमनस्य उत्पन्न करने के लिए धर्म की आड़ लेते हैं क्योंकि धर्म में लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता होती है जिससे सांप्रदायिकता को जनसंख्या के एक बड़े हिस्से में फैलाया जा सकता है।

वर्तमान समय में धर्म अपनी सहिष्णुता को त्याग कर इतना अधिक कट्टर बन चुका है कि यह मनुष्य की स्वतंत्र वैचारिकता को भी बाधित करता है। धर्म अपने अनुयायियों से अपने प्रति पूर्ण समर्पण की माँग करता है जहाँ किसी भी नवीन विचार का कोई स्थान नहीं होता है। जिसके कारण उस धर्म के अनुयायियों में असहिष्णुता बढ़ती जाती है। इसीलिए बिपन चंद्र कहते हैं-" हालांकि धर्म का रास्ता सांप्रदायिकता की ओर नहीं ले जाता मगर धार्मिक मानसिक संकीर्णता, वैचारिक अड़ियलपन और सुधारवाद ऐसी परिस्थितियां पैदा करते हैं जिनका अंत सांप्रदायिकता और उसकी राजनीति के स्वीकार में हो सकता है।"[48] तमाम समस्याएं तब खड़ी हो जाती हैं जब राजनीति के साथ धर्म का घालमेल हो जाता है।

हालांकि सांप्रदायिकता के प्राथमिक कारणों में धर्म को देखने की परम्परा रही है परंतु उसके पीछे और भी कई कारण रहे हैं जिनमें एक प्रमुख भूमिका आर्थिक कारण भी अदा करता है।अर्थ की सांप्रदायिकता में सीधे-सीधे क्या भूमिका है यह बता पाना थोड़ा मुश्किल है परन्तु सांप्रदायिकता के फैलने में आर्थिक कारण की भी भूमिका है।जब किसी संप्रदाय में यह विचार पनपने लगते हैं कि उस संप्रदाय विशेष के सदस्यों को जान-बूझकर निशाना बनाया जा रहा है एवं षड़यंत्र रचकर उसे देश के संसाधनों से वंचित रखा जा रहा है साथ ही उसके हिस्से के संसाधनों पर किसी खास संप्रदाय ने अपना हक जमा रखा है।इस प्रकार के विचारों का जन्म दो संप्रदायों के बीच आपस में वैमनस्य खड़ा करता है जो धीरे-धीरे कट्टरता का रूप धारण कर लेता है।

दरअसल सांप्रदायिकता केवल संसाधनों के समान बंटवारे के अभाव के कारण पनपती है ऐसा नहीं है।सांप्रदायिकता संसाधनों पर अधिक से अधिक मालिकाना हक जमाने की होड़ का परिणाम है।चाहे वह हिंदू सांप्रदायिकतावादी हो या मुस्लिम सांप्रदायिकतावादी दोनो की मंशा एक सी होती है।मुंशी प्रेमचंद के विचार इस संबंध में द्रष्टव्य हैं- " दोनों ही सांप्रदायिक संस्थायें मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों और पदलोलुपों की हैं।उनका कार्य क्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक एवं व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें।साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं।"[49] सांप्रदायिकतावादी तत्व अपने-अपने समूहों के सदस्यों की भावनाओं को यह कहकर भड़काते हैं कि उनके प्रतिद्वंदी संप्रदाय के लोगों ने अपने आर्थिक हितों के कारण इन लोगों को छला, संसाधनों पर एकाधिकार बनाये रखा एवं इनके संप्रदाय के लोगों को विकसित होने का मौका नहीं दिया।

इस संबंध मे इतिहासकार असगर अली इंजीनियर के विचार ज्यादा मददगार हो सकते हैं। वे कहते हैं-" असल में यह ध्यान रखना जरूरी है कि साम्प्रदायिकतावादी समस्त समुदाय और उसके हितों को एक-रूप मानते हैं और अपने हितों को ही समस्त समुदाय के हितों के तौर पर पेश करते हैं। इसका विश्लेषण करके इसकी सच्चाई परखने की जरूरत है। कोई भी धार्मिक, सांस्कृतिक या भाषायी समुदाय कभी भी इतना एक-रूप नहीं रहा जितना कि साम्प्रदायिकतावादी सोचते हैं और प्रस्तुत करते हैं। सभी समुदाय ऊपर से नीचे और समानान्तर रूप से बंटे हुए हैं।"[50] स्पष्ट है कि सांप्रदायिकतावादी दो संप्रदायों के बीच वैमनस्य उन संप्रदायों के बीच के अन्तर के आधार पर खड़ा करते हैं। सत्य यह है कि दो समुदायों के बीच शत-प्रतिशत समानता हो ही नहीं सकती। हर सांप्रदायिकतावादी अपने हितों को पूरे समुदाय का हित बता कर या तो अपने हित साधता है या फिर भविष्य में अपने हित साध सके इसकी चेष्टा करता है। जिसके हित सध रहे हैं वह उन्हे बचा कर रखना चाहता है और जो अपने हित नहीं साध पाता वह अपने समुदाय की जातीय भावनाओं को भड़काता है। अक्सर ऐसे आरोप अल्पसंख्यक समुदाय के सांप्रदायिकतावादी बहुसंख्यक समुदाय के लोगों पर लगाते हैं। वहीं बहुसंख्यक समुदाय अल्पसंख्यक समुदाय से भयभीत रहता है कि अगर कहीं इनका विकास हो गया तो देश के संसाधनों पर ये हक जमा बैठेंगे जिसका खामियाज़ा बहुसंख्यक समुदाय के लोगों को उठाना पड़ेगा। दोनों ही संप्रदाय के सांप्रदायिकतावादी ऐसे तर्कों को गढ़कर लोगों को भड़काते हैं। इसे केवल आर्थिक मुद्दा न रखकर धार्मिक रंग दे दिया जाता है। अल्पसंख्यक यह कहकर लोगों को भड़काते है कि उनके संप्रदाय को अन्य धर्म के अनुयायी होने के कारण संसाधनों से वंचित रखा जा रहा है वहीं बहुसंख्यक यह कहकर अपने समुदाय के लोगों को भड़काते हैं कि विधर्मीयों का यदि वर्चस्व कायम हो गया तो इसका खामियाजा उन्हें अपने धर्म के पददलन के मूल्य पर चुकाना

होगा। परिणामस्वरूप इनके बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वर्तमान समय की सांप्रदायिक परिस्थितियों पर यदि ध्यान दें तो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सांप्रदायिकता के लिए आर्थिक कारण धार्मिक कारणों के मुकाबले में ज्यादा जिम्मेदार हैं। धर्म तो केवल एक हथियार है।

वर्तमान समय की परिस्थितियों का आकलन करने पर यह स्वत: प्रमाणित हो जाता है कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सांप्रदायिकता के मूल में राजनीतिक कारण भी मौजूद रहे हैं। विभिन्न राजनीतिक पार्टियां अपने हितों को साधने के लिए लोगों को भड़काती हैं। इसके लिए ये पार्टियां लोगों की धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल हथियार के रूप में करतीं हैं। कोई पार्टी स्वयं को अल्पसंख्यकों का पार्टी घोषित करती है वहीं दूसरी पार्टी स्वयं को बहुसंख्यकों की पार्टी के रूप में घोषित करती है। ऐसी मानसिकता ही वह उपजाऊ ज़मीन है जिस पर सांप्रदायिक तत्व अपनी फसल बोते हैं एवं काटते हैं। धर्म एवं संप्रदाय इन नेताओं के लिए वे संसाधन हैं जिनका उपयोग वे हथियार के रूप में करते हैं। अलग-अलग धर्म, अलग-अलग रीति-रिवाज, अलग-अलग संस्कृतियां कुल मिलाकर यह सब इन राजनेताओं के लिए वे औजार हैं जिनके प्रयोग से सांप्रदायिकतावादी समाज को विभाजित कर पाने में सफल होते हैं।

बिपन चंद्र के विचार इस संबंध में द्रष्टव्य हैं- " समाज को विचारधाराओं के जरिये सांप्रदायिक बनाया जाता है, कोई थानेदार या तहसीलदार इसके लिए सरकारी आदेश लेकर नहीं आते। लोकतंत्र में संविधान की सहमति के बावजूद सांप्रदायिक दलों और संगठनों पर प्रतिबंध लगाना आसान नहीं है क्योंकि वे एलानिया तौर पर अपने आप को सांप्रदायिक नहीं कहते लेकिन भीतर से आचरण वही होता है। उन्हें राजनीतिक तौर पर पनपने से और सत्ता में आने से भी इसलिए नहीं रोका जा सकता क्योंकि लोगों को भी सांप्रदायिकता से भर

दिया गया है और वे उन्हें वोट दे दें। सच्चाई यह है कि मूलत: धर्मनिरपेक्ष कही जाने वाली पार्टियां भी उस समय ड़ोल जाती हैं जब उन्हें सांप्रदायिक विचारधारा का और उसके नतीजों का सामना करना पड़ता है।"[51] स्पष्ट है कि नेतागण अपने राजनीतिक फायदों के लिए स्वयं को जनता का पक्षधर बताकर जनता को छलते हैं। साधारण व्यक्ति के मन में धर्म का भय पैदा करके वे ऐसा करते हैं। साधारण व्यक्ति के लिए धर्म वह महत्व रखता है कि उसे किसी परिभाषा के दायरे में रखा ही नहीं जा सकता, जो निर्विकार है, जो किसी भी बहस से बाहर की चीज है।

आज के समय की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि राजनीति ने धर्म से एवं धर्म ने राजनीति से अपना नाता बना रखा है लेकिन यदि गौर से देखें तो राजनीति और धर्म का खेल काफी पुराना है। सांप्रदायिकता फैलाने वाले तत्व हमेशा यह कहते है कि अमुक धर्म में विश्वास रखने वाले हमारे शत्रु हैं लेकिन क्या एक ही धर्म के अनुयायियों में वर्चस्व के लिए संघर्ष नहीं होता ? यदि भारत के मध्यकालीन इतिहास की ओर ध्यान दें तो मध्यकाल से ऐसे कई उदाहरण निकाल कर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप हुमायूँ और शेरशाह के बीच हुए युद्धों को लिया जा सकता है। इसे इस रूप में प्रस्तुत न करके मंगोल एवं अफ़गानों के बीच के युद्ध के रूप में देखा जाना चाहिए। दोनों ही इस्लाम के अनुयायी थे परन्तु दोनों के बीच सत्ता पर वर्चस्व कायम करने के लिए होड़ लगी थी जिसे धर्म के साथ किसी भी रूप में जोड़ कर देखना गलत है।

आधुनिक भारत के इतिहास से भी उदाहरण के तौर पर कई घटनाओं को ले सकते हैं जिनमे से एक बड़ी घटना है भारत और पाकिस्ताान का विभाजन। यह विभाजन सर्वप्रथम भाषा के आधार पर खड़ा किया गया और बाद में धर्म के आधार पर इस विभाजन ने अपने पैर पसारे। औपनिवेशिक सत्ता ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए भारत के दो

महान धर्मों के अनुयायियों के बीच धर्म को मुद्दा बनाकर वैमनस्य खड़ा किया। आगे चलकर इस मनमुटाव ने विशाल आकार धारण कर लिया। अन्ततः भारत को इसका खामियाजा विभाजन के रूप में भुगतना पड़ा। यह विभाजन धर्म को केन्द्र में रखकर किया गया था परन्तु इसके पीछे मंशा राजनीतिक वर्चस्व एवं शक्ति हासिल करने की थी। आज के समय में भी विभिन्न राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर की पार्टीयां अपने राजनीतिक वर्चस्व को कायम करने के लिए धर्म का सहारा लेती हैं क्योंकि धर्म की पैठ समाज में सबसे गहरी है। कोई अल्पसंख्यक समुदाय का रहनुमा है तो कोई बहुसंख्यक समुदाय का और कोई दलितों का रहनुमा है। यहाँ तक कि वे पार्टियां जो घोषित रूप से किसी भी धर्म के साथ नहीं हैं वे भी किसी भी धर्म की आलोचना करने से बचना चाहती हैं क्योंकि ऐसा करने से किसी खास वर्ग की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंच सकती है और जिसका खामियाजा उस पार्टी को सत्ता खोकर चुकाना पड़ सकता है।

पूरे विश्व में अलग-अलग संस्कृतियां हैं। सांस्कृतिक विविधता भी कई बार सांप्रदायिकता का रूप ले लेती है। संस्कृति के तहत भाषा, वर्ण, जाति जैसी चीजें आती हैं। स्वयं की संस्कृति को श्रेष्ठ समझना एवं दूसरे की संस्कृति को हेय दृष्टि से देखने के कारण भी सांप्रदायिकता जन्म लेती है।

सांप्रदायिकता के भाषायी आधार भी हैं। जब समाज का कोई खास वर्ग यह मान कर चलता है कि भाषायी कारणों से वह पिछड़ा हुआ है। साथ ही विकसित समाज में बराबर की हिस्सेदारी के लिए उसकी भाषा का विकास होना ज्यादा जरूरी है। अपनी भाषा के विकास के लिए संवैधानिक संरक्षण की माँग, अलग व्यवस्था की माँग, उसके लिए हिंसा का रास्ता अपनाना आदि सांप्रदायिकता की विचारधारा की ओर बढ़ते हुए कदम हैं। सवाल उठता है कि भाषा से जुड़े वे कौन से तत्व हैं जिनके कारण लोग हिंसा पर उतर आते हैं ? दरअसल

भाषा किसी जाति या जनजाति विशेष के लिए उसकी पहचान होती है। भाषा को भारत में माँ का दर्जा दिया गया है। भाषा भावनाओं की अभिव्यक्ति है। भाषा में स्थान विशेष की सुगंध, वहाँ का जीवन, संस्कृति झलकती है। कुल मिलाकर यदि देखें तो भाषा की ये विशेषताएं मनुष्य की भावनाओं से जुड़ी हुई होती है या फिर यह कहें कि भाषा की ये विशेषताएं उसकी पहचान हैं। यही वे तत्व हैं जिसके कारण किसी खास समुदाय में सांप्रदायिक विचारधारा पनपने लगती है।

जब इन विचारों का जन्म होता है तब न धार्मिक मतभेद रहते हैं न ही राजनीतिक। हर वर्ग का, हर समुदाय का, हर धर्म का व्यक्ति एकजुट होकर अपनी भाषा की सुरक्षा के लिए संघर्ष करने को तैयार हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भारत विभाजन के तत्काल बाद की परिस्थितियों को लें। जहाँ एक तरफ भारत में ही राष्ट्रभाषा के मुद्दे पर कई मतभेद थे, वहीं भारत से ही अलग हुए दो हिस्सों पूर्वी पाकिस्तान एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच भाषा विवाद के कारण उनकी संप्रभुता खतरे में पड़ चुकी थी। हालांकि पूर्वी पाकिस्तान एवं पश्चिमी पाकिस्तान दोनों ही इस्लामी राष्ट्र थे और धर्म के नाम पर वहाँ कोई मतभेद न था। मतभेद था राष्ट्रभाषा के रूप में उर्दू एवं बांग्ला के बीच। पश्चिमी पाकिस्तान के शासक जहाँ राष्ट्रभाषा के रूप में उर्दू के हिमायती थे वहीं पूर्वी पाकिस्तान की रग-रग में बांग्ला भाषा बसी थी। रवीन्द्र एवं नजरूल के गीतों एवं कविताओं से पश्चिमी पाकिस्तान का कोना-कोना प्रभावित था जिसे एक झटके में मिटा पाना मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन था। इस कारण पूर्वी पाकिस्तान एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। एक ओर पाकिस्तानी सरकार के नुमाइंदे थे तो दूसरी तरफ पूर्वी पाकिस्तान का जनसाधारण था जो अपनी मातृभूमि को मुक्त करने के लिए मुक्ति संग्राम में कूद पड़ा था। अन्ततः पूर्वी पाकिस्तान ने स्वतंत्रता हासिल की जिसके लिए उसे बड़ा ख़ामियाजा भुगतना पड़ा परन्तु भाषायी

स्वतंत्रता पाने के लिए लोगों ने अपना सर्वस्व त्याग देना उचित समझा। आज़ाद पूर्वी पाकिस्तान का नाम बदल कर बांग्लादेश रखा दिया गया जो यह प्रमाणित करता है कि पश्चिमी पाकिस्तान से मतभेद अन्य कारणों पर भी रहे होंगे परन्तु मुख्य कारण भाषायी ही था।

स्वयं भारत का विभाजन भले ही कालान्तर में धर्म को आधार बनाकर हुआ होगा परन्तु आपसी वैमनस्य का वटवृक्ष ऐसे ही तैयार नहीं हुआ बल्कि इसके बीज भाषायी वैमनस्य खड़े करके ही बोये गये थे। औपनिवेशिक सत्ता ने जिस विभाजनकारी भाषा नीति का निर्माण किया था उसी का परिणाम था हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच मनमुटाव की परिस्थितियां। इस भाषा नीति ने भारत विभाजन के लिए मीठे जहर का कार्य किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे भारत की सांस्कृतिक एकता की जड़ें खोखली बनती गयीं। भारत को विभाजन की त्रासदी का सामना करना पड़ा। वर्तमान समय में भारत फिर इसी प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है। जहाँ एक ओर राष्ट्रभाषा के लिए सर्वसम्मति नहीं बन पाती है वहीं दूसरी ओर विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों को संवैधानिक स्वीकृति मिले इसके लिए आन्दोलन जारी हैं। पश्चिम बंगाल एवं असम से अलग कामतापुरी राज्य के गठन की मांग भाषायी आधार पर ही है। दूसरी ओर अलग तेलंगाना राज्य के लिए आंध्र प्रदेश में जारी आंदोलन का भी मुख्य आधार भाषा ही है। जिस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि भारत विभाजन की नयी राहों पर चल पड़ा है और 'अनेकता में एकता' जैसे कथन हास्यास्पद लगने लगते हैं।

सांप्रदायिकता का एक भेद वर्ण के रूप में भी है। वर्ण को आधार बनाकर किसी प्रकार का भेदभाव न केवल गलत है बल्कि अमानवीय है। समाज के किसी एक खास वर्ग या समुदाय के साथ भेदभाव बरतना, उसे संसाधनों एवं सुविधाओं से अलग रखना, देश

की मुख्य धारा में शामिल न करना और इन सबके बावजूद उन्हें अपना देशवासी मानना कहां तक उचित है ? किसी प्रजाति के साथ इस लिए सौतेला व्यवहार करना क्योंकि वह श्याम वर्ण का है इससे ज़्यादा शर्मनाक मानव जाति के लिए और कुछ हो ही नहीं सकता।

विश्व के इतिहास पर यदि ध्यान दें तो ऐसे कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। दक्षिण अफ्रिका की जनता का लंबा इतिहास रहा है। वर्षों तक गोरों एवं कालों के बीच संघर्ष रहा है। दक्षिण अफ्रिका को उपनिवेश बनाकर ब्रिटेन उसका शोषण करता रहा। अलगाव खड़े करने के लिए एवं अश्वेतों को उनके ही निर्धारित स्थानों पर सीमित रखने के लिए कड़े से कड़े कानून बनाये गये। भूमि संबंधी ऐसे कानून बनाये गये जिसमें दक्षिण अफ्रिका की कुल जमीन के **80** प्रतिशत से भी अधिक जमीन पर श्वेत अल्पसंख्यकों का अधिकार था। इसके अलावा कालान्तर में और भी अधिक से अधिक कड़े कानून बनाये गये जिनमे अलग-अलग शिक्षा का प्रवधान जिसमें गुणात्मक स्तर पर अंतर होना, वर्ण विशेष या प्रजाति विशेष के लोगों को विशेष प्रकार की नौकरियों में प्रवेश पर रोक लगाना, अश्वेत श्रमिक संगठनों के अधिकारों पर प्रतिबंध लगाना एवं देश की सरकार में अश्वेतों के प्रवेश पर रोक लगाने जैसे कई कानून बनाये गये। इन्हें लागू करने के लिए अत्याचार, तरह-तरह से प्रताड़ित करने जैसी घटनाएं आम बात थी। यहाँ तक कि उन्हें मौत के घाट भी उतार दिया जाता था। इस अलगाववादी विचारधारा ने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं शैक्षणिक जीवन को भी प्रभावित कर रखा था। स्वतंत्र विचारों के आदान-प्रदान पर भी रोक लगाकर रखी गयी थी।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगायी गयी रोक सन् **1950** में साम्यवादी विचारधारा पर लगायी गयी रोक का परिणाम था। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि इस विचारधारा के संवाहकों ने दक्षिण अफ्रिका में औद्योगिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा

आर्थिक बदलाव लाने शुरू कर दिये थे। साथ ही श्वेत एवं अश्वेतों के बीच आपसी सद्‌भाव एवं सौहार्द भी बनने लगे थे जो किसी बदलाव या क्रांति का सूचक था। इस कारण जिन संगठनों को मुख्य रूप से प्रतिबंधित किया गया उनमे दक्षिण अफ्रीकी मार्क्सवादी पार्टी, अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी पार्टियां प्रमुख थीं।

सन् **1950** से लेकर **1990** तक लगभग **2000** दक्षिण अफ्रिकी लोगों पर प्रतिबंध लगाया गया। किसी को मार्क्सवादी या आतंकवादी कहकर प्रतिबंध लगाया तो किसी को सुरक्षा और जनसाधारण मे व्यवस्था बनाये रखने के नज़रिये से खतरा बताकर प्रतिबंधित किया गया। सन् **1986** में लगातार वैश्विक आलोचना झेलने के कारण प्रतिबंध के इन कानूनों को हटाना पड़ा लेकिन फिर भी अश्वेत अफ्रिकियों के लिए श्वेत अफ्रिकियों के निर्धारित क्षेत्रों में जाना वर्जित ही था। सन् **1990** के बाद विरोध का दौर और भी तेज़ होने लगा। सन् **1991** में संसद ने सभी कानूनों को वापस ले लिया एवं सभी प्रतिबंधों के समाप्त कर निर्वासितों को वापस अपने वतन लौटने की अनुमति दी। साथ ही कई राजनैतिक कैदियों को भी मुक्त किया जिनमें अफ्रिकी राष्ट्रीय कांग्रेस के कैदी नेता नेल्सन मंडेला भी थे जो आगे चलकर सच्चे रूप में प्रजातांत्रिक ढंग से चुने गये दक्षिण अफ्रिका के प्रथम राष्ट्रपति थे।

ब्रिटेन द्वारा शासित जितने भी उपनिवेश रहे हैं वहाँ यह देखा गया है कि अश्वेतों के प्रति शासकों में असहिष्णुता का भाव पाया गया है। अमेरिका का हाल भी कुछ ऐसा ही रहा है वरना यूं ही बराक ओबामा के राष्ट्रपति के चुनाव में जीतने पर अश्वेतों की आँखें छलछला न उठतीं। आज भी अप्रवासी भारतीयों को 'ब्लडी इंडियन्स' कहकर पुकारा जाता है। हाल ही में आस्ट्रेलिया में भारतीय मूल के छात्रों पर हो रहे हमले इसके ताज़ा प्रमाण हैं। जहाँ इसका कारण वर्ण है वहीं इसके आर्थिक कारण भी रहे हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जो उच्च स्तरीय शिक्षा ग्रहण कर विदेशों में ही कहीं

जीविकोपार्जन के लिये जाना चाहता है। विदेशों में नौकरी करने के कारण उस देश के निवासियों के बीच यह धारणा बलवति होती जा रही है कि कहीं न कहीं भारतीयों का उनके देश के संसाधनों पर अधिकार बढ़ता ही जा रहा है। इस कारण वर्ण के आधार पर भारतीयों को लगातार दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह देखा जा सकता है कि वर्तमान समय में धर्म अपना मूल मर्म ही खो चुका है। एक समय था जब धर्म की स्थापना समाज में सुव्यवस्था कायम करने की गई थी जिसके मूल में कुछ अज्ञानता भी मौजूद थी लेकिन धीरे-धीरे धर्म कुछ मौकापरस्त और स्वार्थी तत्वों के हाथ में चला गया जिसका परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर दोहन और शोषण की संस्कृति पनपने लगी। एक समय था जब धार्मिक चिंतन हुआ करते थे लेकिन आज के समय में ऐसे किसी चिंतन की गुंजाइश नहीं बची है। मानव मात्र का सम्मान करना, हर धर्म का आदर करने जैसी बातें कमोबेश हर धर्म में कही गयी है लेकिन व्यवहार के स्तर पर ऐसा देखने को नहीं मिलता। धर्म ने संकीर्ण रास्ता अपनाते हुए संप्रदायों को जन्म दिया है जिसका परिणाम यह निकला है कि दिनोंदिन असहिष्णुता बढ़ती गई है। स्वयं को श्रेष्ठ समझना एवं दूसरों को हेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति ने सांप्रदायिकता की विचारधारा को जन्म दिया है। अपनी तुच्छ सी लालसाओं को पूरा करने के लालच में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करनेवाले बड़ी से बड़ी चीजों की बलि चढ़ाने से परहेज नहीं करते। यह हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासद स्थिति है। अब तक सांप्रदायिकता की समस्या के मूल में धर्म को माना जाता था। सर्वप्रथम सांप्रदायिकता की समस्या धार्मिक कारणों से ही पनपी भी थी। दरअसल धर्म तो एक जरिया था जिसके माध्यम से स्वार्थी तत्वों ने अपने स्वार्थों की सिद्धि की। कालान्तर में सांप्रदायिकता की समस्या ने दूसरे रूप भी धारण किये। आज के समाज में सांप्रदायिकता की विभिन्न कोटियां मौजूद हैं। जहाँ इनमें कुछ अंतर है वहीं

ये तमाम कोटियां मिलकर सांप्रदायिकता की विचारधारा को और भी पुष्ट करतीं हैं। समाज में विभाजन के कई कारण मौजूद हैं परन्तु इन कई कारणों से विभाजन हो ही जाय यह आावश्यक नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी विशेष क्षेत्र के निवासियों के बीच धर्म, जाति, भाषा इत्यादि के आधार पर आपसी मनमुटाव हो लेकिन अपने क्षेत्र विशेष के विकास के मुद्दे पर उनमें एका हो। ऐसे में अपने धर्म, जाति, भाषा, वर्ण आदि को भुलाकर अलग राज्य की मांग तथा इसके लिए मरने-मारने पर भी उतारू हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य है कि सांप्रदायिकता एक विचारधारा है। सांप्रदायिक विचारधारा उन लोगों को अपने चंगुल में तो फांसती ही है जो उस विचारधारा में विश्वास करते हैं लेकिन उन लोगों को भी उस विचारधारा में बलात् विश्वास रखने के लिए भी बाध्य करती है जो इस विभाजनकारी मानसिकता के खिलाफ हैं। इसके कारण जहाँ एक ओर जीविकोपार्जन से जुड़े हैं। वहीं दूसरी ओर जीवन और मृत्यु का भय भी इसका मुख्य कारण है।

## 1. 2. धर्म, सांप्रदायिकता और समाज

आज के दौर की सबसे बड़ी समस्या यह है कि धर्म पर विचार करनेवाले दो खेमों में बँट गये हैं। एक खेमा ऐसा है जो यह समझता है कि धर्म की आलोचना करना ईश्वर की तौहीन करना है इसलिए वह धर्म को किसी भी बहस से परे की चीज़ समझता है। दूसरा खेमा ऐसा है जो धर्म पर बहस करना चाहता ही नहीं क्योंकि उसका मानना है कि यदि वह धर्म पर बहस करता है तो उसे या तो धार्मिक मान लिया जायेगा या फिर सांप्रदायिक। सत्य यह है कि धर्म पर बात करना या धर्म में विश्वास रखने का मतलब सांप्रदायिक होना नहीं है। धर्म के नाम पर जब हठवादिता, कट्टरता स्थान ग्रहण कर लेती है तब उसमें विकृति आ जाती है। जब वह मनुष्य को पूर्णरूप से अपना अनुगामी बना लेता है एवं दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णु बना देता है तब उसमे सांप्रदायिक विचारधारा का समावेश हो जाता है।

इसके जड़ों की तलाश आधुनिक युग में ही करनी होगी मुख्य रूप से 1857 के गदर के बाद से। प्रसिद्ध इतिहासकार असगर अली इंजीनियर इस संबंध में कहते हैं, " यह समझना जरूरी है कि साम्प्रदायिकता आधुनिक काल की परिघटना है और इसका मूल कारण राजनीतिक सत्ता व सरकारी नौकरियों में हिस्सेदारी है, न कि धर्म।"[52] धीरे-धीरे सांप्रदायिकता भारतीय समाज में भयानक रूप ग्रहण करती गई। अब एक क्षण के लिए ऐसा महसूस होने लगता है कि सांप्रदायिकता का खात्मा ही नहीं होगा।

समाज विज्ञान ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिभाषित किया है। धर्म यदि समाज का एक प्रमुख हिस्सा है तो समाज भी धर्म का एक प्रमुख हिस्सा है। दोनों एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। समाज में धर्म की आवश्यकता यदि इसलिए है कि इसके माध्यम से समाज में व्यवस्था बनायी जा सकती है या बनायी जाती है। वहीं दूसरी ओर समाज धर्म के लिए वह स्त्रोत है जिससे धर्म को खाद-पानी मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज के माध्यम से धर्म अपने लिए अनुयायियों को प्राप्त करता है। साथ ही अधिक से अधिक अनुयायी बनाने के लिए, अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए धर्म को समाज के उन व्यक्तियों के साथ जुड़ना पड़ता है जिनका समाज पर दबदबा हो।

समस्याएं तब उत्पन्न हुईं जब धर्म ने संस्था का रूप लिया। जैसे ही धर्म ने संस्था का रूप लिया वहाँ व्यक्ति एवं उसके स्वतंत्र विचारों के लिए कोई भी स्थान नहीं बचा। जिस कारण धर्म जिसकी स्थापना समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए की गयी थी वह धर्म स्वयं ही समाज में अव्यवस्था फैलाने लगा। दूसरे धर्मों के प्रति सद्भाव के अपने मूल मंत्र से चूकने लगा। जिस कारण धर्म के मूल स्वभाव में भी परिवर्तन आ गया। सद्भाव के स्थान पर कट्टरता ने स्थान ग्रहण कर लिया। धर्म ने अपने प्रति पूर्ण समर्पण की मांग की। जिस कारण मनुष्य ने अपने विवेक को भी खो दिया। प्रसिद्ध विद्वान विमल थोरात के विचार

इस संबंध में द्रष्टव्य है-" एक धर्म, एक सम्प्रदाय, एक गोत्र में रक्त की शुद्धता की पौराणिक परम्परा को प्रमुखता देकर जनमानस में अलगाववाद, जातिवाद और सम्प्रदाय की भावना को उकसाया जाता है।"[53]

समाज में धर्म द्वारा स्थापित मान्यताओं का ही पालन किया जाता है। समाज में श्रेष्ठ मानव के लिए धर्म द्वारा कुछ मूल्यों का निर्धारण किया गया है। चाहे वह वैयक्तिक स्तर पर हो या सामूहिक स्तर पर हर एक के लिए समाज में श्रेष्ठ मानव के लिए मूल्य स्थापित किये गये। इन मूल्यों का निर्धारण समाज में व्यवस्था बनाने के लिए किया गया। इन नियमों एवं नीतियों का निर्धारण समाज में मनुष्य के व्यवहार को निर्धारित करने के लिए किया गया। जो इन नियमों का पालन करेगा वही समाज में स्थान पाने योग्य है और जो इन नियमों का उल्लंघन करेगा उसे समाज से निकाल दिया जायेगा। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ वह समाज में अव्यवस्था फैला सकता है वहीं दूसरी ओर धर्म की एकछत्र सत्ता को चुनौती भी दे सकता है।

धर्म जब संस्थागत रूप धारण कर लेता है तब उसमें विकृति आ जाती है। जब दो संस्कृतियां आपस में मिलती हैं तो वे परस्पर मिलन से समृद्ध भी होती हैं। उदाहरण-स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि जब इस्लाम का भारत में आगमन हुआ तो मुख्य रूप में वे आक्रमणकारी ही थे लेकिन जब उन्होने हिन्दुस्तान को अपना वतन समझ कर अपनाया तो यहाँ के मुख्य धर्म (हिन्दू धर्म) को भी आदर का स्थान दिया। हिन्दुस्तान पर आक्रमण इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए नहीं किया गया था। हिन्दुस्तान पर आक्रमण तत्कालीन शहंशाहों की महत्वाकांक्षाओं का परिणाम था। जिसके साथ साधारण जनता का कुछ भी लेना-देना न था। वह तो आम हिन्दू जनता के साथ मिल-जुलकर रहा करती थी बिल्कुल गंगा-जमुना की तरह। निश्चित रूप से जब ये दोनों धर्मावलम्बी एक साथ जीवन यापन कर रहे थे तो एक-

दूसरे की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। हिन्दू संस्कृति में मुस्लिम संस्कृति से कई चीजें आयातित कर ली गई हैं और वे कुछ इस प्रकार से आपस में घुल-मिल गयीं हैं कि अब इन्हें अलग कर पाना तो दूर की बात है इनकी पहचान कर पाना भी कठिन है। कुछ ऐसा ही हाल मुस्लिम संस्कृति का भी है। ऐसे में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर हिन्दू संस्कृति समृद्ध हुई है वहीं मुस्लिम संस्कृति भी समृद्ध हुई है।

हिन्दू धर्म के त्योहारों होली, दिवाली में मुस्लिम शामिल हुआ करते थे। ठीक इसी प्रकार हिन्दू भी मुसलमानों के त्योहार ईद में शामिल हुआ करते थे। क्या ऐसे में कहा जा सकता है कि इन दोनों धर्मों ने एक-दूसरे से कुछ भी ग्रहण नहीं किया ? क्या यह कहा जा सकता है कि दोनों ही धर्मों की संस्कृतियां एक दूसरे से अछूती रहीं ? इसी प्रकार भारत में इस्लाम के आने के बहुत पहले जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ क्या बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म से कुछ भी ग्रहण नहीं किया गया ? और क्या स्वयं हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म से कुछ भी नहीं सीखा ? इसी आलोक में विश्व के सभी धर्मों को देखने पर एक नवीन दृष्टि का निर्माण संभव है जिससे विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच सामंजस्य बैठाया जा सकता है।

कहा गया है 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' लेकिन अपनी संस्कृति, धर्म, पूजा-पाठ की पद्धतियों, रीति-रिवाज आदि को श्रेष्ठ समझना एवं दूसरे के धर्म को हिक़ारत की नज़र से देखना सांप्रदायिकता की ओर बढ़ाया गया पहला चरण है। हर धर्म में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति आदर भाव रखने के निर्देश दिये गये हैं। लेकिन वर्तमान समय में हर धर्म ने अपने इस मूल मंत्र को भुला दिया है। ऐसा इसलिए है क्योंकि हर धर्म अपने आप को असुरक्षित महसूस करता है। इस संबंध में विभूति नारायण राय कहते हैं- " सभी धर्म एक खास तरह की असुरक्षा से ग्रस्त हैं। कोई धर्म आश्वस्त नहीं है कि अगर उसके अनुयायियों ने सोचना शुरू कर दिया तो वे उसकी परिधि में रहेंगे। इसीलिए हर धर्म बच्चे के

पैदा होते ही उसे अपना बना लेता है। जन्म के साथ ही धार्मिक संस्कार शुरू हो जाते हैं। बच्चा आस-पास की दुनिया को समझता ही है एक खास पहचान के साथ। जब तक उसके सोचने-समझने की उम्र आती है तब तक वह सोचना-समझना बंद कर चुका होता है। आस्था का नाग उसे डस चुका होता है। कोई धर्म यह इजाज़त नहीं देता कि बच्चा बालिग होने के बाद अपना धर्म चुने। किसी को विश्वास नहीं है कि एक बार विकल्प मिल जाने के बाद लोग उसके पास आयेंगे ही।"[54] यदि समाज में सुव्यवस्था लानी है तो हर धर्म को पुन: उन विचारों की ओर लौटना होगा जिनमें अन्य धर्मावलम्बीयों के प्रति आदर का भाव बनाये रखने जैसी बातें कही गयी हैं। साथ ही हर व्यक्ति को यह स्वतंत्रता दी जानी चाहिए कि वह किस धर्म को स्वीकार करेगा और किसे नहीं। वह किसी धर्म को स्वीकार करेगा भी या नहीं अन्तत: यह निर्णय भी उसी व्यक्ति पर छोड़ देना चाहिए।

वैयक्तिक स्वाधीनता कितनी आवश्यक है और किसी पर अपने विचार थोपने का परिणाम क्या हो सकता है इस संबंध में प्रोफेसर लाल बहादुर वर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं- " एक व्यक्ति बेहद धर्मपरायण है, दूसरा धर्मान्ध है और तीसरा धर्म को पूरी तरह नकारता है। ये तीनों ही स्थितियां व्यक्तिगत स्तर पर समझी जा सकती हैं-उससे सहमत-असहमत हुआ जा सकता है उसकी आलोचना भी की जा सकती है पर उस पर पाबंदी नहीं लगाई जा सकती जब तक वह दूसरों के ऐसे ही अधिकार का अतिक्रमण न करता हो। पर जैसे ही ये व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विचार को दूसरों पर आरोपित करते हैं यानी उसे अपने जैसा ही सोचने या करने पर मजबूर करते हैं वह अनैतिक और गैरकानूनी बात होनी चाहिए। बुरी ही नहीं अच्छी बातों को भी दूसरों पर थोपना गलत माना जाता है।"[55] प्रोफेसर वर्मा के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट रूप से दो बातें सामने आती है। सबसे पहली बात तो यह कि धर्म नितान्त वैयक्तिक चीज है। दूसरी बात यह कि दूसरों पर अपने विचारों को थोपना गलत है।

व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता को बाधित करना न केवल अनैतिक है बल्कि गैरकानूनी भी। अत: किसी को अपने जैसा सोचने एवं व्यवहार करने के लिए बाध्य करना किसी भी स्तर पर मान्य नहीं है।

अक्सर यह देखा गया है कि धर्म परिवर्तन को लेकर भी सांप्रदायिक शक्तियाँ काफी हल्ला मचाये रहतीं हैं। विचारने योग्य बात यह है कि आखिर ऐसा क्यों है ? यदि कोई व्यक्ति अपने धर्म से असंतुष्ट है तो वह उस धर्म का त्याग कर ही सकता है। इससे किसी धर्म को क्या आपत्ति हो सकती है। वर्तमान समय में धर्म ने राजनीति का दामन पकड़ लिया है और राजनीति ने धर्म का चोला धारण कर लिया है। इस संबंध में स्वामी नित्यानंद कहते हैं- " वर्तमान समय में धर्म परिवर्तन मोक्ष या प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं वरन् संख्या बल बढाने के उद्देश्य से किया जाता है। संख्या बल बढाने के राजनीतिक निहितार्थ होते हैं और इसका लाभ भी संबंधित पक्षों को मिलता है।"[56] वर्तमान समय में राजनीति और धर्म दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। धर्म-परिवर्तन का मुद्दा एक व्यापक चर्चा का विषय है। धर्म-परिवर्तन के कारण स्वयं उसी धर्म में मौजूद होते हैं जिसका वह व्यक्ति अनुयायी था लेकिन इस पर विचार न कर साम्प्रदायिक शक्तियाँ अन्य धर्मों के पूजा-स्थलों पर हमला करती हैं। स्वयं हिन्दू धर्म को लें तो मुख्य रूप से धर्म परिवर्तन करनेवालों में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों की भरमार है। सदियों से ये पददलित किये जाते रहें हैं। पहचान के संकट एवं न्यूनतम सुविधाओं के अभाव में जीने के लिए मज़बूर हैं। ऐसे लोग ही धर्म परिवर्तन की चपेट में आसानी से आ जाते हैं। सवाल यह भी उठना चाहिए कि हिन्दू धर्म से जिन लोगों का धर्म परिवर्तन किया जा रहा है उस पर तो काफी बवाल मचा रहता है परन्तु ये सांप्रदायिक शक्तियाँ उन लोगों पर क्यों चुप्पी साधे रहती हैं जो अन्य धर्मों से धर्मान्तरण कर हिन्दू धर्म में शामिल हो रहे हैं ? धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया को समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप

में देखना चाहिए। अगर कोई कहीं एक धर्म को त्यागकर किसी अन्य धर्म को स्वीकार करता है तो किसी दूसरे स्थान पर कोई पहले धर्म में धर्मान्तरण कर रहा होता है। इस प्रकार धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया समाज की सहज प्रक्रिया है।

जब भी धर्म पर बात चलती है तो किसी भी वैचारिक अथवा यथार्थवादी ढंग से चर्चा करना मुश्किल हो जाता है। इसलिए हर धर्म को और भी ज्यादा वैज्ञानिक ढंग से विचार करने की आवश्यकता है। जब भी नये विचारों का आगमन होता है सर्वप्रथम उसे नैतिकता के साथ जोड़कर देखा गया है। इस संबंध में 'अन्यथा' पत्रिका के संपादक कृष्ण किशोर के कथन कुछ इस प्रकार हैं- " सब से तेज़धार हथियार धर्म के हाथ में नैतिकता रही है। "[57] हर बार धर्म को नैतिकता के साथ जोड़कर देखने की प्रथा रही है। नैतिकता समय के साथ-साथ बदलती रहती है जबकि वर्तमान समय में धर्म को परंपरा के साथ जोड़कर देखा जाता है। परंपरा का मतलब जड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म का मतलब अब जन साधारण का कल्याण नहीं है बल्कि ज्यादा से ज्यादा लोगों पर जबरन अपना अधिपत्य जमाना है। नैतिकता ऐसा नहीं करती क्योंकि पीढ़ी दर पीढ़ी नैतिकता बदलती रहती है। जरूरी नहीं कि प्रौढ़ आयु के व्यक्ति के लिए जो नैतिकता के मापदण्ड़ हैं वही मापदण्ड़ किसी युवक के लिए भी होंगे। लेकिन धर्म की बंदिशे, उसकी सीमाएं हर आयु के व्यक्ति के लिए समान ही होती हैं। साथ ही साथ जैसे-जैसे वक्त गुज़र रहा है यह देखा जा सकता है कि धर्म ज्यादा कट्टर, ज्यादा संकीर्ण बनता जा रहा है जबकि नैतिकता सदैव संशोधन करती चलती है। इसलिए धर्म और नैतिकता को एक साथ जोड़कर देखना गलत है।

सांप्रदायिकता हमेशा बुरी ही हो ऐसा नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि सांप्रदायिकता एक विचारधारा है। सांप्रदायिकता को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता हैं। प्रथमत: यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता का एक विशेष गुण है लोगों को

समूह में बाँध पाने का। इसका कारण यह है कि सांप्रदायिकता धीरे-धीरे संस्थागत रूप धारण करने लगती है और लोगों में सामूहिक चेतना का प्रसार होने लगता है। इस रूप में सांप्रदायिकता को समाज के लिए खतरनाक नहीं माना जा सकता है। सांप्रदायिकता समाज के लिए घातक तब बन जाती है जब सांप्रदायिक विचारधारा में विश्वास करनेवाले यह मानने लगते हैं कि उनके समूह के विकास के लिए संघर्ष के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। इस प्रकार ये लोग या इनका समूह समाज में अव्यवस्था फैलाना शुरू कर देते हैं। ऐसी विचारधारा समाज के लिए खतरनाक बन जाती है। यह सांप्रदायिकता की दूसरी कोटी है।

समाज को विभाजित करने वाले तत्व भी समाज में ही मौजूद होते हैं। समाज में मौजूद ये विभाजनकारी तत्व अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए समाज में अव्यवस्था एवं भय के माहौल का संचार करते हैं। वर्तमान समय में सांप्रदायिकता को हवा राजनीतिक रूप से स्वार्थी तत्व दे रहे हैं। आर्थिक संसाधनों पर वर्चस्व बनाने के लिए स्वार्थी तत्व धर्म, जाति, वर्ण, क्षेत्र और न जाने ऐसे ही कितने मुद्दों को आधार बनाकर समाज को विभाजित करते आये हैं। उदाहरणस्वरूप भारतीय समाज को लेकर और भी पुख्ता रूप में विचार कर सकते हैं। वर्तमान समय में भारतीय समाज धर्म, जाति और क्षेत्र के नाम पर विभाजन की नयी दहलीज़ पर खड़ा नज़र आता है। कोई धर्म को आधार बनाकर खालिस्तान के लिए लड़ रहा है तो कोई विकास को मुद्दा बनाकर गोर्खालैंड़ के लिए। कहीं गुर्जर और मीणा आरक्षण को मुद्दा बनाकर आपस में लड़ रहे हैं तो दूसरी तरफ अन्य पिछड़ी प्रजातियों के आरक्षण के लिए देशव्यापी आंदोलन ज़ारी है। तो कोई अल्पसंख्यकों के विकास को मुद्दा बनाकर अपना स्वार्थ साधना चाह रहा है। दरअसल हर कोई सत्ता और आर्थिक संसाधनों पर अपना वर्चस्व जमाना चाहता है। जितनी भी होड़ बनी हुई है वह केवल सत्ता और संसाधनों पर वर्चस्व के लिए ही है। भारतीय समाज से अब यह सोच बिल्कुल समाप्त हो चली है कि देश के संसाधनों पर हर

भारतवासी का अधिकार है। इन विभाजनकारी शक्तियों का साथ विभिन्न राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय पार्टियां दे रहीं हैं। देश का एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो इस साज़िश से भलीभांति परिचित है लेकिन वह भी इस व्यवस्था का विरोध नहीं करता क्योंकि कहीं न कहीं इस सबसे वह भी लाभान्वित होता है। यदि ऐसी ही परिस्थितियां बनी रहीं तो सांप्रदायिक विचारधारा से लड़ पाना दिन पर दिन मुश्किल होता चला जायेगा।

## 1. 3. राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता

सांप्रदायिकता पर विचार करते हुए राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का प्रसंग आना स्वाभाविक है। राष्ट्रवाद आज के समय में एक ऐसा मुद्दा है जो गंभीरतापूर्वक विचार करने की अपील करता है। राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद, उग्र राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि शब्द 'राष्ट्र' से निकले हैं। अत: 'राष्ट्र' को व्यापक रूप में समझना जरूरी है।

**1. 3. 1. राष्ट्र-** राष्ट्र एक ऐसा शब्द है जिसपर काफी बहस की गुंजाइश है। इस संदर्भ में गहराई में प्रवेश के लिए राष्ट्र की विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात कर लिया जाय-

**हिंदी शब्दसागर** में राष्ट्र के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं-" राष्ट्र- संज्ञा पुं. [सं.] 1.राज्य। 2.देश। मुल्क। 3.प्रजा। 4.पुराणानुसार पुरुरवा पुत्र के वंशज काशी के पुत्र का नाम। 5.वह बाधा जो संपूर्ण देश में उपस्थित हो। 6.वह लोकसमुदाय जो एक ही देश में बसता हो या जो एक ही राज्य या शासन में रहता हुआ एकताबद्ध हो। एक या समभाषा-भाषी जनसमूह। नेशन। जैसे-भारतीय राष्ट्र।"[58] यहाँ राष्ट्र को एक ही देश में बसनेवाले लोगों का जनसमुदाय माना गया है जो एक जैसे नियम-कानून का अनुगामी होता है।

**ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी एंड थिसॉरस** में राष्ट्र संबंधी विचार कुछ इस प्रकार दिये गये हैं- " समान इतिहास, भाषा इत्यादि का प्रयोग करने वाला ऐसा जनसमुदाय जो एक राज्य का निर्माण करता हो या एक निर्दिष्ट भूमि में निवास करता हो।"[59]

**कार्लटन हेस** के अनुसार- " समान विश्व दृष्टि और सांस्कृतिक विरासत से जुड़ा हुआ राजनीतिक संगठन ही राष्ट्र है।"[60] यहाँ कार्लटन ने राष्ट्र संबंधी अपनी अवधारणा में राजनीतिक संगठन और सांस्कृतिक एकता को प्रमुखता दी है।

विद्वान **ल्यूगो** के अनुसार- " राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जो एक निश्चित भूमि, रक्त, भाषा, संस्कृति और इतिहास के माध्यम से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।"[61] ल्यूगो ने राष्ट्र संबंधी अपने विचारों को विस्तार देते हुए रक्त, भाषा एवं इतिहास को भी राष्ट्र की विशिष्ट पहचान के साथ जोड़ा है।

**सालो बारोन** के अनुसार- " 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग ऐसे लोगों के समूह के साथ किया जा सकता है जो एक निर्दिष्ट भू-भाग में रहते हों और समान राजनीतिक संगठनों से जुड़े हुए हों।"[62]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर मोटे तौर पर राष्ट्र की निम्नलिखित विशेषताएं उभरकर सामने आती हैं -

हर राष्ट्र का अपना एक निर्दिष्ट इतिहास हुआ करता है। यह उन्हें इस बात से अवगत कराता है कि उनकी जड़ें कहाँ थी। उनके पूर्वज कौन थे, कैसे थे, कहाँ से आये थे ? साथ ही अपने इतिहास से जुड़कर ही कोई जाति अथवा प्रजाति उन्नति कर सकती है क्योंकि अपने इतिहास से कटकर किसी जाति का अस्तित्व संभव ही नहीं है। परन्तु यदि इतिहास में सच्चाई के नाम पर झूठ और नफरत परोसी जाती है तो वहाँ रहनेवाले लोगों का जीवन न केवल बरबाद हो जाता है बल्कि आपसी सौहार्द एवं भाईचारा भी समाप्त हो जाता है। ऐसा तब देखने को मिलता है जब इतिहासकार किन्हीं विशेष कारणों को ध्यान में रखकर इतिहास-लेखन का कार्य करते हैं। खास विचारों के मद्देनज़र जब तथ्यों की जाँच-पड़ताल की जाएगी एवं तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा जाता है तो इतिहास का विकृत रूप देखने को मिलता है

जिसका जीवंत उदाहरण हिंदुस्तान का इतिहास है। अपना शासन आसानी से चलाने के लिए हिंदुस्तान के इतिहास को अग्रेजों ने विकृत किया। हिंदुस्तान की दो महान जातियों के बीच वैमनस्य के बीज बो दिये। जिसका परिणाम हम आज भी देख सकते हैं। हिंदुस्तान में वे दो जातियाँ जो पिछले सैकड़ों वर्षो से एक साथ जीवन-यापन कर रही थी आज लगभग सात दशकों से एक-दूसरे के लिए विषवमन कर रही हैं।

भाषा किसी भी राष्ट्र की प्रमुख पहचान होती है। हर राष्ट्र की अपनी राष्ट्रभाषा होती है। भाषा के माध्यम से एक निश्चित स्थान पर रहने वाले लोगों को अपनी पहचान मिलती है और भाषा के ही माध्यम से अन्य राष्ट्रो से एक राष्ट्र अपनी अलग पहचान भी बना पाता है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति और इतिहास भाषा की बुनियाद पर ही खड़ा हो सकता है। इसी कारण एक ही राष्ट्र के वे लोग जो किन्हीं कारणों से अलग-अलग देशों में रहते हैं भाषा के कारण ही अपने राष्ट्र से जुड़े रहते हैं। भाषा जहाँ एक ओर सम्प्रेषण का माध्यम होती है वहीं दूसरी ओर एक निश्चित भू-भाग के वाशिदों को एक सूत्र में पिरोने का काम भी करती है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उस भू-भाग में अन्य किसी भाषा का अस्तित्व नहीं होता। अन्य भाषाओं और बोलियों का भी अस्तित्व होता है लेकिन वे सहभाषा के रूप में काम करती हैं। राष्ट्र की एकता और अखंडता में कहीं भी वे आड़े नहीं आतीं। यह विडंबना ही है कि भारत जैसे राष्ट्र में, जो भाषाओं और बोलियों के रूप में इतना समृद्ध है, भाषा के नाम पर लगातार आंतरिक कलह चलता रहा है। आजादी के 60 वर्ष देख लेने के बावजूद भारत की राष्ट्रभाषा का स्थान किसी भाषा को नहीं मिल पाया है। इसके कारणों का विश्लेषण आगे के अध्यायों में किया जायेगा। यहाँ बस इतना ही कहना समीचीन होगा कि एक निश्चित जाति का लगाव भाषा से जुड़ा हुआ होता है जो अंततः देशप्रेम की भावना से जुड़ जाता है और या तो देश की एकता में सहायक होता है जिसका

उदाहरण हैं अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन आदि जैसे राष्ट्र, या फिर देश की एकता, अखंडता और संप्रभुता के लिए खतरा बन जाता है जहाँ उदाहरणस्वरूप भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे राष्ट्रों को ले सकते हैं। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे राष्ट्रों मे कई विभाषाएं एवं बोलियां मौजूद हैं जिनकी अपनी माँगें भी हैं लेकिन देश की एकता या अलग राष्ट्र की माँग तो दूर वे इसके संबंध में सोचते भी नहीं हैं। वहीं दूसरी ओर भारत से अलग पाकिस्तान का अस्तित्व भले ही अलग कौम के आधार पर हुआ हो लेकिन इसके बीज भाषायी आधार पर ही खड़े किये गये थे। कालान्तर में पाकिस्तान से अलग बांग्लादेश राष्ट्र का गठन भाषायी आधार पर ही हुआ था।

किसी भी राष्ट्र के लोगों को अपने पूर्वजों से जीवन-यापन की पद्धतियाँ, पूजा-अर्चना के तौर-तरीके, उत्सवों और त्योहारों को मनाने के अलग-अलग ढंग, रीति-रिवाज़ आदि विरासत के रूप में मिलते हैं और इन सबके सम्मिलित रूप को संस्कृति के साथ जोड़ कर देखा जा सकता है। संस्कृति के साथ ही भाषा को भी जोड़कर देखने की परम्परा रही है। चूँकि इन सबका जुड़ाव पूर्वजों से होता है अतएव साधारणत: यह देखा गया है कि संस्कृति के प्रति लोग भावनात्मक रूप से जुड़े हुए होते हैं। इसी कारण अपने राष्ट्र पर हो रहे सांस्कृतिक आक्रमण से लड़ने की कवायद हर राष्ट्र के संस्कृतिकर्मी एवं कलाकार करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि अगर सांस्कृतिक प्रतिरोध न किया जाय तो एक राष्ट्र अपनी पहचान खो बैठेगा और दूसरे राष्ट्र की संस्कृति अपनाने के लिए बाध्य हो जायेगा। अंतत: उस राष्ट्र के निवासी भी अपनी अस्मिता खो बैठेंगे। इस रूप में राष्ट्रवादी विचारों के पनपने में साझी संस्कृति का होना अनिवार्य तत्व है।

हर राष्ट्र की अपनी एक निर्दिष्ट भौगोलिक सीमा होती है। एक निश्चित भू-भाग में रहनेवाले व्यक्ति की यही पहचान भी होती है। अंतत: हर व्यक्ति के लिए, चाहे वह

किसी भी राष्ट्र का हो और भले ही किसी दूसरे राष्ट्र में निवास कर रहा हो, एक निश्चित भू-भाग की पहचान का होना आवश्यक है। अंततः यह पहचान ही हर व्यक्ति की मुख्य पहचान बनती है। इसी रूप में कोई भारतीय बन जाता है तो कोई अमेरिकन, कोई ब्रिटिश बन जाता है तो कोई रूसी। बिना इस पहचान के कोई भी व्यक्ति अपने राष्ट्र की सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का भोग नहीं कर सकता। साथ ही उसे किसी भी प्रकार का संरक्षण भी नहीं मिल सकता। इस प्रकार राष्ट्रवादी गतिविधियों को सुचारू रूप से संचालित करने में एक निर्दिष्ट भौगोलिक क्षेत्र का होना अत्यन्त आवश्यक है।

हर राष्ट्र के व्यक्ति का अपना एक इतिहास होता है जिससे उसे इस बात का पता चलता है कि वह कौन है ? उसके पूर्वज कौन थे ? उनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इत्यादि। इन सभी प्रश्नों का उत्तर उसे अपने जातीय समूह से ही जुड़कर मिल सकता है। भाषा, धर्म, क्षेत्र, जाति, प्रजाति इत्यादि के आधार पर बने समूहों को जातीय समूह कहा जाता है। इन जातीय समूहों में समान भाषा, एक ही प्रजाति और एक ही धर्म में विश्वास सामूहिक चेतना को और भी सशक्त बनाती है। फलस्वरूप इनमें सामुदायिक भावना जागृत होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में जातीय चेतना भी कह सकते हैं। अंततः यह उस व्यक्ति को अपने ही राष्ट्र के अन्य व्यक्तियों अथवा सदस्यों से भी जोड़ता है। इस रूप में जातीय चेतना सामूहिकता की संवाहक बन जाती है जो किसी भी राष्ट्र की एकता, अखंडता और संप्रभुता के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्व है। यदि सामूहिकता की भावना किसी भी कारण से क्षरित होती है तो देश की अखंडता और संप्रभुता पर खतरे के बादल मंडराने लगते हैं। वे सभी राष्ट्र जो सदियों विदेशी शासन की जंजीरों से जकड़े हुए थे अपनी इसी जातीय चेतना के कारण एकत्रित हुए और आजादी हासिल कर पाये। यह जातीय चेतना ही है जो एक व्यक्ति के भीतर अपने देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने का भाव भर देती है।

लगभग हर विद्वान ने राष्ट्र संबंधी अपने विचारों में राजनीतिक संगठन को प्रमुखता दी है। इसका कारण यह है कि हर राष्ट्र को अपने पड़ोसी राष्ट्रों एवं अन्य महादेशों के मित्र राष्ट्रों से संबंध बनाने पड़ते हैं। मुख्य रूप से इसकी आवश्यकता प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से महसूस की जाने लगी थी। अन्य राष्ट्रों से आर्थिक, सांस्कृतिक, सैन्य, असैन्य एवं कूटनीतिक संबंध बनाये रखना वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है। अपने राष्ट्र की प्राथमिकताओं, आवश्यकताओं एवं वैश्विक मुद्दों पर अपने देशवासियों के मत को वैश्विक पटल पर रखने के लिए जनप्रतिनिधियों की आवश्यकता होती है जिन्हें चुनाव के जरिये जनता चुनती है। इस रूप में ये जनप्रतिनिधि विश्व पटल पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं और अपने राष्ट्र को विश्व धरातल पर अलग पहचान दिलाते हैं।

राष्ट्र संबंधी उपरोक्त तत्वों के विश्लेषण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र भी एक अवधारणा है। कोई जरूरी नहीं कि एक राष्ट्र में निवास करनेवाला व्यक्ति उस राष्ट्र को ही अपना राष्ट्र माने और अपनी राष्ट्रीयता भी। राष्ट्र से हमारा संबंध भावात्मक रूप से जुड़ा होता है जिसका जुड़ाव हमारी संवेदनाओं से होता है। यदि इसका जुड़ाव हमारी संवेदनाओं से न हो तो राष्ट्र को खतरा हो या न हो, हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। साथ ही ऐसी सोच ही धीरे-धीरे कट्टर रूप धारण करती जाती है और अंतत: घातक रूप धारण कर लेती है। इससे पहले कि इस प्रक्रिया पर विचार प्रस्तुत किया जाय, राष्ट्र से निकले शब्द 'राष्ट्रीयता' पर विचार करना आवश्यक है।

**1. 3. 2. राष्ट्रीयता-** राष्ट्र की तरह राष्ट्रीयता भी एक व्यापक शब्द है। प्रश्न है राष्ट्रीयता क्या है ? क्या एक ही राष्ट्र में दो प्रकार की राष्ट्रीयता संभव है ? राष्ट्रीयता की परिभाषाएं इस प्रकार हैं-

**द वर्ल्ड बुक इनसाइक्लोपीडिया** के अनुसार- " विधि अनुसार राष्ट्रीयता किसी व्यक्ति की किसी विशेष देश की सदस्यता दर्शाता है। अमूमन एक व्यक्ति की नागरिकता ही उसकी राष्ट्रीयता मानी जाती है लेकिन राष्ट्रीयता का तात्पर्य नागरिकता नहीं है। उदाहरणस्वरूप फिलीपीन्स द्वीप के स्वाधीन होने के पूर्व वहाँ के लोग संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी थे। उनकी राजभक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति थी लेकिन वे संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक नहीं थे।

राष्ट्रीयता संबंधी दो सिद्धांतों के अनुसार राष्ट्रीयता जन्म द्वारा प्राप्त होती है। प्रथमत: रक्त के अधिकार के रूप में। इसके अनुसार यह एक शिशु को राष्ट्रीयता प्रदान करता है जो उसके अभिभावकों खासकर पिता की राष्ट्रीयता होती है। द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार जन्म स्थान के अधिकार स्वरूप प्राप्त राष्ट्रीयता। इसके अनुसार यह एक व्यक्ति को उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता प्रदान करता है जिसमें उसका जन्म हुआ है। अमुमन सभी देशों में इस दोनों सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता है। हर देश को इस बात का अधिकार है कि वह यह निर्णय ले कि वह किसे अपने राष्ट्र की राष्ट्रीयता प्रदान करेगा। राष्ट्रीयता के दूसरे अर्थ का कानून से कुछ भी लेना-देना नहीं है। यह दर्शाता है कि कई लोग अपने जन्म स्थान के रीति-रिवाजों, नियम और यहाँ तक कि भाषा का भी प्रयोग उस जगह करते हैं जहाँ वे जीवन-यापन के लिए जाते हैं। दूसरे देशों से आये लोगों के कई ऐसे समुदाय हैं जो संयुक्त राज्य अमेरिका के शहरों में अपने रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं को जीवित रखने का प्रयास करते हैं।[63]

राष्ट्रीयता संबंधी उपरोक्त विचार में यह देखा जा सकता है कि कहीं तो यह भावनाओं से जुड़ा है तो कहीं विधि एवं कानून से। संयुक्त राज्य अमेरिका का तो केवल

उदाहरण दिया गया है। वास्तविक रूप में इसे किसी भी राष्ट्र में देखा जा सकता है फिर चाहे वह भारत हो या पाकिस्तान।

**हिंदी शब्दसागर** में 'राष्ट्रीयता' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गये है- "राष्ट्रीयता-संज्ञा स्त्री.[सं.-राष्ट्रीय+ता] **1.** अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम। देशभक्ति। **2.** किसी राष्ट्र के नागरिक होने का भाव।"[64]

इन परिभाषाओं से गुजरने के पश्चात यह देख सकते हैं कि राष्ट्रीयता किसी व्यक्ति या समूह की पहचान होती है जो उसे रीति-रिवाजों, संस्कृति, परम्पराओं, इतिहास आदि के माध्यम से एक विशिष्ट पहचान देती है। राष्ट्रीयता जन्म से भी प्राप्त हो सकती है और पिता की राष्ट्रीयता से भी। किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता स्वीकार करने का तात्पर्य है उस राष्ट्र के नियम-कानून का पालन करना तथा संविधान और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान करना। न केवल सम्मान करना बल्कि आवश्यकता पड़ने पर अपना सर्वस्व उसके लिए न्यौछावर कर देना। यहीं से राष्ट्रवादी विचारों का भी उदय होता है।

**1. 3. 3. राष्ट्रवाद-** राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता शब्द से उपजा हुआ शब्द है राष्ट्रवाद। पिछले कुछ दशकों से राष्ट्रवाद को लेकर विद्वानों के बीच जबरदस्त बहस जारी है। राष्ट्रवादी विचारों का उदय एक आधुनिक घटना है जिसका उदय यूरोप में लगभग 18वीं शताब्दी से समझना चाहिए।

**वर्ल्ड विकिपीडिया** में राष्ट्रवाद को इस रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है- " राष्ट्रवाद का तात्पर्य एक विचारधारा, भावना, संस्कृति का एक रूप अथवा सामाजिक आन्दोलन से लगाना चाहिए जिसका लक्ष्य राष्ट्र होता है। यह राष्ट्र-विशेष की एकता के लिए सामूहिक प्रयास का प्रतिफलन है। जहाँ एक ओर राष्ट्र की उत्पत्ति के संबंध में विवाद है, वहीं राष्ट्रवाद के संबंध में अमूमन हर विशेषज्ञ का यह मत है कि कम से कम

विचारधारा एवं सामाजिक आन्दोलन के रूप में इस आधुनिक घटना का उदय यूरोप में हुआ था।"[65]

**अमेरिकन इनसाइक्लोपीडिया** के अनुसार- " राष्ट्रवाद एक ऐसा मुद्दा है जहाँ अन्य सभी चीजों से इतर राष्ट्र के प्रति वफादारी और राष्ट्रीय एकता के लिए जुड़ाव अधिक महत्वपूर्ण होता है। राष्ट्रवाद के अन्य गुणों में अपने राष्ट्र द्वारा अर्जित सफलताओं पर गर्व महसूस करना, अन्य राष्ट्रों से स्वयं को न केवल अलग समझना बल्कि अन्य राष्ट्रों पर अपने राष्ट्र की वरिष्ठता भी स्थापित करने की प्रबल इच्छा का होना है।"[66]

उपरोक्त परिभाषाएँ दो बातों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं- प्रथमत:, राष्ट्रवाद के रूप में स्थान, रक्त एवं भाषा को प्रमुखता दी गयी है। एकता जैसी किसी विचारधारा में विश्वास रखने के स्थान पर राष्ट्रवाद भाषा, स्थान और जातीयता के आधार पर खड़ा नज़र आता है। राष्ट्रवाद के समर्थक अलग राष्ट्र की जब माँग करते हैं तो उसके केन्द्र में भौगोलिक सीमाएँ, भाषा, जातीयता और राजनीतिक संगठन होते हैं। इन तत्वों के आधार पर ही जनसमुदाय एक निश्चित लक्ष्य और इतिहास को लेकर चलता है। दूसरी बात जो लक्ष्य करने योग्य है वह यह है कि सारी वफादारी राष्ट्र पर ही केंद्रित होती है। अन्य सभी निष्ठाएं चाहे वह ईश्वर के लिए हो या धर्म के लिए, समस्त विश्वास एवं विचारधारा राष्ट्र के प्रति हमारी निष्ठा के सहायक के रूप में होते हैं। हर राष्ट्रवादी का यह मानना है कि देश एवं राष्ट्र सभी चीजों से महत्वपूर्ण होता है।

**द वर्ल्ड बुक इनसाइक्लोपीडिया** में राष्ट्रवाद संबंधी विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं- " राष्ट्रवाद एक राष्ट्र के रूप में एकत्व स्थापित करने का विवेक है। जिसके साथ अपने राष्ट्र के प्रति वफादारी, अपनी संस्कृति एवं इतिहास पर गर्व का भाव और कई बार तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इच्छा से भी जुड़ा होता हे।"[67] **17**वीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के स्थापित होने के साथ-साथ राष्ट्रवाद एक मुख्य शक्ति बनकर उभरा। 18वीं शताब्दी में राष्ट्रवादी भावनाओं ने मुख्य रूप से हर देश को स्वशासन की चाहत में बदल डाला। इन विचारों ने यूरोप के मानचित्र को कई बार बदल डाला। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रवादी विचारों ने एशिया एवं अफ्रिका में भी अपने पैर पसारने प्रारम्भ किये।

**हिंदी शब्दसागर** में राष्ट्रवाद का नहीं, राष्ट्रवादी के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं-" राष्ट्रवादी- संज्ञा पु.[सं.-राष्ट्रवादिन] वह व्यक्ति, संस्था, दल आदि जो राष्ट्र की एकता, संपन्नता आदि हितों को सर्वोपरि माने और उसी को प्रमुखता दे। संपूर्ण राष्ट्र के हित को सर्वोपरि माननेवाला (अ.- नेशनलिस्ट)।"[68]

जिस रूप में राष्ट्रवाद का आज पूरे विश्व में प्रसार हो चुका है एक समय ऐसा भी था जब राष्ट्रवाद जैसी अवधारणा का अस्तित्व न था। राष्ट्रवाद की अवधारणा का जन्म विश्व पटल पर राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के जन्म के साथ-साथ हुआ है। अक्सर राष्ट्र एवं राष्ट्र-राज्य को एक-दूसरे का पर्याय समझा जाता है लेकिन राष्ट्र का तात्पर्य लोगों के ऐसे समूह से है जो एक जैसी भाषा, संस्कृति एवं इतिहास के साझीदार होते हैं जबकि राज्य का तात्पर्य एक निश्चित भू-भाग के लोगों का ऐसा समूह जिनकी अपनी स्वनिर्भर सरकार हो। राष्ट्र-राज्य का अस्तित्व तभी संभव है जब एक राष्ट्र एवं राज्य दोनों का अस्तित्व एक ही भू-भाग में हो। राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का जन्म मध्यकाल के अंतिम दौर में हुआ। इस दौर में यातायात एवं संचार के माध्यमों के विकास के साथ-साथ लोग अपने भूत (इतिहास) के संबंध में भी जागरूक बनते गये। 17वीं शताब्दी के आस-पास फ्रांस, स्पेन, इंग्लैंड समेत अन्य कई देशों में राष्ट्र-राज्य की धारणा का विकास हो चुका था।

अन्य राष्ट्रों में **18**वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर में ही राष्ट्रवादी विचार पनपने लगे थे लेकिन उनमें से कई राष्ट्र, राष्ट्र-राज्य नहीं बन पाये थे। कई लोगों यह मानना था कि एक राष्ट्रीय समूह के पास अपना अलग राज्य गठन का अधिकार होता है। इसे राष्ट्रीय स्व-निर्धारण की नीति के रूप में जाना जाता है। इस धारणा के कारण पूरे यूरोप में कई राष्ट्रवादी आंदोलन शुरू हो गये। उदाहरणस्वरूप यूनान ने तुर्की से आजादी सन् **1829** में प्राप्त की और बेल्जियम निदरलैंड से सन् **1830** में स्वतंत्र हुआ। **20**वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्र-राज्य की स्थापना की ललक के कारण ही प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। छोटे-छोटे राष्ट्र-राज्यों की स्थापना की माँगें बढ़ने लगी परिणामस्वरूप युद्ध की परिस्थितियाँ बनी।

**30** के दशक में दो तानाशाह, जर्मनी के हिटलर एवं इटली के मुसोलिनी ने राष्ट्रवादी विचारों के माध्यम से अपने देशवासियों से राजभक्ति की माँग रखी। इन्होंने संपूर्ण राष्ट्रवादी विचारों को बढ़ावा दिया जिसके तहत इन्होंने यह विचार प्रसारित करना प्रारम्भ किया कि उनका राष्ट्र अन्य सभी राष्ट्रों से श्रेष्ठ है। अपनी इस श्रेष्ठताबोध के कारण जर्मनों ने ऐसे हजारों लोगों की नृशंस हत्या की जिन्हें वे स्वयं से नीचा समझते थे। जर्मनी और इटली विश्व विजय के लिए भी तैयार हो चुके थे जिस कारण द्वितीय विश्वयुद्ध (**1939- 45**) का सामना पूरे विश्व को करना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात राष्ट्रवादी विचारों के कारण कई एशियाई एवं अफ्रिकी उपनिवेशों में स्वशासन की माँग होने लगी। हिन्दुस्तान ने ब्रिटिश शासन से सन् **1947** में आजादी हासिल की। **70** के दशक की समाप्ति तक में **80** से भी ज्यादा राष्ट्रों ने आजादी हासिल की और आज भी यह प्रक्रिया बदस्तूर जारी है। इनमें से कई ऐसे राष्ट्र भी थे जिनका कोई वृहद इतिहास धरोहर के रूप में न था जैसा यूरोप के पास था और जिस कारण राष्ट्रवादी विचारों का जन्म हुआ था। लेकिन इनके मार्गदर्शकों ने राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार किया।

राष्ट्रवाद का प्रभाव कभी अच्छा होता है तो कई मायने में इसके दुष्परिणाम भी होते हैं। राष्ट्रवाद एक राष्ट्र की भावना को प्रमुखता तो देता ही है साथ ही अपने देशवासियों के प्रति सम्मान एवं राष्ट्र के प्रति गर्वानुभूति के विचारों को भी प्रमुखता देता है। अपने देश के लिए समर्पण एवं त्याग की भावनाओं को भी बढ़ावा देता है। चाहे खेल हो या साहित्य अथवा संगीत का क्षेत्र हो अपने राष्ट्र की जीत की कोशिश हर स्तर पर करने का प्रयास जैसे भाव से राष्ट्रवाद परिपूर्ण करता है। इस रूप में राष्ट्रवाद का यह पक्ष सकारात्मक है लेकिन राष्ट्रवाद दो राष्ट्रों के बीच दुश्मनी और वैमनस्य का भी कारण बन जाता है। राष्ट्रीय शौर्य और विजेता राष्ट्र के रूप में स्वयं का प्रदर्शन युद्ध की ओर जाता है जैसे हाल के दौर में उत्तर कोरिया विश्वविजेता के रूप में स्वयं को प्रमाणित करने के लिए लगातार परमाणु अस्त्रों का परिक्षण कर रहा है जो पूरे विश्व समुदाय के लिए खतरे की घंटी है। उग्र राष्ट्रवाद किसी भी राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए घातक साबित हो सकते हैं क्योंकि ऐसे में उस राष्ट्र के अल्पसंख्यक स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगते हैं। राष्ट्रवाद का यह निकृष्टतम रूप है। इस संबंध में किशन पटनायक के विचार इस प्रकार हैं-" राष्ट्रवाद की भावना से हम मनुष्य को मुक्त नहीं कर सकते। औसत नागरिक अगर राष्ट्रवादी नहीं होगा तो जाति या धर्म के प्रति उसकी वफादारी उसको संकीर्णता की ओर ले जाएगी। राष्ट्रवाद उसको जातीयतावाद और साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से ऊपर उठाता है। सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति वफादारी भावनात्मक स्तर पर औसत नागरिक के लिए आज की दुनिया में संभव नहीं है लेकिन राष्ट्रवादी भावना के मानव-कल्याण के लिए प्रेरित किया जा सकता है। विवेकशील लोग अगर इस काम को नहीं करेंगे तो संकीर्णतावादी राष्ट्रीय भावना का गलत इस्तेमाल फासीवादी ढंग से करेंगे। मनुष्य की कोई भी भावना ऐसी नहीं है कि वह विकृत न हो जाए।"[69] अपनी पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' में राष्ट्रवाद पर विचार करते हुए श्री

पटनायक राष्ट्रवाद को उग्र राष्ट्रवाद की संज्ञा देकर उसका रचनात्मक उपयोग न करने की प्रवृति को बौद्धिक पलायनवाद मानते हैं। श्री पटनायक यह मानते हैं कि साम्राज्यवादी शक्तियों से लड़ने में राष्ट्रवाद ही एकमात्र ऐसा साधन है जो कारगर भूमिका अदा कर सकता है।

राष्ट्रवाद को धर्म के साथ जोड़कर देखने की परम्परा रही है लेकिन वास्तविकता यह है कि राष्ट्रवाद का धर्म के साथ कोई भी लेना-देना नहीं होता। राष्ट्रवाद का तो प्रमुख सिद्धांत ही है धर्म और उसके वर्चस्व का निषेध एवं धर्मनिरपेक्षता की स्वीकृति। इस रूप में सत्ता और धर्म, राजनीति और पंथ को अलगाने में धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद ने कारगर भूमिका अदा की थी। धर्म एक ऐसा विषय है जिसका संबंध मनुष्य के निजी और पारिवारिक जीवन से है और धार्मिक भावनाओं और विचारों का सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप न हो। धर्म अथवा मजहब को राष्ट्र के साथ जोड़कर देखनेवालों से यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि " यदि मजहब ही राष्ट्र का आधार है तो एक ही मज़हबवाले चार राष्ट्र-राज्य क्यों हैं ? वे सब एक ही राष्ट्र-राज्य क्यों नहीं बन जाते ? अगर मज़हब ही किसी राष्ट्र-राज्य का आधार है तो अरब-भूमि के मुसलमान लगभग दो दर्जन राष्ट्र-राज्यों में क्यों बँटे हैं ? वे अपना एक ही राष्ट्र-राज्य क्यों नहीं बना लेते ? यदि मज़हब ही राष्ट्रीयता का मानदण्ड है तो हर राष्ट्र में रहनेवाले समस्त विधर्मी क्या अराष्ट्रीय घोषित किए जाएँगे ?"[70] इन सवालों का जवाब उन लोगों के लिए दे पाना कठिन हो जायेगा जो राष्ट्रवादी विचारों की आड़ लेकर सांप्रदायिकता को फैलाते हैं।

राष्ट्रवादी विचार अल्पसंख्यक शब्द के अर्थ को बदल ड़ालता है। जिस राष्ट्र-राज्य का जन्म धर्म के आधार पर होता है वहाँ दूसरे पंथ और मत के अनुयायियों को अल्पसंख्यक माना जाता है। राष्ट्रवादी और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रों में जातीय, राजनीतिक एवं क्षेत्रीय अल्पसंख्यक ही होते हैं। राष्ट्रवादी विचारों के अनुसार धार्मिक विश्वास राष्ट्रीय एकता

की भावना को पनपने से रोकता है और ऐसे में धार्मिक अल्पसंख्यक स्वयं को मुख्यधारा से अलग, कटा हुआ महसूस करने लगते हैं। इसके संबंध में प्रियंवद कहते हैं- " अल्पसंख्यकों के लिए बहुसंख्यक हमेंशा आक्रामक, 'अन्य' व भय पैदा करनेवाले होते हैं। उनको ये उसी तरह देखते हैं जैसे विदेशी शासन को। ...यह 'भय' व प्रतिरोधी भावनाएँ अल्पसंख्यकों को अपनी कट्टरता के गहरे तीव्र आवेग के साथ, अपनी परम्पराओं, धर्म, सामाजिक संरचना व प्रतीकों के प्रति निष्ठापूर्ण समर्पण के साथ, उन्हें बहुसंख्यक के विरोध में कठोर बनाये रखता है। वे किसी लचीलेपन को स्वीकार नहीं करते। किसी भी प्रकार का लचीलापन या अपनी किसी भी 'पुरातनता' से विचलन, उन्हें स्वयं पर आक्रमण व अपना अपमान लगता है। ये अल्पसंख्यक अलग बस्ती के रूप में, अलग शक्ति के केन्द्रों व अवधारणाओं के जनक होते हैं। बहुसंख्यक का राष्ट्रवाद इनका राष्ट्रवाद कभी नहीं बन पाता। ...बहुसंख्यक कालान्तर में इस अल्पसंख्यक को इसीलिए 'बाहरी' या 'अन्य' विवशता की तरह मानता हुआ घृणा से देखने लगता है क्योंकि उसका 'राष्ट्रवाद' अल्पसंख्यकों का राष्ट्रवाद नहीं होता। विशेष रूप से वे बहुसंख्यक, जो स्वयं भी अपनी संरचना में उसी कट्टरता का पोषक होते हैं। धार्मिक राष्ट्रों में इसीलिए अल्पसंख्यकों की कोई स्थिति नहीं होती।"[71] राष्ट्रीयता भौगोलिक, जातीय एवं भाषायी आधार पर ही होनी चाहिए। राष्ट्र के प्रति कर्तव्य ही हर व्यक्ति का परम कर्तव्य होना चाहिए तत्पश्चात् धार्मिक कर्तव्यों का स्थान होना चाहिए जो वैयक्तिक स्तर पर ही हो। राष्ट्र के प्रति कर्तव्य के रूप में हर व्यक्ति का दायित्व बनता है कि वह अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए तैयार रहे। यहाँ तक कि धर्म भी।

भारतीय संदर्भों में विचार करने पर हम यह पाते हैं कि उग्र राष्ट्रवाद के विकराल होते रूप के लिए मुख्य रूप से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में जिन नीतियों का अनुसरण किया गया वे नीतियाँ ही गलत थीं। संविधान में भले ही भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के

रूप में घोषित किया गया, जो विभाजन के बाद एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है लेकिन व्यवहारिक रूप से भारत के भाग्यविधाताओं ने अंग्रेजों की धार्मिक नीति का ही अनुसरण किया अर्थात् 'फूट डालो और शासन करो'। धर्म और राजनीति का घालमेल और ज्यादा बढ़ गया फलस्वरूप राष्ट्रवादी विचारधारा अपने मूल स्वरूप को खो बैठी और उग्र राष्ट्रवाद का पर्याय बनकर सांप्रदायिक वैमनस्य का कारण बन बैठी। इस संबंध में प्रोफेसर एस. एल. वर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं-" संविधान ने सरकार या शासन को धर्मनिरपेक्ष आधारों पर गठित करने की कोई व्यवस्था नहीं की है। उसमें धर्मनिरपेक्षता के विपरीत तरीकों को अपनाकर सत्ता हथियानेवालों को रोकने की विधायक व्यवस्था भी नहीं है। धर्मनिरपेक्षता को ठीक तरह नहीं समझने और अपनाने का परिणाम सांप्रदायिक दंगों के रूप में देश के सामने आते रहें हैं। अभी तक इसकी चिंता संविधान राज्य एवं कानून के स्तर पर ही अपनाना पर्याप्त नहीं है। उसे शासन के स्तर पर भी कार्यान्वित किया जाना चाहिए। इसे अपनाने से पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था का कट्टरवादी दुरुपयोग नहीं कर सके।"[72] सत्तालोलुपों ने सत्ता हथिया ली और लगातार सत्ता में बने रहने के लिए धर्म का इस्तेमाल किया। परिणामत: पहले मुस्लिम राष्ट्रवाद ने भारत से अलग पाकिस्तान एवं बांग्लादेश को जन्म दिया वहीं हिंदू राष्ट्रवाद आज उग्र रूप धारण कर चुका है और भविष्य में भारत में और कितने अनगिनत पाकिस्तान बनेंगे कह पाना मुश्किल है। जहाँ राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय अन्य राष्ट्रों में देशवासियों के बीच एकता स्थापित करने के लिए, विदेशी शासन को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए हुआ था वहीं भारत में राष्ट्रवाद का उदय देश विभाजन का कारण बना। जिसका परिणाम सरहद के इस पार और उस पार के लोग आज भी भुगत रहे हैं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि भले ही राष्ट्रवाद का उभार यूरोप में हुआ था लेकिन यूरोप की हमेशा यह कोशिश रही है कि एशिया एवं अफ्रिका में राष्ट्रवाद

उभर न पाये। इस संबंध में किशन पटनायक के विचार द्रष्टव्य हैं- " यह कहा जा चुका है कि राष्ट्रवाद की प्रेरणा भले यूरोप से आई हो, लेकिन यूरोप की हमेशा यह कोशिश रही है कि एशिया-अफ्रिका में राष्ट्रवाद पनप न पाए। यह कोशिश सिर्फ यूरोप की सरकारों तक सीमित नहीं है। यूरोप के बुद्धिजीवी, खाासकर विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित बुद्धिजीवियों का हमेशा यह रुख रहा है कि गैर यूरोपीय जनसमूहों के लोग अपना कोई स्वतन्त्र ज्ञान विकसित न कर सकें, संवर्धित न करें।"[73] औपनिवेशिक सत्ता इस बात से पूरी तरह अवगत थी कि यदि भारत में राष्ट्रवादी विचार अपने शुद्ध रूप में पनपे तो उनके लिए शासन चला पाना मुश्किल हो जायेगा। अतएव जैसे-जैसे राष्ट्रवादी विचारों ने अपने पैर जमाने शुरू किये अंग्रेजों ने भी क्रमश: उसे विकृत करना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रवादी विचारों एवं सांप्रदायिक विचारों का आपस में कोई मेल ही नहीं होता। इतिहासकार बिपन चंद्र के शब्दों में कहें तो " सांप्रदायिकता तो राष्ट्रवाद का एकदम विलोम है।"[74] सांप्रदायिकता जहाँ राष्ट्र के एकीकरण में बाधक तत्व है वहीं राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रवादी विचार राष्ट्र के एकीकरण के साधक तत्व हैं।

इतिहासकार बिपन चंद्र ने अंग्रेजी हुकूमत की इस चाल पर अपने विचार कुछ इस प्रकार रखे हैं-" सांप्रदायिकता का इस्तेमाल राष्ट्रीय आंदोलन के विस्तार को रोकने, उसे कमज़ोर करने तथा भारतीय जनता को राष्ट्र के रूप में उभरने न देने के लिए किया। इसके लिए औपनिवेशिक शासकों ने बहाना यह बनाया कि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए सांप्रदायिक विभाजन जरूरी है। जैसे-जैसे भारत में ब्रिटिश राज कायम रखने के लिए सभ्यता फैलाने, पिछड़े देशों के प्रति गोरी जातियों की जिम्मेदारी, जन-कल्याण जैसे सिद्धांत अप्रतिष्ठित होते गए हिंदू-मुस्लिम विभेद और बहुसंख्यकों के वर्चस्व तथा दमन से अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की जरूरत का सिद्धांत बढ़-चढ़कर प्रतिपादित किया जाने

लगा।"[75] साथ ही इस बात की भी पूरी गुंजाइश छोड़ी कि यदि हिंदुस्तान से ब्रिटिश राज का सफ़ाया हो जाता है तो भी भविष्य में उनकी जरूरत एवं दखलअंदाजी बदस्तूर जारी रहेगी। इस साजिश में धर्म ने प्रमुख भूमिका अदा की और आज़ादी के 60 वर्षों के बाद भी यह प्रक्रिया चल रही है या यूं कहें कि और भी तेज हो चुकी है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सही अर्थों में राष्ट्रवाद का धर्म के साथ कोई संबंध नहीं है और न ही सांप्रदायिकता के साथ इसका कोई नाता है।दरअसल धर्म और सांप्रदायिकता के साथ इसे जोड़कर राष्ट्रवाद के विकृत रूप का प्रचार किया जाता है।राष्ट्रवादी विचारों का जन्म एक राष्ट्र की भावना को मजबूती देते हुए एकता स्थापित करने के लिए एवं स्वायत्त सरकार की स्थापना और औपनिवेशिक दासता को समाप्त करने के लिए हुआ था।कालान्तर में कुछ मौकापरस्तों ने अपने स्वार्थपूर्ण विचारों से इसे विकृत कर दिया।आज जिस रूप में राष्ट्रवादी विचारों को हमारे सम्मुख परोसा जा रहा है वे वास्तव में राष्ट्रवादी विचार हैं ही नहीं।ऐसे में राष्ट्रवाद को सांप्रदायिकता के साथ जोड़कर देखना जहाँ एक ओर राष्ट्रवाद की गलत व्याख्या होगी वहीं ऐसे विचार सांप्रदायिक विचारों को फलने-फूलने एवं पुष्ट करने में और भी सहायक होंगे।

## 1. 4. समाज, साहित्य और सांप्रदायिकता

रचनाकार युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा होता है।रचनाकार वक्त की नब्ज़ को हाथों में थामकर समाज की धड़कन को आवाज देता है।अपनी रचना के माध्यम से समाज की अच्छाईयों और बुराइयों से हमारा परिचय करवाता है।साथ ही आने वाले समय की चुनौतियों से हमें आगाह करता है।रचनाकार अपने हाथों में शब्दों को लेकर उनसे खेलता है और रचना गढ़ता है।इस क्रम में रचना-सृजन के दौर में आने वाले हर चरित्र को उसकी अच्छाइयों एवं बुराइयों के साथ पूरी समग्रता में प्रस्तुत करता है।चरित्रों को प्रस्तुत करने के लिए वह उसके सामाजिक

परिवेश का भी चित्रण करता है। नितान्त वैयक्तिक रचनाओं में भी कहीं न कहीं समाज का चित्रण रचनाकार जरूर करता है क्योंकि कहीं न कहीं सामाजिक परिवेश से मनुष्य प्रभावित जरूर होता है। सामाजिक परिवेश से ही मनुष्य के चरित्र में परिवर्तन भी आता है और समाज से ही वह संचालित भी होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि साहित्य का प्रमुख कर्तव्य एवं लक्ष्य मनुष्य और उसके समाज का चित्रण है। साधारण मनुष्य और रचनाकार के बीच के अन्त: संबंध पर विचार करते हुए रैल्फ फॉक्स कहते हैं- " लेखक और जनता के बीच एक विचित्र और पेचीदा संबंध है। यह केवल लेखक और पाठक का ही संबंध नहीं है, बल्कि इससे कहीं बड़ी चीज है। कारण कि जनता में विभिन्न श्रेणियों, विविध हितों, अनुराग-आकांक्षाओं और विभिन्न बौद्धिक स्तर वाले सभी प्रकार के स्त्री-पुरुष होते हैं। यह जनता (चाहे वह ऊपर से देखने में कितनी ही उदासीन और निष्क्रिय क्यों न लगती हो) प्रचन्ड वर्ग-संघर्षों, राष्ट्रीय और जातीय पूर्वाग्रहों तथा मानवता के जीवन में अपनी अनिवार्य गति से आगे बढ़ते हुए इतिहास की विरासत से आन्दोलित होती रहती है। जनता के बीच से ही लेखक अपने पात्रों को लेता है और उसके पााठक भी जनता के बीच से ही मिलते हैं। ... महान उपन्यासों में सृष्टा, पात्रों और पाठकों के बीच एक प्रकार की सजीव एकता होती है।"[76]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहते हैं- " जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला आता है। ...जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"[77] आचार्य शुक्ल के उपरोक्त कथन का यदि विवेचन करें तो देखा जा सकता है कि जनता की चित्तवृति का ही चित्रण साहित्य में

किया जाता है।जब-जब राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक एवं धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आया है तब-तब रचनाकारों ने इसे साहित्य में लक्षित किया है।जनता कहने से शुक्ल जी का तात्पर्य मानव समूह से है जो समाज में विभिन्न समुदायों में विभक्त हो गया था।कथासम्राट मुंशी प्रेमचन्द भी उपन्यासों को 'मानव चरित्र का चित्र' मानते थे अर्थात् मनुष्य के चरित्र को उसके पूरे सामाजिक परिवेश में, उसकी अच्छाइयों तथा बुराइयों के साथ चित्रित करना ही वे अपना प्रमुख उद्देश्य मानते थे।कहा भी गया है कि यदि उपन्यास जीवन की विस्तृत वनस्थली या रमणीय उद्यान है तो कहानी सुंदर फूलों का गुलदस्ता है।

मनुष्य को संचालित करनेवाली विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में धर्म, राजनीति एवं आर्थिक परिस्थितियाँ प्रमुख कारक हैं।इन कारकों में समय-समय पर परिवर्तन आते रहते हैं जिनके कारण सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन आता है।इन परिवर्तनों से मनुष्य स्वयं को बचाकर नहीं रख पाता क्योंकि समाज से सीधे-सीधे वह जुड़ा हुआ है।जब-जब सामाजिक परिवर्तन लक्षित होता है तब-तब उस परिवर्तन को रचनाकार अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करता है।उल्लेखनीय है कि साहित्य में वर्णित समाज और समाजशास्त्र में वर्णित समाज में अन्तर होता है।साहित्य में जिस समाज का वर्णन किया जाता है वह जीवन एवं संपूर्ण परिवेश को लिये हुए रहता है।वहाँ केवल मनुष्य के सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद आदि भावों का ही वर्णन नहीं होता बल्कि उन भावनाओं में मनुष्य का, प्रकृति का, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश भी शामिल होते हैं।प्रफुल्ल कोलख्यान लिखते हैं- " समाजशास्त्र में परिभाषित समाज और साहित्य में गृहित समाज के अर्थबोध में एक बुनियादी अंतर को सहज ही लक्षित किया जा सकता है।साहित्य में गृहित समाज का आशय इतना व्यापक होता है कि उसकी सीमा में विश्व की संपूर्ण मानव आबादी ही नहीं अपितु सारे चर-अचर, गोचर-अगोचर, जड़-जंगम, चेतन-अचेतन आदि आसानी से समाहित हो जाते हैं।साहित्य के विश्व

समाज से बाहर कुछ भी नहीं होता है। मनुष्य के सुख-दु:ख, हर्ष-उल्लास में नदी-सागर, पशु-पक्षी, ताल-तलैया सभी शामिल होते हैं। सभी मनुष्य की भाषा और संवेदना में सहज समाहित संवाद की सार्थक संभावनाएं रचते हैं।"[78] समाजशास्त्र में जिस समाज का वर्णन किया जाता है उसके केन्द्र में मनुष्य, उसके रीति-रिवाज़, धर्म, आस्था, सांस्कृतिक परिवेश होता है। इन सभी परिस्थितियों के आधार पर मनुष्य और उसके व्यवहार को समझने की कोशिश की जाती है। समाज में आये विभिन्न बदलावों का मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन किया जाता है जबकि साहित्य में इन बदलावों के आधार मनुष्य के व्यवहार में आये सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों का वर्णन करते हुए मनुष्य की मनुष्यता को बचाये रखने का प्रयास किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र का संबंध समाज क्या था, क्या है, और क्या होगा से है जबकि साहित्य का संबंध समाज क्या था, क्या है, और क्या होना चाहिए से है। मनुष्य के लिए क्या बेहतर है और क्या नहीं साहित्य का संबंध इसके साथ है। मनुष्यता को बचाये रखने की पूरी कोशिश रचनाकार अपनी लेखनी के माध्यम से करता है। यही कारण है कि रचनाकार किसी भी तरह की हिंसा का विरोध करते हुए निर्माण के पक्ष में खड़े होना अपना धर्म समझते हैं।

हिंसा किसी भी प्रकार की हो मनुष्य को पशु बना देती है। साहित्य मानवीयता के गुणों का प्रसार करता है तथा मनुष्य को पशुता से मानवीयता की ओर मोड़ता है। साहित्यकार का यह दायित्व होता है कि धर्म, संस्कृति, भाषा, वर्ण के आधार पर समाज में जो खाइयाँ हैं उन खाइयों को पाटने की कोशिश अपनी लेखनी के माध्यम से करे। सांप्रदायिकता हमारे समाज के लिए कोढ़ है। जिसमें कभी धर्म को मुद्दा बनाया जाता है तो कभी जाति को। कभी वर्ण मुद्दा बन जाता है तो कभी भाषा को मुद्दा बनाकर समाज में अव्यवस्था पैदा करने की कोशिश की जाती है। साहित्य में सांप्रदायिक विचारधारा से लड़ने का प्रयास दिखाई पड़ता

है। सांप्रदायिकता से जूझने का तरीका हर रचनाकार का अपना-अपना होता है। धर्म पर जब तक एक रचनाकार अपने समकालीन अन्य रचनाकारों से अलग ढंग से विचारने का प्रयास नहीं करेगा तब तक उसकी रचना का कोई मूल्य नहीं। इस संबंध में पंजाबी साहित्य के प्रख्यात ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार गुरदयाल सिंह कहते हैं - " यदि कोई कथाकार धर्म के सवालों से कुछ अलग तरह से जूझे और टकरायेगा नहीं तो उसकी रचना का साहित्यिक महत्व ही क्या रह जायेगा ? इसी कारण वह अलग तरह से सोचेगा भी और अलग जुबान में बोलेगा भी। परन्तु अलग सोचने और बोलने से पहले उसे समाज को जानना/समझना भी होगा। यदि वह दार्शनिक, समाजशास्त्री और आध्यात्मिक साधकों की नज़र से अपने समाज को जान/समझ नहीं पायेगा तो अलग तरह से सोचेगा या बोलेगा कैसे ?"[79]

वस्तुत: सांप्रदायिकता न तो किसी समुदाय का भला चाहती है, न ही यह संस्कृति की रक्षक या चिंतक है। सांप्रतिक समय में सांप्रदायिकता एक ऐसी विचारधारा के रूप में उभरकर आई है जो कहीं न कहीं अन्य समुदायों के प्रति बैर भाव रखती है। साथ ही यह अन्य समुदायों से अपने समुदाय के भले के लिए उनके हक को छीन लेती है। मगर धार्मिक होना एवं किसी खास समुदाय के कल्याण के लिए प्रयास करना सांप्रदायिकता की कोटि में नहीं आता। तब तक ऐसे किसी भी आचरण को सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता जब तक वह घृणा के भाव का प्रसार न करे, चाहे वह धर्म के नाम पर हो अथवा क्षेत्र के नाम पर। वर्तमान परिस्थितियों का आकलन करने पर यह बात काफी स्तर तक साफ हो जाती है कि शहरीकरण एवं मध्यवर्ग के उदय के साथ सांप्रदायिकता का प्रसार बढ़ता गया है। अन्यथा भारत की आज़ादी के बाद जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा हो गया, हिन्दुस्तान से कई मुसलमान पाकिस्तान चले गये और जो यहाँ थे उन्होनें स्वेच्छा से यहाँ रहना स्वीकार

किया था। साथ ही भारत के संविधान में सभी को बराबरी का हक दिया गया चाहे वह धर्म के नाम पर हो या कार्य के लिए हो, तो फिर स्वाधीनता के बाद क्यों सांप्रदायिकता का दावानल पसरता गया ? सांप्रदायिक दंगे कानपुर, भागलपुर, अहमदाबाद, दिल्ली, बंबई जैसे शहरों में ही भड़के हैं। भारत के ग्रामीण इलाके अभी भी इस आग से बचे हुए हैं लेकिन जिस रूप में यह बीमारी जंगल में लगी आग की तरह अपने पैर पसार रही है बहुत जल्द ही भारतीय ग्राम भी इसकी चपेट में आ जाएंगे या यह कहें कि सांप्रदायिक विचारधारा की चपेट में भारतीय ग्राम आने शुरू हो गये हैं तो अतिशयोक्ति न होगी।

हालांकि विभिन्न समुदायों के बीच आपसी वैमनस्य की घटना काफी पहले से चली आ रही है। इसी कारण समय-समय पर विभिन्न साहित्यकारों एवं समाज सुधारकों ने इस वैमनस्य को दूर करने का प्रयास किया। कबीर, जायसी आदि कवियों ने जहाँ एक ओर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच सामंजस्य बैठाने का प्रयास किया वहीं दूसरी तरफ एक ही धर्म के अलग-अलग संप्रदायों के बीच भी मतभेद समाप्त कर समरसता लाने की कोशिश की लेकिन सांप्रदायिक विचारधारा मूलत: आधुनिक युग की देन है अत: इस पर विचार करने के लिए आधुनिक काल की परिस्थितियों पर विचार करना होगा।

सांप्रदायिकता को मध्ययुग में तलाशने में हमारे इतिहासकारों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। जिस भी इतिहासकार ने इतिहास लेखन की चेष्टा की कहीं न कहीं सांप्रदायिक भावना से ग्रस्त होकर तथ्यों का इस्तेमाल किया। इस कार्य को औपनिवेशिक सत्ता ने ज्यादा कारगर ढंग से अंजाम दिया। अपने स्वार्थ साधने के लिए एवं हिन्दुस्तान की दो महान जातियों को अलग करने के लिए हिन्दुस्तान का इतिहास लिखा जिनमें उन इतिहासकारों ने उन्हीं तथ्यों का इस्तेमाल किया जो हिन्दू और मुसलमान के बीच वैमनस्य खड़ा कर सके। बाद के

इतिहासकारों ने भी बिना तथ्यों की जाँच-पड़ताल किये इन इतिहासकारों के द्वारा दिये गये तथ्यों पर भरोसा किया और इस तरह धीरे-धीरे सांप्रदायिक विचारधारा मजबूत होती गई।

औपनिवेशिक दौर में सहित्य ने अनजाने ही सही कहीं न कहीं सांप्रदायिक विचारधारा के प्रसार में अपना योगदान दिया था। इस दौर में औपनिवेशिक सत्ता के शोषक चरित्र को उजागर करने के लिए, साधारण जन में चेतना जगाने के लिए रचनाकार सीधे-सीधे औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिनिधियों एवं उनके विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम के जनप्रतिधियों को खड़ा नहीं कर सकता था। इसलिए रचनाकारों ने पौराणिक कथाओं, मिथको एवं इतिहास के पात्रों का चयन किया। स्वाभाविक था कि वे पृथ्वीराज चौहान, शिवाजी और पेशवा राजाओं को कथानायक के रूप में पेश करेगें। इनके विरुद्ध जिन खलनायकों को प्रस्तुत किया गया वे मुसलमान ही थे। यह उस दौर के रचनाकारों के लिए जैसे परम्परा ही बन गयी। साहित्यकारों का उद्देश्य कदापि यह न था कि वे मुस्लिम बादशाहों को अथवा मुस्लिम जनता को अपने निशाने पर लें लेकिन यह अनायास ही हो गया। साधारण जनता जो इन रचनाओं से होकर गुज़री वह भी मुसलमानों के प्रति अपने मन में बैर भाव रखने लगी और उन्हें शक की निगाहों से देखने लगी। इन रचनाओं में मुसलमान शासकों के आक्रमणकारी, नृशंस एवं हिन्दू विरोधी चरित्र को दिखलाया गया। जिस कारण साधारण जनता के दिमाग में मुसलमानों का यही चरित्र बन गया। इस रूप में सांप्रदायिक भावना का प्रसार हमारे समाज में होने लगा।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के रचनाकारों ने इस तथ्य को समझा। इसलिए रचनाकारों ने सीधे-सीधे सांप्रदायिक विचारधारा और हिंसा के कारणों का उल्लेख खुलेआम करना शुरु किया। सांप्रदायिक विभीषिका की आग का चित्रण साहित्य सृजन के हर आयाम, फिर चाहे वह कविता हो या उपन्यास या फिर कहानी हो, रचनाकारों ने अलग-अलग नजरिये से पेश करने की कोशिश की है। चाहे वह हिन्दी साहित्य के रचनाकार हों या अंग्रेजी

साहित्य के, मराठी साहित्य के रचनाकार हों या बांग्ला भाषा के साहित्यकार। हर साहित्य में सांप्रदायिकता तथा धार्मिक आडम्बरों पर प्रहार किया गया है। साथ ही सांप्रदायिकता के प्रमुख कारक तत्वों की खोज एवं पहचान की गयी। साहित्यकार का काम केवल नंगा यथार्थ ही प्रस्तुत करना नहीं होता, बल्कि उसके साथ-साथ समाज के मानवीय तत्वों का चित्रण भी वह अपनी रचना में करता है। साहित्यकार का उद्देश्य मनुष्य की संवेदना के उन तारों को छेड़ना होता है जिन्हें भुला देने के कारण ही मनुष्य अपनी मानवीयता को त्यागकर पशु बन जाता है। साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से उसी मानवीयता को पुन: जागृत करता है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही सांप्रदायिकता के भयावह चेहरे को उघाड़ने का प्रयास साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किया। देश की आज़ादी सत्ता लोभियों के लिए जहाँ एक ओर जश्न का माहौल लेकर आयी चाहे वह हिन्दुस्तान का हुक्मरान हो या फिर पाकिस्तान का। वहीं दूसरी ओर यही आज़ादी आम लोगों के लिए गहरे दु:ख और विषाद के क्षण लेकर आयी चाहे वह किसी भी ओर रहा हो। यह आज़ादी आम इंसान के ज़ेहन में ऐसे जख़्म छोड़ गयी जिसे जितना भरने की कोशिश की गयी वह उतना ही हरा होता गया है। ऐसे में साहित्य ने यह दायित्व स्वीकारा किया और अपनी लेखनी के माध्यम से सांप्रदायिकता के पीछे छुपी हुई सत्तालोलुप राजनेताओं की नीतियों को सामने लाने का प्रयास किया। इसके साथ ही इतिहास में तथ्यों, आंकड़ों एवं वास्तविकता के बीच कुछ स्थान खाली पड़े होते हैं जिन्हें भरने का काम साहित्यकार अपनी कल्पना के माध्यम से करता है। कई बार साहित्यकार की यह कल्पना इतिहास को फिर से व्याख्यायित करने के लिए बाध्य करती है और उन खाली पड़े हुए स्थानों को भरने में मदद देती है। इस संबंध में नरेन्द्र मोहन के विचार उल्लेखनीय हैं-" साहित्य इतिहास का खोया हुआ, बिछड़ा हुआ रूप या प्रतिरूप बेशक न हो, उसमें इतिहास को देखने का एक नज़रिया रहता ही है जो इतिहास को

परखने की एक दृष्टि के रूप में उभर सकता है। हमारे विचार में विभाजन के वक्त और उसके बाद रचित भारतीय साहित्य के अध्ययन से विभाजन सम्बन्धी इतिहास लेखन में कुछ नया जुड़ सकता है और इससे उन सूत्रों को सुलझाने में मदद मिल सकती है जो विभाजन की पृष्ठभूमि में दबे पड़े है।"[80]

साहित्यकार का समाज के प्रति दायित्व क्या है ? और वह सांप्रदायिकता जैसी सामाजिक विकृति के संबंध में क्या सोचता है ? इस संबंध में प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी के विचार हैं- " गुजरात और उसके बाद का माहौल साहित्यकारों के लिए चिन्ता, दुख, संघर्ष और पस्ती का माहौल रहा है। संवेदनशील जनता यातना में रही है। बौद्धिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, पत्रकारीय जगत पर दिन-रात नए-नए दबाव बना रही है। सोच-सोचकर दिल बैठ जाता है कि क्या कबीर, तुलसी, प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध, के मूल्य चन्द कट्टरतावादी यों ही उड़ा देंगे ? हिन्दी के साहित्यकारों और पाठकों के दिल-दिमाग गुजरात के बाद ऐसे ही सवालों से टकराते रहते हैं।"[81] सुधीश पचौरी ने साहित्यकार के दायित्व को गुजरात में हुए भीषण नरसंहार के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है और साहित्यकारों से यह अपील की है कि और कुछ न सही लेकिन कम से कम साहित्यकार चुप न बैठें। सृजनरत साहित्यकार हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख या ईसाई नहीं रहता बल्कि व्यापक धरातल प्राप्त करते हुए वह मानव ही बना रहता है, एक आम आदमी जिसकी संवेदना मानवीयता के धरातल पर विस्तृत हो जाती है।

मानव जीवन और उसके आस-पास के परिवेश का सीधा असर हम रचनाओं में देख सकते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा हैं-" साहित्य मानव-जीवन से सीधे उत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य पढ़ने से हम जीवन के साथ ताजा और घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण

होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है।"[82] आधुनिक काल में समय-समय पर सांप्रदायिकता को केन्द्र में रखकर रचनाएं लिखी गई हैं। एक ओर शमशेर बहादुर सिंह, कात्यायनी, कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, लीलाधर जगूड़ी जैसे कवियों ने कविताएं लिखी हैं तो दूसरी ओर मोहन राकेश, यशपाल, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, राही मासूम रज़ा जैसे कथाकारों ने रचनाएं लिखीं।

मनुष्य जीवन ही वह स्त्रोत है जहाँ से साहित्य रचने के लिए साहित्यकार को खाद-पानी मिलता है। कोई भी रचनाकार अपने समय और समाज का चिकित्सक होता है जो अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में फैली बीमारियों से न केवल अवगत कराता है बल्कि आवश्यक उपचार भी सुझाता है कभी हृदय परिवर्तन के माध्यम से तो कभी अपने व्यंग्यों के तीक्ष्ण बाणों से। समकालीन रचनाकार धार्मिक रूढ़ियों एवं धर्म के नाम पर सांप्रदायिक उन्माद के खिलाफ आवाज़ उठाना अपना दायित्व समझता है। इसी कारण जब-जब सांप्रदायिकता समाज के साधारण जन पर अपने पंजे गाड़ने लगती है साहित्यकार अपने पूरे सामर्थ्य के साथ विरोध करता है। कवयित्री कात्यायनी कहती हैं-"... सांप्रदायिकता के विरुद्ध जनवादी राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ धार्मिक विश्व दृष्टिकोण के विरूद्ध सुदीर्घ दार्शनिक विचारधारात्मक संघर्ष चलाना हर उस व्यक्ति का बुनियादी दायित्व है जो वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण का पक्षधर होने का दावा करता है। जाहिर है यह काम केवल नास्तिकता का प्रचार या धर्म का विरोध करके नहीं हो सकता, बल्कि हमें उन सामाजिक जीवन स्थितियों की भी प्रखर आलोचना करनी होगी जो तमाम धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं के लिए वस्तुगत आधार की भूमिका निभाती है।"[83] धर्म और आस्था आज के समय मे ऐसी वस्तु बन चुकी है जो किसी भी प्रश्न अथवा शंका के दायरे से बाहर है।

हम आज के समय में एक ऐसे समाज में जीवन जी रहे है जहाँ धर्म को संदेह की दृष्टि से देखने वाले को ही संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। कहने के लिए भले ही यह कह लें कि धर्म व्यक्तिगत वस्तु है। मानव के भीतर स्वतंत्र एवं उदार चेतना के प्रसार के लिए धर्म का आविर्भाव हुआ था लेकिन धर्म का व्यावहारिक चरित्र ऐसा बिल्कुल नहीं है। व्यवहार में धर्म बाल-मन से ही अपना वर्चस्व कायम कर लेता है और इससे पहले कि वह वयस्क होकर अपने लिए सही और गलत का चुनाव करे धर्म के वशीभूत होकर मनुष्य अपना आचरण धर्म के अनुरूप व्यवहार में लाने लगता है। धर्म और ईश्वर में विश्वास के कारण ही मनुष्य अपना आत्मबल एवं आत्मविश्वास खोता जाता है क्योंकि धर्म यदि बचपन से ही अपना वर्चस्व कायम न करे तो संभव है कि वे तर्क की कसौटी पर कसकर ही धर्म को स्वीकार करेंगे और संसार के किसी भी धर्म में इतनी वैज्ञानिकता नहीं जो मनुष्य के सामान्य से तर्कों का सामना कर सके इसलिए संभव यह भी है कि वे किसी भी धर्म को स्वीकार न भी करें।

कथा साहित्य में सांप्रदायिकता की विभीषिका गंभीरता तथा व्यापकता के साथ चित्रित हुई है। भारतीय उपन्यास एवं कहानियों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती हैं। भारतीय लेखकों ने सांप्रदायिकता के विरूद्ध आवाज उठाना अपना नैतिक दायित्व समझा है और उसका निर्वहन किया है। हिन्दी में ऐसे कथाकारों की लम्बी परंपरा रही है। अज्ञेय, अमृतराय, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, देवेन्द्र इस्सर, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, बदीउज्जमाँ, महीप सिंह, विष्णु प्रभाकर, राजी सेठ आदि कथाकारों का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। ये कथाकार सांप्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाते हैं। अपनी कहानियों में इन लेखकों ने सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने वाले तत्वों से केवल पाठकों को अवगत कराने का प्रयास नहीं किया बल्कि उसके साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक

तथा सांस्कृतिक पक्षों को भी उजागर करने का प्रयास किया है।अनेक कहानियों में कहानीकारों ने सांप्रदायिक हिंसा में फँसे साधारण मानव की मनोवैज्ञानिक दशा का भी चित्रण किया है।

भारत विभाजन और स्वतंत्रता हासिल करने के काफी पहले ही कथाकार मुंशी प्रेमचन्द सांप्रदायिकता रूपी दानव के खूंखार पंजों को देख चुके थे।इसी कारण समय-समय पर उन्होने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों के माध्यम से इसे दर्शाने का प्रयास किया।प्रेमचन्द के कथा-संसार में प्राय: हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के संगी साथी के रूप में प्रस्तुत किया गया है हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति को प्रेमचन्द ने गंगा-जमुना की संस्कृति के रूप में पेश किया है।भारत का विभाजन अपने साथ कई मानसिक व्याधियाँ भी लेकर आया।वह पीढ़ी जो आज़ादी से पहले संयमी, आदर्शवादी, स्वप्नदर्शी, सच्चरित्र थी आज़ादी के तत्काल बाद सत्तालोलुप, स्वार्थलोलुप एवं भ्रष्टाचारी बन गयी।आज़ादी के बाद जिस राजनीतिक वर्ग का जन्म हुआ वह साधारण जनता की सेवा करने के बजाय उसका खून चूसने लगा और अपने लिए ज्यादा से ज्यादा सुविधाएं बटोरने लगा।इस बदले हुए यथार्थ ने कथा साहित्य में नये दौर को जन्म दिया।यद्यपि आज़ादी के बाद देश में विकास से संबंधित नयी-नयी परियोजनाएं शुरू की गयीं लेकिन इनके बीच से जो मनुष्य उभरा वह अत्यन्त विकृत था।नैतिकताएं छूटती गयी और मनुष्य मे क्षुद्रता बढ़ती गयी।इन परिस्थियों से जूझते हुए नये कथाकार का जन्म हुआ जो कपोल कल्पना से तो बहुत पहले ही निकल चुका था लेकिन अब भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्त करना अपना रचनात्मक लक्ष्य मानता था।इसी कारण बाद की रचनाओं में टूटन, विस्थापन, अलगावबोध, अकेलापन, अज़नबीयत देखी जा सकती है।भले ही ये शब्द पाश्चात्य साहित्य जगत से हिन्दी साहित्य में आये हैं परन्तु परिस्थितियों के आधार पर यह कह सकते हैं कि इनकी अभिव्यक्ति नितान्त देशी परिस्थितियों में हुई।पाश्चात्य जगत् में

यह परिस्थिति विश्वयुद्ध जनित थी जबकि भारत में यह परिस्थिति विभाजन से उत्पन्न हुई थी।

भारत के विभाजन के कारण वे मानवीय मूल्य जिनकी कभी वकालत की जाती थी, उनमें भी परिवर्तन आने लगा। विभाजन के दौर में दो प्रकार की मानसिक अवस्थाएं देखी गयी। पहली अवस्था वह थी जिसमें मनुष्य ने दबाव को झेला लेकिन उन दबावों में आकर मानवीय मूल्यों का त्याग नहीं किया। वहीं दूसरी ओर एक और मानसिक अवस्था उत्पन्न हुई जिसमें बदले की भावना उत्पन्न हुई और इस भावना के तहत  मनुष्य ने सभी मानवीय मूल्यों को त्याग दिया और या तो वह हिन्दू बन बैठा या मुसलमान या फिर सिक्ख। इस मानसिक अवस्था को लेकर ही अज्ञेय ने **'शरणदाता', 'बदला', 'रमंते तत्र देवता'** जैसी बेजोड़ कहानियां लिखी। इन कहानियों में अज्ञेय ने मुख्य रूप से दम तोड़ती मानवता का चित्रण तो किया ही है साथ ही साथ उन सह्रदय मनुष्यों के दर्द को भी चित्रित किया है जो विभाजन के दौर में कुछ न कर पाने की स्थिति में निरुपाय बनकर रहने के लिए विवश थे, मज़बूर थे। लेखक ने विभाजन के अमानवीय दौर में मानवीयता को बचाये रखने का प्रयास अपने पात्रों के माध्यम से किया है।

मोहन राकेश की कहानी है **'मलवे का मालिक'**। इस कहानी में गनी मियां उस व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो विभाजन के बाद के दबावों के बावजूद अपने मानवीय मूल्यों का त्याग नहीं करता और उसी आत्मीयता से अपने मुहल्ले में आकर रक्खा पहलवान से मिलता है। वहीं दूसरी ओर रक्खा पहलवान ऐसे व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने तमाम मानवीय मूल्यों का त्याग कर देता है। ये परिस्थिति दंगों और विभाजन से उत्पन्न हुई थी। इस क्रम में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की **'खुदाराम', 'मलंग'** और **'शाप'** कहानियों को भी लिया जा सकता है। **'खुदाराम'** कहानी का पात्र खुदारम सांप्रदायिक हिंसा के दौर में भी

अपना विवेक नहीं खोता है। नगर के बच्चों और औरतों को इकट्ठा कर हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त करने का प्रयास करता है। भीष्म साहनी की एक कहानी **'अमृतसर आ गया है'** स्मरण में आती है जिसका पात्र बाबू बदलती स्थितियों के अनुरूप क्रूर मानसिकता का शिकार हो जाता है। कृष्णा सोबती की कहानी **'सिक्का बदल गया'** भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। विभाजन के बाद मानसिकता में आये परिवर्तन का ही परिणाम है इस कहानी का पात्र शेरा। शेरा की नज़र शाहनी की सम्पत्ति पर है। वह उसे हथियाने और शाहनी की हत्या करने की योजना भी बनाता है लेकिन उतनी हिम्मत नहीं जुटा पाता। लेखिका ने शेरा के माध्यम से उन्हीं मानवीय मूल्यों को पुन: स्थापित करने का प्रयास किया है जिसे विभाजनजनित परिस्थितियों के कारण मनुष्य भुला चुका था।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश में आये इस परिवर्तन को लक्षित करते हुए कथाकार कमलेश्वर कहते हैं- " विभाजन में कत्ल, बलात्कार और अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि ऊपर से साबुत दिखायी पड़ने वाला आदमी भी भीतर से पूरी तरह चटख गया था और उसके सारे विश्वास और मूल्य बर्बरता की आँधी में उड़ गये थे। अपंग, कटे-फटे और रक्तस्नात आदमियों के काफिले तो दोनों ओर से आये और गये ही थे पर एक भीषण और उससे भी ज़्यादा भयानक रक्तपात आदमी के भीतर हुआ था। दोनों देशों में तो कई लाख आदमी मरे थे, पर जिस आदमी ने इस रक्तपात को झेला और भोगा था, उसके भीतर सदियों में बने और करोड़ो ज़िन्दगियों द्वारा बनाये गये विश्वासों का ध्वंश हुआ था। इसीलिए देशों की सीमाएँ पार करने वाले शरणार्थियों से भी ज्यादा शरणार्थी वे थे, जिनके मानवीय मूल्यों की हत्या हो गयी थी।"[84] मानसिकता के धरातल पर आये इस परिवर्तित मानसिकता से ग्रस्त मनुष्य का चित्रण कथाकारों ने अपनी कहानियों में किया है। समकालीन कथाकारों में संजीव एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। वैसे संजीव ने अपनी कहानियों में सांप्रदायिकता को सीधे-सीधे तो

वर्ण्य-विषय नहीं बनाया है लेकिन आवश्यकता अनुरूप प्रसंगवश धर्म और सांप्रदायिकता के पीछे छिपे हिंस्र चेहरो पर प्रहार अवश्य किया है। विभाजन के बाद बुद्धिजीवियों ने यह प्रश्न हर बार किया है कि क्या विभाजन से संस्कृति को भी विभाजित किया जा सका ? क्या संस्कृति में ऐसे तत्व हैं जिन्हें विभाजित कर पाना संभव है ?

कथा साहित्य का एक और प्रमुख अंग है उपन्यास। आज़ादी के तत्काल बाद ही विभाजन में हुई मार-काट, आगजनी, लूट, बलात्कार आदि कुकृत्यों ने रचनाकारों के अंतस् को भीतर से हिला कर रख दिया था। इस कारण विभिन्न भारतीय भाषाओं के रचनाकारों ने सांप्रदायिकता को ध्यान में रखकर अपनी रचनाओं का ताना-बाना बुना। इन रचनाकारों में कुछ ऐसे रचनाकार थे जिन्होनें विभाजन के बाद की विभीषिका को प्रत्यक्षत: देखा, भोगा था। अन्य शब्दों में कहें तो इन रचनाकारों की रचनाएं इनके भोगे हुए यथार्थ की ही परिणति थी। वहीं कुछ ऐसे भी रचनाकार थे जिन्होने सीधे-सीधे तो इस पीड़ा को भोगा नहीं था लेकिन कल्पना के जरिये, संवेदनात्मक धरातल पर सांप्रदायिकता के क्रूरतम पक्षों को सफलतापूर्वक उजागर किया है। इसका तात्पर्य यह बिल्कुल भी नहीं कि जिन रचनाकारों ने अपने भोगे हुए यथार्थ को बयां किया उनकी रचनाएं ही सफल हो पायीं। हर रचनाकार ने पूरी ईमानदारी के साथ समाज के प्रति अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन सफलतापूर्वक किया है।

इस क्रम में में देवेन्द्र सत्यार्थी (**'कठपुतली'**), यशपाल (**'झूठा-सच'**), भीष्म साहनी (**'तमस'**), राही मासूम रज़ा (**'आधा गाँव'**, **'टोपी शुक्ला'**, **'ओस की बूँद'**, **'हिम्मत जौनपुरी'**), मंजूर एहतेशाम (**'सूखा बरगद'**), अब्दुल बिस्मिल्लाह (**'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'**, **'मदरसा'**), विभूति नारायण राय (**'शहर में कर्फ्यू'**), बदीउज्जमा (**'छाको की वापसी'**), गीतांजलि श्री (**'हमारा शहर उस बरस'**), कृष्णा सोबती (**'जिन्दगीनामा'**),

कमलेश्वर (**'लौटे हुए मुसाफिर', 'कितने पाकिस्तान'**), महुआ माजी (**'मैं बोरिशाइल्ला'**), नासिरा शर्मा (**'ज़िन्दा मुहावरे'**), भगवान दास मोरवाल (**'काला पहाड़'**), प्रियंवद (**'वे वहाँ कैद हैं'**), मो. आरिफ (**'उपयात्रा'**), व्यास मिश्र (**'अगिन पाथर'**)आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

लगभग हर उपन्यासकार की चिंता इस बात को लेकर रही है कि आखिर जिस इंसान को बार-बार मानवीयता का पाठ पढ़ाया जाता है वह सांप्रदायिक उन्माद में अपना विवेक खो कर हिंसा पर उतारू क्यों हो जाता है ? धर्म, जाति, भाषा, वर्ण और क्षेत्र के नाम पर आखिर कब तक व्यक्ति-व्यक्ति से लड़ता रहेगा। यह मुद्दा लगभग हर रचनाकार ने अपनी रचना के माध्यम से उठाने का प्रयास किया है। हर रचनाकार ने अपनी रचना में विभाजन के दौर और सांप्रदायिक दंगों के पीछे छुपे सत्ताधारी और विपक्ष के राजनेताओं की भूमिका पर भी सवाल खड़े किये हैं। साथ ही इन पक्ष-प्रतिपक्ष के नेताओं द्वारा किस प्रकार साधारण जनमानस की धार्मिक भावनाओं के साथ खेला जाता है, उसे छला जाता है और सांप्रदायिक हिंसा के बाद अपना उल्लू सीधा करके ये नेता उस साधारण जन को कैसे दूध से निकाली मक्खी की तरह फेंक देता है इसका चित्रण भी हर कथाकार ने अपनी रचना में किया है। इन दंगों में फँसनेवाला साधारण व्यक्ति किस प्रकार अपने धर्म के प्रति ही विरक्त हो जाता है यह भी रचनाकारों ने उपन्यासों में दिखलाने का प्रयास किया है। सांप्रदायिक दंगों से यदि समाज का कोई तबका सबसे ज्यादा प्रभावित होता है तो वह है निम्नवर्ग। चाहे परिस्थितियाँ कैसी भी हों इन्हें अपने घरों से बाहर निकालना ही पड़ता है। घर से बाहर निकलने पर किसी बन्दूक की गोली या किसी चाकू के वार का वे शिकार होंगे और न निकलने पर भूख की मार से मरेंगे लेकिन मौत निश्चित है। निम्नवर्ग का व्यक्ति न तो हिंदू होता है और न ही मुसलमान। उसका बस एक ही धर्म होता है और वह है उसका काम, उसका पेशा।

अमूमन हर रचनाकार ने धर्म और ईश्वर की निस्सारता और मानवतावद की स्थापना पर जोर दिया है। धर्म के पीछे छुपे अवसरवादी मनोवृति को पूरी ईमानदारी के साथ हर रचनाकार ने अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। जहाँ इन रचनाकारों ने सांप्रदायिक हिंसा के दौरान मनुष्य के पशु बनते जाने पर अपनी चिन्ता जाहिर की है वहीं कुछ ऐसे पात्रों की भी सृष्टि की है जो इस प्रकार की हिंसा के दौर में भी अपना विवेक नहीं खोते और हर प्रकार के जोखि़म उठने के लिए तैयार रहते हैं।

उपन्यासकारों ने इस बात पर जोर देने की कोशिश की है कि सांप्रदायिक दंगों में अपने विवेक का त्याग कर हिंसा की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्ति को अंततः कुछ भी हासिल नही होता। इसका पूरा फायदा केवल और केवल उन लोगों को ही मिलता है जिनका इस हिंसा में कोई स्वार्थ निहित होता है। साधारण मनुष्य तो बस इनके कुचक्रों का शिकार बन जाता है। भारत में रहनेवाले उन मुसलमानों का कुछ ऐसा ही हाल हुआ जिन्होंने पाकिस्तान की माँग को जायज़ ठहराया और मुस्लिम लीग का साथ दिया। उन मुसलमानों को तो अन्ततः कुछ हासिल नहीं हुआ जो भारत में ही रह गये साथ ही वे जो भारत से पाकिस्तान गये उन्हें भी दूसरे दर्ज़े की नागरिकता हासिल हुई और उन्हें 'मुहाज़िर' कहा जाने लगा। बांग्लादेश के वे हिन्दू नागरिक जो भाषा के नाम पर पाकिस्तान का विरोध अपने अन्य देशवासियों के साथ मिलकर कर रहे थे, उसके विरुद्ध संघर्षरत थे उन्हें भी स्वतंत्र बांग्लादेश में आज दूसरा दर्जा ही प्राप्त है। उन्हें 'मालाउन' कहकर सम्बोधित किया जाता है। इस परिस्थिति का चित्रण महुआ माजी ने अपने उपन्यास **' मैं बोरिशाइल्ला'** में किया है। सांप्रदायिकता आधारित इन विभिन्न उपन्यासों में यह विचार प्रस्तुत हुआ है कि सांप्रदायिकता केवल धर्म पर ही आधारित हो, ऐसा नहीं है। धर्म के अलावा भाषा, वर्ण को तो सांप्रदायिकता के संदर्भ में उठाया गया

ही है इसके साथ ही साथ सांप्रदायिकता के पीछे छुपे आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कारणों को भी उजागर किया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि धर्म का सांप्रदायिकता के साथ कोई संबंध नहीं है। कुछ स्वार्थी तत्वों के हाथों में पड़ जाने के कारण धर्म का इस्तमाल किया जा रहा है। संप्रदाय के अन्तर्गत सामूहिकता की भावना सर्वप्रथम शर्त के रूप में आती है। परन्तु राजनीति के साथ धर्म और संप्रदाय के घाल-मेल के कारण सांप्रदायिकता बढ़ी है। राष्ट्रवादी विचार भारतीय समाज के लिए अत्यंत आवश्यक थे लेकिन विकृत इतिहास के कारण राष्ट्रवाद भी सांप्रदायिकता का कारण बन गया जबकि राष्ट्रवादी विचार सांप्रदायिकता की विचारधारा के ठीक उलट है। साहित्य मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम प्राचीन काल से रहा है। मनुष्य और समाज पर सांप्रदायिकता के प्रभावों का व्यापक चित्रण साहित्य में किया गया है। विभाजन और सांप्रदायिक त्रासदियों से जुड़ा हुआ साहित्य बताता है कि समय रहते ऐसे मामलों को समझा जाय और तद्नुरूप आचरण किया जाय। एक ओर सांप्रदायिकता का मुकाबला करना है, तो दूसरी ओर राजनीतिक दुश्चक्रों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसी परिस्थितियों में अपने विवेक को जागृत रखने की सीख ये रचनाएं देती हैं। ये रचनाएं अन्तत: मनुष्य को मनुष्य बने रहने की अपील करती हैं। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र की परिधि से बाहर निकलकर मनुष्य के मनुष्य बने रहने में अपनी आस्था हर साहित्यकार प्रकट करता हैं।

**संदर्भ ग्रंथ सूची :-**


1. वर्मा, आचार्य रामचंद्र (संपादक), प्रामाणिक हिंदी कोश, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण-1999, पृष्ठ संख्या-417
2. पाटील, डॉ. शैलजा, तमस :एक अध्ययन (उद्‌धृत), शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-83
3. विवेकानन्द (गतांक से आगे)-सर्वागवेदान्त, समन्वय-2, अंक-9, संस्करण-1980, पृष्ठ संख्या-399
4. वर्णेकर, डॉ. श्रीधर भास्कर (संपादक), संस्कृत वांङ्मय कोश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, खंड- प्रथम, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-35
5. अवस्थी, आचार्य बच्चूलाल, तुलसी शब्द कोश, बुक्स एंड बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-486
6. वसु, नगेन्द्रनाथ, हिन्दी विश्वकोश, बी.आर.पब्लिशींग कॉरपोरेशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1986, पृष्ठ संख्या-100
7. वही, पृष्ठ संख्या-106
8. इलिएड, मिरसिया (मुख्य संपादक), द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन, मैक्मिलन पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयार्क, खंड-12, प्रकाशन वर्ष-1987, पृष्ठ संख्या-286
9. हेस्टींग्स, जेम्स (संपादक), इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन एंड एथिक्स, चार्ल्स स्कृबनर्स सन्स, न्यूयार्क, खंड-10, प्रकाशन वर्ष-1956, पृष्ठ संख्या-662
10. शंभुनाथ (संपादक), यंग इंड़िया-12/5/1920, उदधृत-समकालीन सृजन संदभ, 'धर्म, आतंकवाद, आज़ादी', कोलकाता, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-10
11. लाल, बसंत कुमार, कंटेम्प्ररी इंडियन फिलोसफी (उद्‌धृत), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2002, पृष्ठ संख्या-288
12. चतुर्वेदी, महेन्द्र, गाँधी, नेहरू, टैगोर और अम्बेडकर, बोहरा पब्लिशर्सएंड डिस्ट्रीब्यूटस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या-127
13. वही, पृष्ठ संख्या-85
14. चंद्र, बिपन , भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-332
15. झा, माखन, एन इनट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपॉलॉजी, विकास पब्लिशींग हाऊस प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-150
16. वही, पृष्ठ संख्या-151
17. वही, पृष्ठ संख्या-151
18. वही, पृष्ठ संख्या-156
19. वही, पृष्ठ संख्या-156
20. श्रीमाली, कृष्ण मोहन, धर्म, समाज और संस्कृति, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया)प्रा.लि., दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-200
21. एडवर्डस, पॉल (मुख्य संपादक), द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी, मैक्मिलन कंपनी एंड फ्री

प्रेस, न्यूयार्क, खंड-12, संस्करण-1967, पृष्ठ संख्या-140
22. वही, पृष्ठ संख्या-140
23. वही, पृष्ठ संख्या-140
24. वही, पृष्ठ संख्या-140
25. रेटक्लिफ, सुसान (संपादक), ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ कोटेशन्स एंड प्रोवर्ब्स, ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-233
26. बुकर, जॉन (संपादक), द ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड रिलिजियन्स, ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, संस्करण-1997, पृष्ठ संख्या-15
27. शंकर (संपादक), परिकथा, वर्ष-3, वर्ष-14, मई-जून-2008, पृष्ठ संख्या-10
28. मोहन, नरेन्द्र, धर्म और सांप्रदायिकता, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-12
29. प्रेमचंद, रंगभूमि, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-468
30. किशोर, कृष्ण ( संपादक), अन्यथा, अंक-11, दिसम्बर 2007-फरवरी-2008, पृष्ठ संख्या-10
31. वर्मा, आचार्य रामचंद (संपादक), प्रामाणिक हिंदी कोश, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण-1999, पृष्ठ संख्या-809
32. इलिएड, मिरसिया (मुख्य संपादक), द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन, मैक्मिलन पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयार्क, खंड-12, संस्करण-1987, पृष्ठ संख्या-286
33. झा, माखन, एन इनट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपॉलॉजी, विकास पब्लिशींग हाऊस प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-47
34. वही, पृष्ठ संख्या-47
35. वही, पृष्ठ संख्या-47
36. वही, पृष्ठ संख्या-47
37. वही, पृष्ठ संख्या-47
38. टेलर, ई.बी., डिक्शनरी ऑफ एनथ्रोपॉलॉजी, डब्ल्यू.आर.गोयल पब्लिशर एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण-1999, पृष्ठ संख्या-125
39. सिम्पसन्, जे.ए. और वाईनर इ.एस.सी. ,द ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, भाग-3, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, संस्करण-1991,पृष्ठ संख्या-576
40. वर्मा, आचार्य रामचंद (संपादक), प्रामाणिक हिन्दी कोश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1999, पृष्ठ संख्या-846
41. मोहन, नरेन्द्र, धर्म और सांप्रदायिकता, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2006, पृष्ठ संख्या-29
42. चंद्र, बिपन , भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-319
43. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2007,पृष्ठ संख्या-121
44. वही, पृष्ठ संख्या-69
45. इंजीनियर, असगर अली, कम्यूनलिज्म इन इंड़िया, अजन्ता पब्लिकेशन्स (इंड़िया), दिल्ली,

संस्करण-1985, पृष्ठ संख्या-194
46. ठाकुर, खगेन्द्र (संपादक), प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या- 79
47. चंद, बिपन , सांप्रदायिकता: एक अध्ययन, अनामिका पाब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-39
48. वही, पृष्ठ संख्या-40
49. ठाकुर, खगेन्द्र (संपादक), प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या- 80
50. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-61
51. चंद्र, बिपन , सांप्रदायिकता: एक अध्ययन, अनामिका पाब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, संस्करण-2004,पृष्ठ संख्या-11
52. इंजीनियर, असगर अली, भारत में साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2007,पृष्ठ संख्या-69
53. हरिनारायण (संपादक), कथादेश, नई दिल्ली, मई-2007, पृष्ठ संख्या-47
54. किशोर, कृष्ण ( संपादक), अन्यथा, अंक-11, दिसम्बर 2007-फरवरी-2008, पृष्ठ संख्या-97
55. वर्मा, लालबहादुर (संपादक), मुहिम, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, जनवरी-फरवरी- 2009, पृष्ठ संख्या-4
56. बिष्ट, पंकज (संपादक), समयांतर, दिलशान गार्डन, दिल्ली, वर्ष-40, अंक-2, नवंबर-2008, पृष्ठ संख्या-12
57. किशोर, कृष्ण ( संपादक), अन्यथा, अंक-11, दिसम्बर 2007-फरवरी-2008, पृष्ठ संख्या-4
58. दास, श्यामसुन्दर (संपादक), हिंदी शब्दसागर, आठवां भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण-1971, पृष्ठ संख्या- 4172
59. एलियट, जूलीया (संपादक),ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी एंड थिसोरस-III, ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-496
60. http://www.al-islam.org/islamandnationalism/5.htm
61. वही
62. वही
63. द वर्ल्ड बुक इनसाइक्लोपीडिया, भाग-14, फिल्ड एन्टरप्राइज एजुकेशनल कॉरपोरेशन, यू.एस.ए, संस्करण-1976, पृष्ठ संख्या- 50
64. दास, श्यामसुन्दर (संपादक), हिंदी शब्दसागर, आठवां भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण-1971, पृष्ठ संख्या- 4173
65. http://en.wikipedia.org/wiki/Nationalism
66. http://www.al-islam.org/islamandnationalism/5.htm
67. द वर्ल्ड बुक इनसाइक्लोपीडिया, भाग-14, फिल्ड एन्टरप्राइज एजुकेशनल कॉरपोरेशन, यू.एस.ए, प्रकाशन वर्ष-1976, पृष्ठ संख्या-49

**68**. दास, श्यामसुन्दर (संपादक), हिंदी शब्दसागर, आठवां भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण-**1971**, पृष्ठ संख्या- **4172**
**69**. पटनायक, किशन, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-**2001**, पृष्ठ संख्या-**203**
**70**. वैदिक, वेदप्रताप, वर्तमान भारत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-**2002**, पृष्ठ संख्या- **174**
**71**. प्रियंवद, भारत विभाजन की अन्त:कथा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-**2007**, पृष्ठ संख्या-**181**
**72**. वर्मा, प्रो. एस. एल., हिंदुत्व का वैश्वीकरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, संस्करण-**2008**, पृष्ठ संख्या-**174**
**73**. पटनायक, किशन, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-**2001**, पृष्ठ संख्या-**233**
**74**. चन्द्र, बिपन , भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण-**2006**, पृष्ठ संख्या-**328**
**75**. चंद्र, बिपन , साम्प्रदायिकता एक अध्ययन, अनामिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, संस्करण-**2004**, पृष्ठ संख्या-**62**
**76**. फॉक्स, रैल्फ, उपन्यास और लोकजीवन (अनु.-नरोत्तम नागर), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-**2008**,पृष्ठ संख्या-**128**
**77**. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, **37**वाँ संस्करण- संवत् **2057**, पृष्ठ संख्या-**1**
**78**. कोलख्यान, प्रफुल्ल, साहित्य, समाज और जनतंत्र, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता, संस्करण-**2003**, पृष्ठ संख्या-**21**
**79**. किशोर, कृष्ण (संपादक), अन्यथा, अंक-**11**, दिसम्बर **2007**-फरवरी-**2008**, पृष्ठ संख्या-**73**
**80**. मोहन, नरेन्द्र, विभाजन की त्रासदी: भारतीय कथादृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण-**2008**, पृष्ठ संख्या-**51**
**81**. पचौरी, सुधीश, साहित्य का उत्तर समाजशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-**2006**, पृष्ठ संख्या-**50**
**82**. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, साहित्य सहचर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-**2005**, पृष्ठ संख्या-**03**
**83**. किशोर, कृष्ण (संपादक), अन्यथा, अंक-**11**, दिसम्बर **2007**-फरवरी-**2008**, पृष्ठ संख्या-**86**
**84**. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-**1991**, पृष्ठ संख्या-**59**

# अध्याय- 2

# हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल

2. 1. स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

2. 2. स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

2. 3. हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल

## हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल

हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का चित्रण किस प्रकार हुआ है और कथाकारों ने सांप्रदायिकता के किन पहलुओं को उपन्यासों में उठाया है यह देखना आवश्यक है। परन्तु उससे भी पहले यह देख लेना आवश्यक जान पड़ता है कि भारतीय समाज में सांप्रदायिकता किस रूप में पनपी है। स्वाधीनता के बाद हिन्दुस्तान का विभाजन हुआ और भारत एवं पाकिस्तान अस्तित्व में आये और यह माना जाने लगा कि अब भारतीय समाज से सांप्रदायिकता स्वयं खत्म हो जायेगी, लेकिन देखा यह गया है कि सांप्रदायिकता दिनोंदिन बढ़ती गयी। आखिरकार स्वाधीनता के बाद वे कौन सी परिस्थितियां थीं जिनके कारण सांप्रदायिकता बढ़ती चली गयी। इन सभी बिंदुओं के मद्देनजर सांप्रदायिकता का विश्लेषण आवश्यक है।

## 2. 1. स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज में सांप्रदायिकता के मुद्दे पर विचार करते हुए बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के समर्थक विद्वान मध्यकाल की ओर दौड़ लगाते हैं और मुगलिया सल्तनत के दौर में जाकर सांप्रदायिकता के बीज ढूँढ लाते हैं। मध्यकाल को हिंदू जाति के दमन का काल घोषित कर मुसलमानों के खिलाफ साधारण जनमानस के दिमाग में बैर का बीज बोने का प्रयास किया गया। वहीं दूसरी ओर मुस्लिम कट्टरपंथियों ने भी मध्यकाल को ही चुना। इसका कारण यह था कि मध्यकाल में मुसलमानों की पहचान शासकों के रूप में रही है। अंग्रेजों द्वारा शासन की बागड़ोर अपने हाथों में लेने के बाद भी वे अपने इस गुमान से बाहर न आ सके। जहाँ एक ओर हिंदू राष्ट्रवादी, मुसलमानों को आक्रमणकारी कहकर उन्हें विदेशी घोषित करने में लगा हुआ था वहीं मुस्लिम राष्ट्रवादी, अपने पिछड़ेपन का कारण अपनी शिक्षा संबंधी कट्टर सोच को न मानकर हिंदुओं को ही इसका दोषी मान रहा था। साथ ही

औपनिवेशिक शक्ति के विरोध की जिस नीति का अनुसरण किया गया उसमें भी कई खामियां जरूर थीं।

गोलवलकर और विनायक दामोदर सावरकर जैसे विद्वानों का यह विचार रहा है कि मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत सोने की चिड़िया था। जिस दौर में मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया उसे ही तथाकथित हिंदुत्ववादी भारत और हिंदू जाति के पतन का दौर मानते हैं। जबकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले आर्य भारत आ चुके थे। फिर हूण, मंगोल, अफगान और न जाने कितने विदेशी आक्रमणकारी आये। कुछ लूट-मार करके चले गये तो कुछ यहीं भारत में बस गये। धीमे-धीमे भारतीय संस्कृति में कुछ इस प्रकार घुल-मिल गये जैसे आटे में नमक और पानी में चीनी घुल जाती है। भारतीय संस्कृति की कुछ खूबियों को अपनाया तो दूसरी तरफ अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को प्रभावित भी किया। ऐसे में दोनों ही संस्कृतियों के मूल स्वरूप में परिवर्तन आ गया। जो संस्कृति नवीनता को अपनाने को तैयार होती है वह उतनी ही विकासमान और ज्यादा लोचदार (flexible) बनती है और जो संस्कृति स्वयं को परिपूर्ण और समृद्ध मानकर नये विचारों एवं किसी भी बदलाव को ज़िद के स्तर तक अस्वीकार करती है उसमें विकृति आनी ही है जैसे एक निश्चित घेरे में रहने के कारण तालाब का पानी स्वच्छ और निर्मल नहीं रह पाता। ऐसी संस्कृति एक न एक दिन पूरे जनसमुदाय के लिए घातक बन जाती है।

भारत जैसे सांस्कृतिक वैविध्य वाले देश की भी मुख्य समस्या यही है। सांप्रदायिकता के बीज मध्यकालीन भारत में खोजने के कारण भी समस्या पैदा होती है। दरअसल सांप्रदायिकता की शुरुवात सन् **1857** के विद्रोह के बाद हुई। अंग्रेज शासकों ने **1857** के गदर के दौर में हिंदुओं एवं मुसलमानों की संगठित शक्ति को पहले ही भाँप लिया था। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि अगर उन्हें भारत पर अपना अधिपत्य लंबे समय तक

बनाये रखना है तो भारत की इन दोनों कौमों के बीच आपसी वैमनस्य के बीज बोने पड़ेंगे। इस कारण अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाया जिसके तहत सबसे पहले अंग्रेजों ने उस साझा इतिहास को विकृत करना प्रारम्भ किया जिसपर हिंदुस्तानियों को बड़ा ही गर्व था। अपने इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए अंग्रेज शासकों ने इलियट और डाऊसन जैसे इतिहासकारों का पल्ला पकड़ा। इतिहासकार असगर अली इंजीनियर के ही शब्दों में- " अंग्रेजों ने इतिहास लेखन के लिए इलियट और डाऊसन की सेवाएँ लीं और उन्होंने फारसी से चुनिन्दा स्त्रोतों का अनुवाद करके ऐसी सामग्री मुहैया करवाई जो यह सिद्ध करती थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शाश्वत लड़ाई है। इन दो अंग्रेज इतिहासकारों ने प्रारम्भिक भारतीय इतिहास लेखन को काफी प्रभावित किया। अंग्रेजों द्वारा इतिहास का 'हिन्दू', 'मुस्लिम' और 'अंग्रेजी' के रूप में काल-विभाजन धूर्ततापूर्ण था। ऐसे काल-विभाजन में पहले के युगों की पहचान धर्मों से की गई जबकि अपने काल को उन्होंने राष्ट्रीयता से पहचाना। "[1]

स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज और सांप्रदायिकता पर विचार करते हुए यह बात सामने आती है कि जिस औपनिवेशिक इतिहास का विरोध सर्वाधिक होना चाहिए था, राष्ट्रवादियों ने, चाहे वह हिंदू राष्ट्रवादी हो या मुस्लिम राष्ट्रवादी, उसी भ्रम एवं गलत तथ्यों से भरे हुए इतिहास का इस्तेमाल अपने स्वार्थ साधने के लिए किया जो आज भी बदस्तूर जारी है। एक आम हिन्दुस्तानी आज भी उसी इतिहास को ढ़ो रहा है जिसे स्वाधीनतापूर्व का हिन्दुस्तानी ढ़ो रहा था। इतिहासकार बिपन चंद्र कहते हैं-" हममें से ज्यादातर यह सोचना सीख गए हैं कि भारतीय इतिहास का प्राचीन काल गौरव और महानता का युग था और मध्यकाल से भारत का पतन शुरू हुआ। इसी तरह मुस्लिम लीग और विनायक दामोदर सावरकर ने तो दो राष्ट्र सिद्धांत की रचना बहुत बाद में की जिसके आधार पर आगे चलकर भारत विभाजित हुआ, मगर उसके बहुत पहले ब्रिटिश उपनिवेशवादी लेखकों और उनका

अनुसरण कर रहे सांप्रदायिक लेखकों ने यह कमाल कर दिखाया था। इन लोगों ने यह प्रचार किया कि भारत राष्ट्र का मतलब हिंदू राष्ट्र है और मध्यकालीन मुस्लिम शासन विदेशियों का था। आखिर एक भारतीय बादशाह क्या सिर्फ इसलिए विदेशी करार दे दिया जाएगा क्योंकि उसका धर्म इस्लाम है ? इसका जवाब भी सांप्रदायिक विचारधारा में विश्वास करने वालों के पास मौजूद है। वे कहते हैं कि मुस्लिम तो परिभाषा के स्तर पर ही विदेशी माने गए हैं। इस तरह सांप्रदायिकता के विस्तार और देश के विभाजन का आधार इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या में निहित है और यह व्याख्या पहले ब्रिटिश लेखकों ने की और उसके बाद हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक लेखकों ने।"[2]

असगर अली इंजीनियर ने स्पष्टत: स्वीकार किया है कि औपनिवेशिक शासन के इतिहासकार इलियट, डाउसन इत्यादि ने इतिहास का विभाजन धर्म के आधार पर किया। उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास को हिंदू राज्य, मध्यकालीन भारतीय इतिहास को इस्लामी शासन कहकर विभाजित किया जबकि आधुनिक भारत के इतिहास को ब्रिटिश राज का नाम दिया। एक हद तक तो अंग्रेजों ने हिंदुत्ववादियों को यह भरोसा दिलाने का प्रयास किया कि उनके आगमन से भारत की हिंदू जनता को मुसलमान शासकों के शासन से मुक्ति मिली है। हिंदुओं को यह भरोसा दिलाने का प्रयास किया गया कि अगर मुसलमान फिर से शासन की बागडोर संभालने लगे तो पुन: हिंदुओं का दमन निश्चित है। एक ओर जहाँ इन्होंने यह कहकर हिंदुओं को भड़काया वहीं मुसलमानों को भारत की हिंदू जनता से अलग बताते हुए उनकी संस्कृति, पूजा पद्धति, खान-पान, रहन-सहन इत्यादि समस्त चीजों को अलगाते हुए भड़काने का प्रयास किया। उनके लिए अलग व्यवस्था की सोच को पुष्ट करने का कार्य किया। इस प्रकार अंग्रेज शासकों ने आपसी वैमनस्य के बीज बोये। इस घटना पर अपनी राय देते हुए बिपन चंद्र लिखते हैं-" एक, उसने हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों को लगातार ऐसे

अलग-अलग समुदायों का दर्जा दिया, जिनकी सामाजिक-राजनीतिक पहचान में कुछ भी साझा नहीं था। बताया गया कि भारत न तो राष्ट्र है, न राष्ट्र के रूप में उसका विकास हो रहा है और न वह विभिन्न जातीयताओं का समुच्चय है- उसका गठन तो धर्म पर आधारित ऐसे समुदायों से हुआ है, जिनके हित आपस में टकराते हैं। दो, सांप्रदायिकतावादियों को सरकारी संरक्षण और रियायतें दी गईं। तीन, सांप्रदायिक पत्रों, व्यक्तियों और आंदोलनों के प्रति असाधारण सहिष्णुता दिखलाई गई। चार, सांप्रदायिक माँगों को तुरंत स्वीकार कर लिया जाता था और इस तरह सांप्रदायिक संगठनों को मजबूती दी जाती थी तथा लोगों पर उनकी पकड़ बनी रहती थी। ... पाँच, ब्रिटिश सरकार सांप्रदायिक संगठनों और नेताओं को उनके तथाकथित समुदायों के प्रामाणिक प्रवक्ता के रूप में तत्काल स्वीकार कर लेती थी, जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को एक छोटे-से वर्ग या विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि माना जाता था। छह, सांप्रदायिक आधार पर बनाए गए चुनाव क्षेत्रों में, जिनकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी, सांप्रदायिक राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण औज़ार का काम किया।"[3]

अंग्रेजों ने अपनी इस नीति पर अमल **1857** के गदर के बाद से ही प्रारम्भ कर दिया था। यहाँ तक कि सेना में भी उन्होंने आपसी प्रतिस्पर्द्धा को एक खास रणनीति के तहत बढ़ावा ही दिया था। सन् **1859** और **1879** के आयोगों ने यह सिफारिश की थी कि सेना में एक-तिहाई गोरे हों और तोपखाने पर कड़ाई के साथ अंग्रेज अफसरों एवं सैनिकों का अधिकार हो। ऐसी नीति को अपनाया जाए ताकि जाति, धर्म, वर्ण, क्षेत्र के आधार पर किसी भी समुदाय की भावनाओं को भड़काया जा सके और किसी भी समुदाय में अस्मिता की भावना को पनपने से रोका जा सके। हीरालाल सिंह अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्स एंड पॉलिटिक्स ऑफ दि ब्रिटिश इन इंडिया' में यह बताते हैं कि किस प्रकार तत्कालीन अंग्रेज हुक्मरान वुड अपनी नीति को लागू करना चाहता था- " मैं विभिन्न रेजीमेंटों में भिन्नता एवं प्रतिस्पर्धा की

भावना विकसित करना चाहता हूँ ताकि आवश्यकता पड़ने पर सिख हिंदुओं पर और गोरखा सिखों और हिंदुओं, दोनों पर ही बिना झिझक गोली चला सके। **1879** के सैन्य आयोग ने इस बात को पुन: दोहराया " एक पर्याप्त यूरोपीय सेना के शानदार संतुलन के बाद आता है देसी के विरूद्ध देसी का संतुलन "[4]।

अंग्रजों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य पैदा करने के लिए नयी भाषा नीति का अनुसरण किया। अंग्रेज हुक्मरानो ने ऐसी भाषा नीति अख़्तियार की जिसके द्वारा दोनों कौमों को भाषायी आधार पर लड़ाया जा सके। मुगलों के शासनकाल से ही उर्दू भाषा एवं फारसी लिपि सरकारी कामकाज में प्रयुक्त की जाती रही। अंग्रेज शासकों ने गदर के दौरान मुसलमान शासकों की प्रमुख भूमिका से खफा होकर नयी भाषा नीति लागू की जिसके अनुसार देवनागरी लिपि का प्रयोग सरकारी कामकाजों के लिए किया जाने लगा। हिन्दू और मुसलमानों के बीच भाषायी बैर कैसे खड़ा हुआ और उसकी जड़ें कहाँ मौजूद हैं इसपर भी एक नज़र डालना आवश्यक है। कहीं न कहीं इस भाषायी बैर की जड़े फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता से जुड़ी हैं। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना सन् **1800** ई. में लार्ड वेलेजली ने की जिसका उद्देश्य था-अरबी, फारसी, उर्दू, बंगाली जैसी भाषाओं का केन्द्र बनाना। इसके द्वारा अंग्रेज अधिकारी विलायती प्रशासनिक एवं फौजी अफसरों को इन भाषाओं का ज्ञान दिया करते थे ताकि देशी भाषाओं में प्रशासन का कार्य सुचारू ढंग से हो। इन भाषाओं के ज्ञान से एक और भी फायदा था और वह है ईसाई धर्म का प्रचार। प्रो. गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। हिन्दी-उर्दू के विवाद को प्रारम्भ करने का श्रेय भी इन्हीं को जाता है। 'दो कौम, दो राष्ट्र' के सिद्धान्त को हवा देने का काम करने के लिए उर्दू और हिन्दी का विवाद यह कहकर खड़ा किया गया कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है और हिन्दी हिन्दुओं की। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि मुगलों के शासनकाल और पूरे

मध्यकाल में उर्दू ओर हिंदी का विवाद खड़ा नहीं हुआ लेकिन अब दोनों भाषाएं अलग-अलग हो गईं। इसका कारण यह है कि भाषा को धर्म के साथ जोड़ दिया गया और दोनों ही धर्म के अनुयायी अपनी भाषा के प्रति आग्रही बने रहे। भाषा अस्मिता का सवाल बन गयी। एक ओर शिवप्रसाद सितारेहिंद आमफहम की भाषा का समर्थन कर रहे थे जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का प्राचुर्य था वहीं राजा लक्ष्मण सिंह ने शुद्ध हिंदी का प्रयोग करते हुए अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार किया। लक्ष्मण सिंह उर्दू और हिंदी को अलग-अलग मानते थे, उर्दू को मुसलमानों की और हिंदी को हिन्दुओं की भाषा ही मानते थे। कालान्तर में सैयद अहमद खाँ भी इस विवाद में शामिल हो गये।

धीरे-धीरे यह विवाद और भी गहराता गया। अंग्रेज अपनी चाल में सफल हुए। यहीं से भाषायी बैर के बीज पड़े जिसने कालान्तर में धार्मिक रूप धारण कर लिया। इसके संबंध में प्रियंवद कहते हैं- " अँग्रेजों की नीति व हिन्दीभाषियों की यह माँग, कि न्यायालयों में उर्दू के स्थान पर हिन्दी भाषा शुरू हो, इस संघर्ष का बीज था। इसने भाषायी कटुता को जन्म दिया जिसके आवरण में धर्म का संघर्ष छुपा हुआ था। भाषाओं का यह संघर्ष आगे चलकर अपने आप दो भिन्न धर्मों, दो भिन्न राष्ट्रीयताओं के सिद्धांत के पक्ष में खड़ा हो गया।"[5] नयी भाषा नीति का सबसे अधिक फायदा हिंदुओं को हुआ। मुसलमानों को जो क्षति हुई उसके लिए एक हद तक वे स्वयं भी दोषी थे। अधिकांश मुसलमान पारंपरिक शिक्षा पद्यति का पक्षधर थे। दूसरी तरफ अंग्रेजों को अपने सरकारी काम-काज की देख-रेख के लिए अफसर बाबुओं की आवश्यकता थी जो आधुनिक शिक्षा से लैस हो। फलस्वरूप अंग्रेजों ने आधुनिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। साथ ही सरकारी नौकरियों में भी आधुनिक शिक्षा सम्पन्न युवा वर्ग को नौकरी दी गई। मुस्लिम समाज जहाँ पारंपरिक शिक्षा पद्यति का अनुसरण कर रहा था वहीं हिंदू समाज में इस दौर तक कई सामाजिक आन्दोलन हो चुके थे

जिस कारण अधिकांश हिंदू परिवार आधुनिक शिक्षा पद्यति के समर्थक थे। ऐसे में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अंग्रेजों की आधुनिक शिक्षा पद्यति न मानने का सबसे ज्यादा खामियाज़ा मुसलमानों को ही भरना पड़ा। इसे और जोर देकर सांप्रदायिक शक्तियों ने पेश किया लेकिन मुस्लिम समाज ने अपनी कमज़ोरियों पर ध्यान न देकर सीधे-सीधे हिंदुओं को इसके लिए दोषी माना। धीरे-धीरे सरकारी नौकरियों में उनका प्रतिशत घटता गया लेकिन ऐसा बिल्कुल भी नहीं कहा जा सकता कि हिंदुओं का सरकारी नौकरियों में बढ़ता हुआ प्रतिशत ही मुसलमानों के गिरते प्रतिशत का कारण था। इस संबंध में कुछ आंकड़े पेश करते हुए डेविड लेलिवेल्ड कहते हैं- "... **1867** में उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों और अवध में **333** मुसलमान **75** रूपये से अधिक कमा रहे थे और **1897** में यह संख्या **466** थी। इन्हीं वर्षो में हिन्दुओं की संख्या **692** से बढ़कर **1069** हो गई, लेकिन यह जरूरी नहीं कि हिन्दुओं की संख्या में यह वृद्धि मुसलमानों की कीमत पर ही हुई हो। पंजाब में इसी तरह के आंकड़े थे।"[6] उपरोक्त आँकड़ों को देखकर यह समझा ही जा सकता है कि कैसे आर्थिक आधार पर अंग्रेजों ने इन आँकड़ों के माध्यम से एक समाज में वैमनस्य के बीज बोये।

अंग्रेजी शिक्षा ने बढ़ते हुए समुदायों के लिए सामाजिक उन्नति का मार्ग खोल दिया। उपनिवेशवादी ताकतों ने कैसे इसे बढ़ावा दिया इसे तो ऊपर देखा ही जा चुका है। कुछ और तथ्यों पर ध्यान देना भी आवश्यक है। अंग्रेजों ने उत्तर प्रदेश में जिस भाषा नीति का अनुसरण किया वह नागरी प्रस्ताव के रूप में प्रसिद्ध है। जिसके तहत यह सोच रखी गयी कि देश की जनता का बड़ा हिस्सा जिस भाषा को सर्वाधिक समझता है उसे ही सरकारी काम-काज की भाषा होना चाहिए। इस प्रस्ताव से स्वाभाविक रूप में मुसलमानों की बड़ी क्षति हुई। जिसका असर हिंदू-मुस्लिम रिश्तों पर भी पड़ा। असगर अली इंजीनियर कहते हैं-" नागरी-प्रस्ताव और भाषा नीति ने हिन्दू अभिजात वर्ग और मुस्लिम अभिजात वर्ग में बहुत कडुवाहट

पैदा की जो अंग्रेज शासित भारत में साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति का महत्वपूर्ण कारक बना। भाषा-नीति में इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप मुसलमान, कायस्थों और राजपूतों (जो मुगल प्रशासन के नजदीक थे ओर फारसी का ज्ञान हासिल था) को नुकसान हुआ। ब्राह्मणों, बनियों और हिन्दुओं की स्थिति में सुधार होना शुरू हुआ।"[7] सन् **1886-87** से **1913** के बीच मुसलमानों और कुछ हद तक कायस्थों और राजपूतों की स्थिति खराब हुई, दूसरी ओर ब्राह्मणों, बनियों और अन्य हिन्दुओं की स्थिति में सुधार हुआ। मेक्डोनल द्वारा प्रस्तावित नयी भाषा नीति का सर्वाधिक दबाव मुसलमानों पर ही पड़ रहा था। इस स्थिति का सर्वाधिक दुरूपयोग मुस्लिम सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने वाले तत्वों ने किया जिसे अंग्रेजों ने भी हवा दी। इन्होंने अपने हितों को समस्त समुदाय के हितों के रूप में पेश किया जबकि किसी भी धार्मिक, सांस्कृतिक या भाषायी समूह के सभी सदस्यों के हित समान हो ही नहीं सकते। इसके साथ-साथ इन सांप्रदायिक शक्तियों ने यह भी प्रचार करना शुरू कर दिया कि उनके समुदाय के हित न केवल समान हैं बल्कि अन्य धर्म के समुदायों से भिन्न भी हैं। इस संबंध में बिपन चंद्र के विचार द्रष्टव्य हैं- " यह भी समझना होगा कि लोकहित की सांप्रदायिक परिभाषा में कोई सामाजिक सत्य नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार हिंदू, मुस्लिम, सिख और ईसाई अपने धार्मिक विश्वासों के कारण एक जैसे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों से जुड़े हुए नहीं हैं। यही तर्क कहता है कि हिंदू-मुस्लिम, सिख और ईसाई अपने धार्मिक दायरों के बाहर एकदम अलग हैं और उनमें एक ही चीज समान है कि वे भारतीय हैं। सांप्रदायिकता असल में उस धार्मिक समुदाय का भी कोई भला नहीं करती जिसके हितों को वह बचाने और बढ़ाने का दावा करती है।"[8]

नयी शिक्षा पद्धति से जुड़कर ही भारतीय समाज में राष्ट्र की चेतना का प्रसार भी होने लगा। इसके साथ ही भारतीय जनता में राष्ट्रवादी विचारों का भी जन्म होने लगा।

तत्कालीन प्रशासन इसे अच्छी तरह से समझ चुका था इसलिए उन्होंने राष्ट्रवादी विचारों को पनपने से रोका और उसे विकृत भी किया। भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की विडंबना यह है कि भाषा से होते हुए यह धर्म-आधारित हो गया। जिस कारण भारत एक राष्ट्र के रूप में न उभर कर दो राष्ट्र के रूप में उभरा जो अन्ततः देश विभाजन का कारण बना। यह प्रक्रिया आजादी के बाद भी बदस्तूर जारी थी। खालिस्तान की माँग हो या फिर राष्ट्रभाषा के नाम पर अलग राष्ट्र की माँग पर मचा बवाल हो, यह सब राष्ट्रवादी विचारों की कमज़ोर बुनियाद के कारण ही भारतीय समाज को देखना पड़ रहा है। भाषा को अलग सभ्यता का मुद्दा बनाकर अलग राष्ट्र की माँग किया जाना गलत है।

वस्तुतः राष्ट्रवाद और धर्म का आपस में कोई मेल नहीं होता है लेकिन औपनिवेशिक ताकतों ने धर्म को राष्ट्रवाद के साथ जोड़कर राष्ट्रवाद की मूल विचारधारा को नष्ट किया। यह कार्य भारत जैसे बहुधार्मिक राष्ट्र में बहुत ही आसान था। धार्मिक अल्पसंख्यकों के मन में हमेशा बहुसंख्यकों को लेकर संशय बना रहा और अंग्रेजों ने इसे समय-समय पर हवा देने का कार्य किया। राष्ट्रवादी विचारों को जब कभी हिन्दुओं ने बढ़ावा देने की कोशिश की तो उनके पास एक लंबा अतीत था क्योंकि उनकी जड़ें यहीं भारत में मौजूद थीं लेकिन जब कभी मुसलमानों ने राष्ट्रवादी विचारों को बढ़ावा देने की कोशिश की तो एक अज़ीब तरह का संशय उनके मन में था क्योंकि उनकी जड़े भारत के बाहर थीं। इस स्थिति के संबंध में प्रियंवद कहते हैं- " हिन्दू जब धर्म की बात करता था तो राष्ट्र उसमें स्वयं ही समाहित हो जाता था। इतिहास, परम्पराएँ, भूगोल, समाहित रहते थे। उसका धर्मयुद्ध उसे 'राष्ट्रवाद' में बदल देता था। दूसरी तरफ जब मुसलमान अपने धर्म की बात करता था तो राष्ट्र उसमें नहीं दिखता था। यहाँ का इतिहास, यहाँ की परम्पराएँ, नायक नहीं दिखते थे। उसका धर्मयुद्ध राष्ट्रवाद न होकर 'साम्प्रदायिक' व 'अन्य' की सत्ता में बदल जाता था। इस

तरह भारतीय राष्ट्रवाद के उभार में 'हिन्दू' सक्रिय व सुरक्षित था पर मुसलमान संकट में, द्वंद्व में था। उसके किसी नेता के पास, उसकी किसी पुस्तक में, इतिहास में, ऐसी स्थितियों के लिए स्पष्ट निर्देश नहीं थे कि जब सत्ता इस्लाम की न हो, तब संघर्ष इस्लाम की स्थापना का किया जाए या राष्ट्रवादी चेतनाओं की स्थानीयताओं, विरोधी धर्म और निष्ठाओं से जुड़ कर उनके लिए संघर्ष किया जाए। भारत के मुसलमानों के लिए यह नया संकटपूर्ण पड़ाव था।"[9]

राष्ट्रवादी विचारों का प्रारम्भ अंग्रेजी शिक्षा के सम्पर्क में आने से हुआ। बंगाल इसके केन्द्र में था क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रचार बंगाल में ही हुआ था। राष्ट्रीयता प्रोत्साहन समिति, हिन्दू मेला, नेशनल सोसाइटी आदि का गठन किया गया जिसमें शिल्प एवं कला की  प्रदर्शनी, शारिरिक व्यायाम आदि सिखाये जाते थे एवं जिनके माध्यम से राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार किया गया। बाल गंगाधर तिलक ने इन्हीं की देखा-देखी महाराष्ट्र में भी ऐसे ही शिविरों का आयोजन किया जो कालान्तर में आर.एस.एस. की भावनाओं के प्रचार का प्रमुख साधन बन गयी। इस दौर में जो राष्ट्रवाद की भावना से साहित्य रचा जा रहा था उसपर भी हिन्दुत्ववादी विचारों का प्रभाव देखा गया। इस दौर के साहित्य में भी जिस स्वर्णिम अतीत को ध्यान में रखकर जनजागरण फैलाने का प्रयास किया गयाउसने भी जाने- अनजाने हिंदू-मुस्लिम एकता को क्षति पहुँचायी। लेखकों के सम्मुख जो इतिहास मौजूद था उसमें मुस्लिम ही खलनायक थे। उन्हें ही प्रतीक बनाकर पेश किया गया। उन्हे मलेच्छ कहकर सम्बोधित किया गया। विदेशी आक्रांता कहा गया और देशवासियों को इन आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए एकत्रित होने का आह्वान किया गया।

बंगाल में जहाँ हिंदू राष्ट्रवाद के प्रणेता बंकीमचंद्र, विवेकानंद, महर्षि अरविन्द एवं रामकृष्ण परमहंस थे वहीं महाराष्ट्र में इसके प्रणेता तिलक थे। तिलक प्रखर राष्ट्रभक्त थे। बिना किसी संदेह और भय के तिलक ने अंग्रजों को भारत के शत्रु के रूप में घोषित

किया और उनसे मुक्ति को राष्ट्रधर्म घोषित किया। अपने राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार अपने पत्र 'केसरी' और 'मराठा' के माध्यम से किया। उन्होने 'गणपति महोत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' को सार्वजनिक रूप से हिन्दू उत्सव घोषित किया। तिलक के राष्ट्रवादी विचारों ने जहाँ हिन्दुओं को संगठित करने का कार्य किया वहीं इसके विपरीत परिणाम भी आये। इन उत्सवों के कारण मुसलमान हिन्दुओं से बड़ी तेजी से अलग हुए। चापेकर बन्धुओं द्वारा कलक्टर रैन्ड ओर लेफ्टीनेण्ट एर्स्ट की हत्या और परिणामस्वरूप उन्हें दी गयी फाँसी की सज़ा ने पूरे भारत में हलचल मचा दी थी। यहीं से हिंसक राष्ट्रवाद की शुरुवात भी होती है। चापेकर बन्धुओं से ही प्रेरणा लेकर **15** वर्ष की उम्र में विनायक दामोदर सावरकर दुर्गा के सामने शपथ लेता है कि वह बाकी बचा हुआ काम पूरा करेगा और ब्रिटिश शासन के उखाड़ फेंकेगा।

हिन्दू राष्ट्रवाद की ही एक और शाखा आर्यसमाज के रूप में उभरकर सामने आती है जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की थी। उन्होंने वेदों की ओर लौटने का आह्वान किया। उन्होने कहा कि यदि ईसाई के पास बाइबिल है, मुसलमान के पास कुरान है तो हिंदुओं के पास वेद हैं। वेद उनकी पुस्तकों से अधिक प्राचीन, अधिक वैज्ञानिक व अधिक बड़े ज्ञान के भण्डार हैं। अपनी नीतियों एवं विचारों के प्रचारार्थ उन्होंने डी.ए.वी स्कूलों की स्थापना की जिसमें पश्चिमी शिक्षा, विज्ञान व समाज की भौतिक उन्नति के साथ-साथ वेद में वर्णित जीवन-दर्शन का भी प्रचार-प्रसार बड़े ज़ोर-शोर के साथ किया गया। हिन्दुओं के बीच यह एक प्रगतिशील विचारधारा थी जिसमें अगर आधुनिकता थी तो प्राचीनता का भी संगम था। कुरीतियों से मुक्ति थी तो इन विचारों के बीच ही राष्ट्रवाद की भावना भी मौजूद थी। पंजाब में आर्यसमाज की स्थापना लाहौर में हुई जिसके उग्र व प्रखर प्रचारक लाल लाजपतराय थे। आर्यसमाज ने मुख्य रूप से दो सामाजिक कार्यक्रमों का चुनाव किया जिनमे पहला था गोरक्षा व दूसरा था शुद्धि अभियान। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच गोहत्या और

गोरक्षा अत्यंत संवेदनशील मुद्दे थे। आर्यसमाज के गोरक्षा अभियान एवं शुद्धि अभियान ने हिन्दू-मुसलमान के बीच की खाई को बड़ी तेजी से चौड़ा करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार **1857** के बाद के पचास वर्षों में दयानन्द, लाल लाजपतराय, अरविन्द, तिलक, विवेकानन्द आदि ने पूरे देश में हिन्दुओं के बीच नये जागरण का प्रसार किया जिसका कालान्तर में उग्र राष्ट्रवाद के रूप में विस्फोट हुआ।

पुरानी चेतना को स्पर्श करने के कारण राष्ट्रवादी विचारों में सांप्रदायिक विचारों का समावेश स्वत: ही हो गया। जिसने अन्तत: राष्ट्रीय एकता को कमज़ोर ही किया। इतिहासकार बिपन चंद्र कहते हैं-" अनेक राष्ट्रवादी नेताओं ने देखा कि जनता के बीच आधुनिक राष्ट्रवाद की भावना का-जो कि एक नयी भावना है-संचार करने का कार्य काफी श्रमसाध्य है, खासतौर पर इसलिए कि इसका अर्थ होता है आम जनता के समक्ष उसके जीवन और हितों तथा साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के बीच रिश्ते को उद्‌घाटित करना, इसलिए उन्होंने सीधा-सुगम रास्ता अपना लिया। उन्होंने पुरानी चेतना को स्पर्श करने का फैसला किया। यह सच है कि उन्होंने सर्वथा आधुनिक और स्तुत्य उद्देश्य के लिए ऐसा किया पर ऐसा करके उन्होंने न केवल राष्ट्रवाद की लोक-प्रचलित समझदारी को कमज़ोर बनाया, बल्कि स्वयं अपने चिन्तन और लेखन को साम्प्रदायिकता के गिरफ्त में डाल दिया। मिसाल के लिए लोकमान्य तिलक, आंरभिक आतंकवादियों, अरविंद घोष और कुछ अर्थों में गाँधीजी का, जैसा कि रामराज्य पर जोर देने में या खिलाफत के प्रति उनकी नीति में, यह दृष्टिकोण था। इस दृष्टिकोण ने एक अर्थ में राष्ट्रीय एकता को कमजोर बनाया।"[10]

एक ओर जहाँ हिन्दू राष्ट्रवाद का उभार हो रहा था वहीं मुस्लिम राष्ट्रवाद भी धीमे-धीमे भारतीय समाज में अपना स्थान बनाता जा रहा था। मुस्लिम राष्ट्रवाद के समर्थकों ने सर्वप्रथम अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति को ही अपना लक्ष्य बनाया था। भले ही इसके पीछे

अपने पुराने इतिहास को न भुला पाने की सोच रही हो जिसके अनुसार मुसलमान इस देश के शासक थे। मगर यह जरूर स्वीकार करना चाहिए कि इस सोच ने भी देश की एकता की भावना को चोट पहुँचाने का कार्य किया। स्वयं को शासक के रूप में घोषित कर मुसलमानों ने अंग्रेजों के हाथों में वह अमोध अस्त्र दे दिया जिसकी तलाश अंग्रेजों को **1857** गदर के बाद से थी। अंग्रेजों ने जिस नयी शिक्षा को भारत में जगह दी मुसलमानों ने उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इसके परिणाम क्या हुए और मुसलमानों को इसका क्या ख़ामियाज़ा भरना पड़ा इसका विश्लेषण ऊपर भाषा नीति के तहत कर दिया गया है। मुसलमान अंग्रेजों को भरोसे के काबिल नहीं समझते थे। वहीं दूसरी ओर अपनी सामाजिक और आर्थिक दुरावस्था के लिए मुसलमान, हिन्दुओं को दोषी समझते थे। इस सोच ने अलगाववादी भावना को हवा देने का कार्य किया। अंग्रेजों ने मुसलमानों के बीच इस भावना को बढ़ावा दिया कि वे हिन्दुओं से अलग हैं और श्रेष्ठ हैं, न केवल जन्म स्थान के आधार पर बल्कि भाषा, रीति, संस्कृति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, खान-पान, त्योहार आदि हर क्षेत्र में उनमें आपस में भेद हैं। इस सोच ने ही कालान्तर में कट्टर रूप धारण कर लिया और बाद में जिन्ना जो मुस्लिम लीग के प्रवक्ता बन बैठे और पाकिस्तान की जिन्होंने नींव रखी, बार-बार इन्हीं विचारों को अलग राष्ट्र की माँग के पक्ष में रखा।

जिस प्रकार हिन्दू पुनर्जागरण की कोख से हिन्दू राष्ट्रवाद का जन्म हुआ उसी प्रकार मुस्लिम पुनर्जागरण से मुस्लिम राष्ट्रवाद का जन्म हुआ था। मुस्लिम राष्ट्रवादियों के प्रवक्ता के रूप में शाह वलीउल्लाह, सर सैयद अहमद, अमीर अली, चौधरी रहमत अली, मुहम्मद अली जिन्ना जैसे नेताओं का नाम लिया जा सकता है। मुस्लिम पुनर्जागरण की मुख्यत: दो धाराएँ थीं। पहली धारा वह थी जिसके अनुसार पवित्र कुरआन के निर्देशों के अनुरूप प्राचीन परम्पराओं, शिक्षाओं और व्यवस्थाओं की ओर वापस लौटा जाए। इस्लाम व इस्लामी

राज्य की सत्ता स्थापित करने का मार्ग वे इसे ही मानते थे। दूसरी धारा वह थी जो यह मानती थी कि आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा को अपनाकर सरकारी नौकरियों, नगरपालिकाओं व ब्रिटिश प्रशासन में सहयोग देकर ही आगे बढ़ा जा सकता है एवं अपने दु:ख और दारिद्रय को भी मिटाया जा सकता है। आधुनिक विचारों से अवगत होकर भारतीय राजनीति में हिस्सेदारी की जा सकती है। इस दूसरी विचारधारा के समर्थक और अग्रदूत बने सर सैयद अहमद। सर सैयद अहमद अंग्रेजों की विशेष कृपा के पात्र थे इस कारण उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस और औपनिवेशिक शक्ति विरोधी तमाम गतिविधियों से दूर रहने की सलाह दी।

सर सैयद अहमद के इस आग्रह ने देश की गैर-साम्प्रदायिक छवि को नुकसान पहुँचाया जबकि कांग्रेस के सभी बड़े नेता यह चाहते थे कि अंग्रेजों के विरोध में हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर शिरकत करें। ऐसा करने से जहाँ एक ओर साम्राज्यवाद विरोधी अभियान को बल मिलेगा वहीं आपसी संबंध भी मज़बूत होंगे लेकिन ऐसा हो न सका और इसका पूरा फायदा अंग्रेजों को हुआ। इस संबंध में डॉ रफ़ीक जकारिया कहते हैं-" सर सैयद के कांग्रेस-विरोध ने उसके गैर-साम्प्रदायिक रूप को नुकसान जरूर पहुँचाया। कांग्रेस के हिन्दू नेता चाहते थे कि ब्रिटिश प्रशासन में उनकी किसी न किसी प्रकार की हिस्सेदारी हो, लेकिन साथ ही वे यह भी चाहते थे कि मुसलमान भी उसमें शामिल होकर उसका फायदा उठाएँ। उनकी नज़र में हिन्दू-मुस्लिम तबकों के बीच एकताहीनता का यह प्रदर्शन गैरजरूरी था और इसलिए उन्हें बड़ी चोट पहुँची ओर निराशा हुई। भारत और ब्रिटेन में शासकवर्ग ब्रिटिशों ने इस विभाजन का स्वागत किया, यह उनके तत्कालीन उद्देश्य के अनुकूल था।"[11]

मुस्लिम राष्ट्रवाद का उभार जिन विचारों के साथ हुआ वह भी हिन्दू राष्ट्रवाद की भांति अतीत की ओर ही नज़रे जमाये हुए बैठा था, और राष्ट्रवाद की मूल विचारधारा से कटा हुआ था। मुस्लिम राष्ट्रवाद ने भी जिस अतीत से खुद को जोड़ा वह विदेशी मुसलमानों,

विदेशी भूमि और वहाँ की राजनीति से जुड़ा हुआ था। वह इस्लामी संस्कृति, इस्लामी वर्चस्व के विराट एवं सम्मोहक नारों के बीच दबकर रह गया था। स्थानीयता और भारतीयता के लिए वहाँ कोई जगह न थी। मुसलमानों को इस अलगाव के बीच अलग राष्ट्रीयता की शिक्षा दी गयी। इस दौर के पहले कभी भी भारतीय मुसलमानों ने भारत के बाहर खलीफा या पाशा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट नहीं की थी। इस रूप में मुस्लिम समाज में सांप्रदायिक विचारधारा प्रवेश पाने लगी। मुस्लिम पुनर्जागरण की वह धारा जिसने कालान्तर में प्रमुखता हासिल कर ली और जो अंततः पाकिस्तान के समर्थन में बौद्धिकों को अपनी ओर मोड़ने में सफल हुआ, उसके प्रणेता थे सर सैयद अहमद व उनके द्वारा स्थापित अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी। वस्तुत: सन् **1857** के विद्रोह की असफलता व तत्पश्चात् अँग्रेजों द्वारा मुसलमानों के दमन ने उनके अन्दर यह धारणा मजबूती से बैठा दी थी कि अंग्रेजों का विरोध करना मुसलमानों के हित में नहीं है।

सर सैयद अहमद प्रारंभ में ऐसे विचार नहीं रखते थे। बल्कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों की कौमी एकता के समर्थक थे। सन् **1883** में पटना में भाषण देते हुए जिन विचारों को व्यक्त किया वे इसके स्पष्ट प्रमाण हैं- " मित्रों, भारत में दो स्पष्ट कौम हैं जिनका नाम हिन्दू व मुसलमान है। जिस प्रकार एक आदमी के कुछ मुख्य अंग हैं उसी तरह भारत के वे मुख्य अंग हैं। हिन्दू या मुसलमान होना अपनी आन्तरिक आस्था पर निर्भर है और उसका आपसी सम्बन्धों से या बाहरी वातावरण से कुछ लेना-देना नहीं है। यह कितना सुन्दर कथन है- चाहे जिसने भी कहा हो- कि एक पुरुष के दो पहलू होते हैं। पहला, उसकी आस्था जो उसके भगवान के प्रति है, दूसरा उसकी आन्तरिक भावना जो उसकी अपने समकक्षियों के प्रति है। भगवान का भाग भगवान के लिए छोड़ दें और केवल दूसरे भाग के लिए स्वयं विचार करें। ... मेरे मित्रों मैने बार-बार कहा है और फिर कहता हूँ कि भारत एक वधू के

समान है जिसकी दो सुन्दर आँखें हैं-हिन्दू व मुसलमान। यदि वे आपस में लड़ेंगे तो वधू कुरूप हो जाएगी और यदि उनमें से एक नष्ट किया जाएगा तो वह कानी हो जाएगी। अतएव, हिन्दुस्तानियों, आपको यह अधिकार है कि आप उस वधू को भेंड़ी बनाएँ या कानी।"[12] सैयद अहमद के विचारों में परिवर्तन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ प्रारम्भ हुआ। उन्होंने इसमें प्रच्छन्न हिन्दुवाद को देखा जिसे मुसलमानों के भविष्य के लिए खतरा समझा गया।

**1857** के विद्रोह के बाद ही अंग्रेजों ने इस स्थिति को अच्छी तरह से भाँप लिया था कि अगर भारत में उसे लंबे समय तक अपना शासन कायम करना है तो उसे भारत की इन दो महान जातियों को आपस में लड़ाना होगा। अगर वे अपने इस अभीष्ट में सफल हो जाते हैं तो लंबे समय तक भारत पर अपना शासन कायम रखने में वे सफल हो जायेंगे। सन् **1906** में मुस्लिम लीग के गठन के बाद उसके लिए यह कार्य और भी आसान हो गया। पाकिस्तान के इतिहासकार वली खान के शब्दों में कहें तो-" भारतीयों की आपसी एकता अंग्रेजों के लिए बड़ी विपत्ति थी, जिसे वे किसी भी कीमत पर खत्म करना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि यदि सभी भारतीय एक साथ खड़े होने को तैयार हों, तो वे अपने मूत्र से ही पूरे ब्रिटिश साम्राज्य को जल-प्लावित करने में सक्षम होंगे।"[13] सन् **1905** में बंगाल का विभाजन हुआ जिसे भले ही प्रशासनिक सहूलियत का बहाना बनाकर विभाजित किया गया, लेकिन पश्चिम से पूर्वी बंगाल को विभाजित किया गया तो उसमें मुस्लिम बाहुल्य का पूरा ध्यान रखा गया था। यहीं से भारतीय समाज में सांप्रदायिक विचारधारा फलने-फूलने लगी। भविष्य में भी अंग्रेजों ने जो सुधार रखे उसे सांप्रदायिक आधार पर ही रखा गया।

सन् **1909** में मिन्टो-मोर्ले सुधार के नाम से जिस सुधारवादी आन्दोलन के विचारों को लाया गया उसका आधार भी सांप्रदायिक ही था, जो स्थानीय एवं म्यूनिसिपल

चुनावों से संबंधित था। इस नियम के अनुसार, एक मुसलमान केवल मुसलमान प्रत्याशी को ही अपना वोट दे सकेगा और एक हिन्दू केवल हिन्दू प्रत्याशी को। इस रूप में अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को भारतीय जनतंत्र की आधारशीला के रूप में रखा। यह वही नींव थी जिस पर भारत का प्रजातंत्र खड़ा तो हुआ लेकिन उसकी दीवारों को सांप्रदायिकता रूपी दीमक चाट कर खोखला करती जा रही थी। इस रूप में हर व्यक्ति को अपने संप्रदाय के लोगों के मुद्दों को लेकर आगे बढ़ना पड़ता था, बजाय इसके कि वे राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर आगे बढ़ते। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें राष्ट्रीय राजनीति के स्थान पर सांप्रदायिक राजनीति करनी पड़ती थी। दूसरी बार पुन: सांप्रदायिक आधार पर ही चुनाव की नीति का अनुसरण किया गया जिसे मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड के सुधारवादी नियमों के रूप में जाना जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जब ब्रिटिश सेना ने तुर्की पर आक्रमण किया, तब मुसलमानों ने इसका विरोध किया। भारत में मुसलमान ब्रिटिश सेना की इस कार्रवाही के विरोध में एकत्रित हुए। जिस बात ने अंग्रेजों को सर्वाधिक परेशान किया, वह था महात्मा गांधी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का खिलाफत आंदोलन में सहयोग। सन् **1857** के गदर के बाद शायद यह पहला ऐसा आंदोलन था जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक साथ खड़े होकर अंग्रेजों का विरोध कर रहे थे। इस आंदोलन से अंग्रेजों के दो राष्ट्र की नीति को धक्का पहुँचा।

खिलाफत आंदोलन से यह बात पक्की होती नज़र आ रही थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों का आपस में एका होना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ खिलाफत आंदोलन के नेताओं को इस एकता की आवश्यकता अपने आंदोलन को मज़बूती देने के लिए थी वहीं कांग्रेस को यह आवश्यकता स्वाधीनता और स्वायत्तता की प्राप्ति के लिए एक देशव्यापी जनआंदोलन छेड़ने के लिए थी। इसी को ध्यान में रखकर मुस्लिम लीग ने दिसंबर **1919** में एक प्रस्ताव देकर गोकुशी न करने का आह्वान किया था।[14] मगर खिलाफत आंदोलन के

दौरान उलेमाओं ने जब राजनीति का स्वाद चखा तो यह किसी भी नज़रिये से स्वास्थ्यकर न था क्योंकि इन्होंने राजनीति को धर्म के साथ जोड़ा और धार्मिक कानूनों में किसी भी प्रकार के बदलाव से साफ इंकार कर दिया। इलाहाबाद के दैनिक 'द इण्डिपेण्डेंट' ने **3** जून **1920** के अंक में चेताया, " 'कहीं खिलाफत आन्दोलन की बागडोर पूरी तरह से आध्यात्मिक और धर्म वेत्ताओं के हाथ में न चली जाय।' आधुनिक काल के महत्वपूर्ण इतिहासकार मुशीरल हसन ने भी महसूस किया, ' इस सच्चाई में कोई संदेह नहीं कि मुस्लिम पुजारियों को शामिल करना खतरों भरा था क्योंकि इन्होंने धार्मिक पक्ष को उठाया और खिलाफत-आन्दोलन के उपनिवेशवाद-विरोधी आयाम को कमज़ोर किया।' "[15] इस कारण खिलाफत आंदोलन के नेता मुसलमानों की धार्मिक-राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना में बदल पाने में असफल रहे।

सन् **1921** में कालीकट के निकट सांप्रदायिक दंगे का विवरण मिलता है जो 'मोपला के दंगे' के नाम से प्रसिद्ध है। यह दंगा पहले तो ब्रिटिश हुकूमत और मुसलमानों के बीच शुरू हुआ जिसने बाद में हिन्दू-मुसलमान का रूप ले लिया। मार्च, **1931** में भी कानपुर में भीषण दंगा हुआ। इस दंगे में प्रसिद्ध पत्रकार गणेश शंकर विधार्थी की हत्या हो गई। इन दंगों की जाँच के लिए तत्कालीन प्रशासन ने एक दल गठित किया वहीं कांग्रेस ने भी कराची अधिवेशन में एक जाँच दल गठित किया। इस समीति ने सांप्रदायिक समस्या के कारणों और इसे समाप्त करने के विविध उपायों पर अपनी सम्मति विस्तृत रूप से अक्टूबर **1931** में कांग्रेस कार्यसमिति के समक्ष प्रस्तुत की। इस समिति ने सांप्रदायिकता की समस्या का कितना सूक्ष्म विश्लेषण किया था और जिन सुझावों को पेश किया था वे कितनी कारगर थीं इसका प्रमाण इसी बात से मिल जाता है कि इसके प्रकाशन के तत्काल बाद ही औपनिवेशिक शासन ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया और जाँच समिति के छह सदस्यों में से चार सदस्यों को

गिरफ्तार कर लिया गया। इस रिपोर्ट में विस्तृत रूप से हिंदू और मुसलमानों के शुरुवाती संपर्कों, सामाजिक समस्या के कारणों, राजनीतिक समस्या, सरकारी कुचक्र, धर्मों में मौजूद मूलभूत एकता, हिन्दू और मुसलमानों की भावना, अलग-अलग संस्कृतियों पर जोर देने की गलती पर तो विचार किया ही गया है साथ ही इस समस्या को मिटाने के लिए धार्मिक एवं शैक्षिक सुधार, राजनीतिक एवं आर्थिक सुधारों, सामाजिक सुधारों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। जिस कारण औपनिवेशिक प्रशासन के कान खड़े हो गये और उसने आनन-फानन में गिरफ्तारियां कर ड़ाली और रिपोर्ट को भी प्रतिबंधित कर दिया।

इधर मुस्लिम लीग की स्थापना के काल से ही पाकिस्तान के रूप में अलग राष्ट्र की माँग की जा रही थी जिसके पैरोकार चौधरी रहमत अली खाँ जैसे लोग बने लेकिन अपनी विभाजनकारी सोच के कारण ही इसे उस रूप में सफलता नहीं मिल पा रही थी। यहाँ तक की जिन्ना जो परवर्ती काल में पाकिस्तान के स्थापक बने, उन्होंने भी लंबे समय तक पाकिस्तान की माँग का न केवल विरोध किया बल्कि उसका मखौल भी उड़ाया। सन् **1916** में लीग और कांग्रेस के बीच लखनऊ समझौता जिन्ना के ही अथक प्रयास का परिणाम था। जिन्ना की इस छवि को देखते हुए सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का बेहतरीन राजदूत' कहा था। असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद ही लोगों में असंतोष की लहर उठने लगी जिसने बड़ी ही तेजी से असहिष्णुता को बढ़ावा दिया और सांप्रदायिक दंगे बड़ी तेजी से भारतीय समाज में घटने लगे। इस स्थिति ने सांप्रदायिक शक्तियों को पुन: उठ खड़े होने के लिए अनुकूल जमीन मुहैया करायी। सन् **1937** तक नरम सांप्रदायिकता का दौर रहा जो यह मानता था कि भारत कई धर्मों के गठजोड़ से बना है। इन धर्मों में आपस में अलगाव तो हैं ही इनके बीच टकराव की स्थिति भी है लेकिन इन सबके बावजूद इनका यह विश्वास था कि इतने अन्तर होने के बावजूद सभी धर्मावलम्बियों के राष्ट्रीय हित समान हैं और उनमें

कोई अन्तर नहीं है। सन् **1937** के चुनावों के परिणाम के बाद तो मुस्लिम लीग ने घृणा आधारित विचारों को ज्यादा जोर देकर प्रचारित करना आरम्भ कर दिया था। पृथक मतदाता मंडलों की व्यवस्था होने के बावजूद मुसलमानों की आबंटित **482** सीटों में से **109** पर ही लीग की विजय हुई। उसे कुल मुस्लिम वोटों का **4.8** प्रतिशत ही मिला। हिंदू महासभा की हालत तो इससे भी ज्यादा बदतर थी।[16] इस स्थिति के कारण हिंदू सांप्रदायिकों एवं मुस्लिम सांप्रदायिकों दोनों ने वैमनस्य की भावना पर आधारित विचारों का प्रचार-प्रसार करना आरम्भ किया। जल्दी ही नरमपंथी सांप्रदायिकता का दौर समाप्त हो गया और उसका स्थान उग्र सांप्रदायिकता ने ले लिया। सांप्रदायिक विचारधारा में विश्वास रखनेवालों ने नफरत और घृणा के आधार पर अपने विचारों को प्रचारित करना प्रारम्भ किया। इन्होंने न केवल कांग्रेस और गाँधीजी के खिलाफ अपना जहर उगला बल्कि अपने सहधर्मी राष्ट्रवादियों के खिलाफ भी कटु हमले किये।

इस बीच विभिन्न मुस्लिम नेताओं ने समय-समय पर पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की रूपरेखा प्रस्तुत की। जाहिर है कि ये समस्त रूपरेखा धर्म पर आधारित थी। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो राष्ट्रों की रूपरेखा को अंजाम देने के लिए विभिन्न अधिवेशन हुए, समाज में सांप्रदायिक भावना के प्रसार से कई जगह दंगे आदि भी भीषण रूप में सामने आए। इन परिस्थितियों ने अंग्रेजों को वह भूमि प्रदान की जिसका एक लंबे अंतराल से वे इंतजार कर रहे थे। यह अंग्रेजों की साज़िश का ही परिणाम था जिसके तहत **15** अगस्त **1947** को भारत को आनन-फानन में आज़ादी दे दी गई। जबकि जून, **1948** तक भारत को आज़ादी देने की बात थी। आज़ादी के दौरान यह समझौता हुआ कि दोनों ही राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्र के अल्पसंख्यकों के हकों और उनकी सुरक्षा का पूरा ख़याल रखेंगे लेकिन अफसोस कि ऐसा हो न सका और दोनों ही ओर हज़ारों लोगों को अपनी जान गँवानी पड़ी। लाखों लोग बेघर

हुए। इस दौरान चारों ओर अमानवीय स्थितियों का मंज़र था। वस्तुत: धर्म का सांप्रदायिकता के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं है लेकिन जब राजनीति के साथ इसका घाल-मेल हो जाता है तो सांप्रदायिक विचारधारा में विश्वास रखने वाले लोग इसका इस्तेमाल अपने फायदों के लिए करने लगते हैं जिस कारण धर्म की वास्तविक छवि बिगड़ने लगती है और उसमें कई विकृतियाँ आ जाती हैं।

## 2. 2 स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

भारत की स्वतंत्रता भारतीय समाज का एक निर्णायक मोड़ था। प्राचीन सांस्कृतिक, सामाजिक रूप में एक गौरवपूर्ण इतिहास भारत के पास था, वहीं दूसरी तरफ आज़ादी के ठीक पहले विभाजन और सांप्रदायिक दंगे उसके वर्तमान पर कालिख पोत रहे थे। विभाजन के तत्काल बाद भारत में रहनेवाले उन मुसलमानों की स्थिति सोचनीय हो गयी थी जो विभाजन के बाद पाकिस्तान न जा सके। भारत में वे किसी भी प्रकार की बराबरी की माँग न कर सके क्योंकि मुस्लिम लीग का साथ देकर और पाकिस्तान की माँग करके स्वयं को मुख्यधारा से अलग रखकर ऐसी किसी भी माँग करने का नैतिक अधिकार उनके पास न था। दूसरी ओर पूरे भारत की जनता मुसलमानों को भारत विभाजन का जिम्मेदार मानकर उन्हें गद्दार करार दे रही थी। स्वाधीनता की लड़ाई के दौरान लगातार पाकिस्तान की माँग रखकर भारतीय मुसलमानों ने एक इस्लामिक राष्ट्र का न केवल दिवा स्वप्न देखा बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन को लगातार कमज़ोर भी किया। जब पाकिस्तान का निर्माण एक हकीकत बनकर सामने आया तब यह बात भी उनके सामने आ गयी कि देश का हर मुसलमान पाकिस्तान का निवासी नहीं बन सकता। भारतीय मुसलमानों को ऐसे में ज़ाहिराना तौर पर घोर निराशा हुई। ऐसे में वे क्या करें उन्हें समझ में नहीं आ रहा था। एक ओर उनका पाकिस्तान था जहाँ वे जा नहीं सकते थे तो दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों के साथ वे दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रह नहीं सकते थे।

विभाजन के तत्काल बाद ही भारतीयों और खासकर मुसलमानों का मोहभंग हुआ। जब तक वे इस बात से अवगत होते कि अलग राष्ट्र की माँग व्यर्थ है तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इसका खामियाज़ा भी उन्हें भुगतना पड़ा। एक ओर विभाजन के दौर में बहू-बेटियों की इज्जत तो गई ही, आर्थिक रूप से विपन्नता ने भी उन्हें घेर लिया। साथ ही देशवासियों के अविश्वास के पात्र बने वह अलग। भारत में रहकर ही बेगानों सी जिंदगी उन्हें जीनी पड़ी। आज भी कदम-कदम पर मुसलमानों को अपनी राष्ट्रभक्ति का प्रमाण देना पड़ता है। सत्ता के मद में चूर नेताओं ने अंग्रेजों की 'बांटो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया और सांप्रदायिकता की समस्या लगातार गहराती गई।

देश के नेताओं के सम्मुख कई चुनौतियाँ थीं जिनमें से एक थी भारत की खोई हुई एकता की भावना को वापस लाना। यह कार्य अत्यन्त ही दु:साध्य था क्योंकि विभाजन के दौर में जिन घावों को भारतीयों ने अपने ज़ेहन पर लिया था वे अभी भी हरे थे। दूसरी बात यह थी कि भारत धार्मिक आधार और भाषायी रूप में विविधताओं से भरा हुआ देश था, जहाँ अलग-अलग संस्कृतियाँ, त्योहार, आचार-व्यवहार मौजूद थे। इन विविधताओं को ही आधार बनाकर देश के ऊपर विभाजन थोपा गया था। ऐसे में देश के नीति निर्माताओं के लिए भी एक मज़बूत राष्ट्र का निर्माण एक चुनौती से कम न था। इन विषम परिस्थितियों में भारतीय संविधान में देश को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में घोषित करना किसी उपलब्धि से कम न था। भारत के संविधान में देश के हर नागरिक को समान अधिकार दिये जाने की बात कही गयी। यह आशा की गई थी कि अब आपसी मतभेदों को मिटाकर भारत एक मज़बूत राष्ट्र के रूप में उभर कर विश्व के सामने खड़ा होगा।

भारतीय संविधान में यह व्यवस्था है कि यहां जब जो चाहता है अपनी एक अलग राजनीतिक पार्टी बना लेता है और यदि कोई मुद्दा न मिला तो स्वयं को समाज के

किसी हिस्से का तथाकथित रहनुमा घोषित कर देता है। इसी का परिणाम है कि आये दिन नयी-नयी राजनीतिक पार्टियां देखने को मिलती हैं। इनके पास अगर कोई मुद्दा नहीं है तो ये मुद्दा स्वयं ही बना लेते हैं। कभी देश के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की वकालत करते हैं तो कभी वे ही लोग बहुसंख्यकों की मुख़ालफत करते नज़र आते है। औपनिवेशिक शासन ने जिस बीज को बोया उस वृक्ष का अंजाम क्या हुआ यह विभाजन के दौर में सभी ने देखा लेकिन उस वृक्ष को काटने के बजाय उसे सींचने का काम आज के नेता कर रहे हैं। अब परिस्थिति इतनी बदतर हो चुकी है कि लाख कोशिशों के बावजूद इसे भारतीय समाज से मिटा पाना मुश्किल होता जा रहा है। इसका कारण भी भारतीय समाज में ही मौजूद है। स्वाधीनता के बाद से ही धर्म के शिकंजे और भी मज़बूती से भारतीयों को जकड़ने लगे हैं। भले ही दलितों, अल्पसंख्यकों एवं शोषितों के लिए ऊपरी तौर पर सुविधाएं देने का आश्वासन दिया जा रहा हो लेकिन वास्तविकता यह है कि दलितों, अल्पसंख्यकों एवं शोषितों के लिए असहिष्णुता लगातार बढ़ती ही गयी है।

उपरोक्त परिस्थिति का केवल उल्लेख मात्र करना ही समस्या का समाधान नहीं है बल्कि इसके कारणों की भी गहरी तलाश करना आवश्यक है। क्या कारण है कि लाख कोशिशों के बावजूद भी सांप्रदायिक समस्या का हल नहीं निकल पा रहा है। दरअसल संविधान में जिस आरक्षण की नीति को यह कहकर लागू किया कि इससे दलित, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों का विकास हो पाएगा, उस नीति का स्वार्थ हित में दुरुपयोग कर आज के दौर में नेतागण वोट बैंक जुटाने का सशक्त माध्यम बना चुके हैं। इसके परिणामस्वरूप रह-रहकर असहिष्णुता का विस्फोट भारतीय समाज में देखने को मिल रहा है। गुर्जर और मीणा का हिंसक आंदोलन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह विडंबना ही है कि अन्य राष्ट्रों में राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रचार आजादी एवं राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए हुआ था वहीं भारत में राष्ट्रवादी विचारों ने एकता की भावनाओं को कमजोर किया है। भारतवासी भारतीय बाद मे बनते हैं पहले वे हिन्दू बनते है या फिर मुसलमान, सिख बनते हैं या फिर ईसाई। फिर वे उन राज्यों के बाशिंदे बनते हैं जहाँ वे बसते हैं।

धर्म के नाम पर जनता को भड़काना भस्मासुरी प्रवृति है। जिस धर्म को मुद्दा बनाकर देश विभाजन कर पाकिस्तान बनाया गया वह राष्ट्र स्वयं धर्म के नामपर एक न रह सका। कुछ ही वर्षों में उस राष्ट्र में भाषा के नाम पर विभाजन हो गया। जिस इस्लाम की रक्षा का झांसा देकर लोगों को भड़काया गया और भारत में पाकिस्तान से आतंकवाद प्रायोजित किया गया स्वयं उसी पाकिस्तान की गलियां आज निर्दोष लोगों के खून से भरी हुई हैं। क्या जिनकी मौत इन हमलों में हो रही है वे इस्लाम के नुमांइदे नहीं हैं ? फिर वे क्यों इन हमलों का शिकार हो रहे हैं। विभाजनकारी विचारों के प्रचार का परिणाम सदा ही साधारण जनता को भोगना पड़ा है।

आज़ादी के बाद यह अनुमान लगाये जा रहे थे कि अब सांप्रदायिक वैमनस्य समाप्त हो जाएगा और पूरे देश में अमन और चैन होगा लेकिन आजादी के बाद सांप्रदायिक समस्या और भी विकट रूप धारण करने लगी। स्वाधीनता के बाद के दौर में बड़ी ही तेजी से औद्योगीकरण का विकास हुआ और मध्यवर्ग ने देखते ही देखते भारत में वह स्थान पा लिया जहाँ से वह देश के मार्ग को किसी भी ओर मोड़ पाने में सक्षम था। यह विडंबना ही है कि जिसके हाथ में देश की दशा और दिशा बदलने की शक्ति है वह स्वयं अपनी इस शक्ति से अपरिचित है और केवल संसाधनों पर अपना कब्जा जमाने के लिए होड़ में शामिल हो गया है। भारतीय मध्यवर्ग के लिए राजनीति त्याज्य वस्तु है जिसपर हर सुबह अफसोस जाहिर कर

वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। साथ ही यह वर्ग बाहर से भले ही आधुनिक होने का दंभ भर ले लेकिन आज भी अपनी रूढ़िवादी परंपराओं एवं विचारों का त्याग नहीं कर पाया है। इसका कारण यह है कि भारतीय मध्यवर्ग पश्चिम के मध्यवर्ग की तरह किसी बौद्धिक क्रांति से नहीं गुजरा। पश्चिम में मध्यवर्ग के उदय के पहले फ्रांस की क्रांति हुई, रेनसा का युग आया जिसने पश्चिमी जनमानस को बौद्धिक स्तर पर अत्यन्त विकसित कर दिया था जबकि भारत में मध्यवर्ग उद्योग-धंधों के कारण उभरा न कि किसी बौद्धिक क्रांति के कारण। इसलिए भारतीय मध्यवर्ग पूँजीवादी चकाचौंध का शिकार हुआ और आज भी हो रहा है। भारतीय मध्यवर्ग आज भी धर्म की उन बेड़ियों में स्वयं को जकड़ा हुआ पाता है जिसमें वह आज़ादी के पहले जकड़ा हुआ था। आज भी धर्म की रूढ़ियों के खिलाफ कुछ कह पाने की हिम्मत उसमें नहीं है। इस मध्यवर्गीय मानसिकता का सर्वाधिक उपयोग आज की राजनीति में किया जा रहा है।

वहीं दूसरी ओर वह पीढ़ी जो स्वाधीनता के पहले त्यागी और बलिदानी थी, आजादी के तत्काल बाद ही भ्रष्टाचारी और स्वार्थी बन गयी। अपने आप को जनता का सेवक घोषित कर ज्यादा से ज्यादा देश की जनता को लूटने का प्रयास किया गया। कभी पैसों का लालच देकर तो कभी धर्म के नाम पर भड़काकर लोगों से वोट बटोरे गये। जैसे-जैसे इन नेताओं की आकांक्षाएं और भूख बढ़ती गयी वैसे-वैसे भारतीय राजनीति और भी खस्ताहाल होती गयी। हर उस व्यक्ति ने, जिसकी भावनाएं किन्हीं कारणों से दब गयीं, अलग राजनीतिक दल बना लिया और सफलता हासिल करने के लिए कभी धर्म का तो कभी जाति का और कभी क्षेत्र का सहारा लिया। वर्तमान समय की राजनीति में कुकुरमुत्ते की तरह उभर आयी नित नवीन राजनीतिक पार्टियां स्वत: इसका प्रमाण हैं।

आज के समय में आरक्षण का मुद्दा भी सांप्रदायिकता की आग में घी का काम कर रहा है। किशन पटनायक इस संबंध में कहते हैं- " आरक्षण की राजनीति का नकारात्मक पहलू यह है कि यह एक साम्प्रदायिक आन्दोलन का रूप ले रहा है जबकि इसको एक देशव्यापी सामाजिक आन्दोलन के रूप में उभरना चाहिए था। इस राजनीति में एक समूह की माँगें और अधिकार ही दिखााई पड़ते हैं। पूरे समाज को इससे क्या फायदा होनेवाला, राष्ट्र का भविष्य किस तरह मजबूत होनेवाला है, समाज कैसे गतिशील होनेवाला है, यह बिल्कुल नहीं दिखाई देता है। अगर आरक्षण की राजनीति सिर्फ एक समूह को अधिकार दिलानेवाली है, तो जिनको यह अधिकार नहीं मिलनेवाला है वे क्यों इसमें दिलचस्पी लेंगे ? अगर ट्रेड यूनियन के साथ समाजवादी आन्दोलन नहीं है तो जो कारखाना-मजदूर है वह क्यों उसका समर्थक होगा ? असम के बोडो आन्दोलन में अगर संपूर्ण राष्ट्र या उत्तर पूर्व भारत की भलाई नहीं है तो असम-बंगाल के लोग क्यों उसे सहयोग करेंगे ? खंडों के अधिकारों के साथ समग्र के विकास का सूत्र प्रकट रूप में दिखाई पड़ना चाहिए, मुखरित होना चाहिए।"[17] किशन पटनायक यहां कहना चाहते हैं कि देश में बननेवाली नीतियां किसी खास वर्ग के लिए ही नहीं होनी चाहिए बल्कि समग्र जनता को ध्यान में रखकर बनायी जानी चाहिए ताकि समाज में किसी प्रकार का विभाजन न खड़ा हो सके। कोई नीति किसी खास वर्ग के लिए यदि बनाई भी जाती है तो पूरे समाज तक यह संदेश जाना चाहिए कि किसी खास वर्ग के लिए एक नीति बनाने की आवश्यकता क्यों है और वृहत्तर पैमाने पर राष्ट्र का इसमें क्या फायादा होगा। समाज को खंड़ों में विभक्त करना आनेवाले समय के लिए घातक साबित हो सकता है।

भारत राष्ट्र के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू सांप्रदायिकता की लगातार बढ़ती भयावहता से अच्छी तरह वाकिफ थे। इसलिए समय-समय पर उन्होंने सांप्रदायिक

विचारधारा को प्रचारित एवं प्रसारित करनेवाली ताकतों पर हमला किया। **15** अगस्त **1952** को स्वतंत्रता दिवस के भाषण में उन्होंने देश के सामने मौजूद खतरों का जिक्र किया जिनमें हिंसा की संस्कृति, सांप्रदायिकता और स्वार्थपरता प्रमुख थे। उनका यह विचार था कि सांप्रदायिकता देश को और भी ज्यादा कमजोर कर सकती है। उन्होंने कहा था-" हमें साम्प्रदायिक तत्वों और स्वार्थी-लालची लोगों से सतर्क रहना है जो झूठ और पाखण्ड से देश को नुकसान पहुँचाते हैं। यदि इन तीन चीजों को रोका नहीं गया तो ये हमारे देश को बर्बाद कर देगी।"[18] साथ ही नेहरू ने उन सभी तत्वों की कड़ी आलोचना की जो सांप्रदायिकता फैलाने में अपनी प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। सन् **1962** में चीन युद्ध और **1965** में पाकिस्तान युद्ध के दौरान जनसंघ को लोकप्रियता मिली क्योंकि जनसंघ को कांग्रेस से ज्यादा बड़ा राष्ट्रभक्त समझा जाने लगा था। इस बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण सन् **1967** में जनसंघ ने कई जगहों पर जीत हासिल की। दरअसल जनसंघ ने चुनाव पूर्व उग्र हिन्दुत्ववादी विचारों का प्रचार किया था जिसने जनसंघ को चुनाव में जीत हासिल करने में मदद की।

स्वाधीन भारत में लगातार सांप्रदायिक दंगे बढ़ते गये। सन् **1950** में पश्चिम बंगाल में गोरा बाजार, दमदम आदि में दंगे फैल गए। इन दंगों में **34** मुसलमान और **16** हिन्दू मारे गए और **146** मुसलमान व **110** हिन्दू घायल हुए। सन् **1954** में कुल **54** दंगे हुए जिनमें **34** व्यक्ति मारे गए और **512** घायल हुए। **1956** में **84** दंगों का विवरण है जिनमें **35** लोग मारे गए और **575** घायल हुए। **1957** में **58** दंगे पंजीकृत हुए और मरने वालों की संख्या **58** तथा घायलों की संख्या **316** पहुंच गई। उसके बाद **1958** में सांप्रदायिक दंगों की **40** घटनाएं दर्ज हुई जिनमें **7** लोग मौत की नींद सो गए और **369** घायल हुए। **1959** में सांप्रदायिकता की **42** घटनाएं घटित हुई जिनमें **41** लोगों की मौत हुई और **1344** घायल हुए। **1960** में **26** घटनाएं घटित हुई जिनमें **14** व्यक्तियों की मृत्यु हुई और **262** लोग घायल

हुए।[19] उपरोक्त ब्यौरा तो स्वाधीनता के तत्काल बाद के केवल 10 वर्षों का है जिसमें यह देखा जा सकता है कि एक भी वर्ष ऐसा नहीं जिसमें सांप्रदायिक दंगे न हुए हों।सन् 1962 में जबलपुर में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए जिसने समस्त भारतीय जनमानस को भीतर से झकझोर दिया था।साठ के दशक के मध्य में पूर्वी भारत के रांची, जमशेदपुर, दुर्गापुर जैसे स्थलों पर दंगे हुए।साथ ही यह भी देखा गया कि दंगे बार-बार उन स्थलों पर हुए जहाँ एक बार हो चुके थे।

आधुनिक भारत में दंगों का अध्ययन करते समय इतिहासकार असगर अली इंजीनियर कहते हैं- " आधुनिक भारत में साम्प्रदायिक हिंसा के स्वरूप को समझने के लिए विभिन्न वर्गो, सामाजिक संगठनों, साम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक पार्टियों और इसमें शामिल सम्प्रदाय के अभिजात वर्गों की आकांक्षाओं को समझना जरूरी है।"[20] श्री असगर अली इंजीनियर के उपरोक्त विचारों में देखा जा सकता है कि सांप्रदायिक हिंसा समाज के कुछ साधन सम्पन्न लोगों की महत्वाकांक्षाओं का परिणाम है।

सांप्रदायिक समस्या के लिए बढ़ती हुई बेरोज़गारी भी मुख्य भूमिका में है। दरअसल विभिन्न सांप्रदायिक संगठनों ने अपनी विचारधारा को प्रसारित करने के लिए समाज के बेरोज़गार युवकों को निशाना बनाया है।इन सांप्रदायिक संगठनों ने युवा मानस में यह बात ड़ाल दी है कि उनकी इस दुदर्शा के लिए दूसरे धर्म के लोग जिम्मेदार हैं न कि उनकी अशिक्षा।असगर अली इंजीनियर कहते हैं- "बेरोज़गारी की बढ़ोत्तरी ने भी साम्प्रदायिकता के विस्तार में बहुत योगदान दिया।"[21] एक ओर जहाँ हिन्दुत्ववादी संगठन युवाओं का इस्तेमाल करते हैं वहीं मुस्लिम संगठन भी इसी राह पर चलते नजर आते हैं।" इस्लामिक स्टूडेन्ट मूवमेण्ट ऑफ इण्डिया (सिम्मी) ने भी बेरोज़गार मुस्लिम युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया।'सिम्मी' नेताओं ने इस्लाम के सन्दर्भ देकर अत्यधिक भावुकतापूर्ण भाषण दिए।इस

तरह हिन्दू और मुस्लिम दोनों साम्प्रदायिकतावादियों ने फ्रायड की मनोवैज्ञानिक शब्दावली प्रयोग करके युवाओं की आर्थिक व सामाजिक हताशा को अपने स्वार्थों के लिए दोहन करने की कोशिश की।"[22] असगर अली इंजीनियर के उपरोक्त निष्कर्षों को देखकर यह कहा जा सकता है कि आज राजनीतिक संगठन अपने निहित स्वार्थों के लिए युवावर्ग की भावनाओं का दुरुपयोग करते हैं। उनकी भावनाओं को भड़काकर उनका दोहन करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की परिस्थितियों को देखा जाय तो यह देखा जा सकता है कि समसामयिक समाज में सांप्रदायिकता के लिए जहाँ एक ओर राजनीतिक दल जिम्मेवार हैं वहीं दूसरी ओर इसके लिए आर्थिक नीतियाँ भी जिम्मेवार है। आजादी के बाद के दौर से ही सत्ता पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों ने फूट डालो और शासन करो की नीति का ही अनुसरण किया है। सांप्रदायिकता की बढ़ती समस्या के लिए सभी बराबर जिम्मेदार हैं।

स्वाधीनता के पहले से धर्म-परिवर्तन विवाद का मुद्दा रहा है। आज़ादी के बाद भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में घोषित किया गया लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में धर्म-परिवर्तन सांप्रदायिक वैमनस्य का एक प्रमुख कारण रहा है। भले ही संवैधानिक रूप में भारत के हर नागरिक को एक धर्म छोड़ने और अन्य धर्म को स्वीकारने, अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करने का अधिकार था लेकिन व्यवहारिक स्तर पर ऐसा न हो सका। इसका उदाहरण उड़िसा में हुए सांप्रदायिक दंगे हैं। ओड़िसा में सांप्रदायिक दंगे हिन्दुओं और ईसाईयों के बीच हुए हैं जिनमें सबसे ज्यादा ईसाईयों को इसका खामियाजा भुगतना पड़ा है। दरअसल स्वाधीनता के बहुत पहले से ही ईसाई मिशनरियाँ यहाँ के आदिवासियों एवं दलितों के बीच कार्य करती रही हैं। हिंदू धर्म में भले ही आदिवासियों एवं दलितों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत स्थान दिया गया है लेकिन कभी भी समान स्थान नहीं दिया गया। उन्हें हमेशा हिकारत की

नज़र से ही देखा गया और त्याज्य समझा गया। ईसाई मिशनरियों के कार्यकर्त्ताओं ने न केवल इन दलितों एवं आदिवासियों को आर्थिक सहायता दी बल्कि यदि वे ईसाई धर्म को स्वीकार करते हैं तो उन्हें उनके समाज में समान स्थान दिलाने का वादा किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे दलितों और आदिवासियों के एक बड़े हिस्से ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। भारतीय संविधान में भी इसे स्वीकृति मिली हुई थी। ओड़िसा भारत का पहला राज्य था जिसने **1967** में इस नियम को खारिज कर दिया। उन्होंने यह कानून बनाया कि कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था किसी भी व्यक्ति को सीधे-सीधे अथवा किसी और तरीके से प्रलोभन देकर अथवा बाध्य कर धर्म-परिवर्तन नहीं करा सकता जबकि ईसाई मिशनरियों ने इस कानून का विरोध करते हुए यह तर्क दिया कि अपने धर्म का प्रचार करना उनका धार्मिक कर्तव्य है। परिणामस्वरूप थोड़े-थोड़े अंतराल पर ओड़िसा सांप्रदायिक दंगों की आग में झुलसा है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्न राजनीतिक दल या तो सत्ता में बने रहने के लिए या फिर सत्ता हथियाने के लिए धर्म का उपयोग करते हैं। जिसका परिणाम है सांप्रदायिक हिंसा। विभिन्न दंगों के समय यह देखा गया है कि हिंसा के समय पुलिस अपनी वास्तविक भूमिका से दूर ही रहती है। जबकि प्रशासन यदि चाहे तो किसी भी घटना से चुटकी में निपटा जा सकता है।

दूसरी बात आजादी के **60** वर्षों के बाद भी समाज का एक तबका ऐसा है जो आज भी पिछड़ा हुआ है। इस कारण उनमें आधुनिक विचारों का प्रसार उस रूप में नहीं हुआ है जिस रूप में अन्य तबकों में आधुनिकता का प्रसार हुआ है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि समाज का संतुलन बिगड़ गया है। सांप्रदायिकता में इजाफ़ा होने का एक और कारण है आरक्षण। आरक्षण की राजनीति के कारण सवर्णों में यह सोच पैदा हुई है कि आरक्षण का लाभ केवल दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को मिल रहा है। बेरोजगारी के

इस दौर में जब संसाधन बंट रहे हैं तब किसी एक जाति विशेष में जन्म न लेने का खामियाजा उन्हें भुगतना पड़ रहा है।

इस रूप में यह देख सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार हुआ है तो इसके पीछे विभिन्न तत्व मौजूद रहे हैं। केवल धर्म ही नहीं बल्कि अर्थ, राजनीति, भाषा, क्षेत्रीयतावाद, जातिवाद इत्यादि मिलकर पूरे भारत में सांप्रदायिक विद्वेष का कारण बन चुके हैं। धर्म, भाषा, क्षेत्र और जाति के नाम पर भारत विभाजन के ऐसे ज्वालामुखी पर खड़ा है जिसका विस्फोट किसी भी समय हो सकता है और समूचा भारत छिन्न-भिन्न हो सकता है।

## 2.3. हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल

साहित्यकार समाज का सजग प्रहरी होता है। समाज की हर छोटी से छोटी घटना साहित्यकार की भाव तंत्रियों को झंकृत करती है। वास्तव में सच्चा साहित्यकार स्वयं को समाज से काटकर अलग रख ही नहीं सकता। यदि वह ऐसा करता है तो न तो उसके साहित्य का कोई मूल्य रह जाता है और न ही उसे साहित्य के धरातल पर कोई स्थान मिल सकता है। समाज में हो रहे हर परिवर्तन पर उसकी नज़रें होतीं हैं और उन परिवर्तनों के होने वाले दूरगामी प्रभावों से अपने पाठकों को वह अवगत कराता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक साहित्यकार के हाथों में समाज की नब्ज़ होती है लेकिन एक साहित्यकार का कार्य समाज की अवस्था जैसी है वैसा ही अंकन करना भर नहीं होता बल्कि समाज कैसा है और उसे कैसा होना चाहिए यह भी बताना एक साहित्यकार का दायित्व है। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य जनता से लिया गया, जनता के लिए रचा गया सर्जनात्मक प्रयास होता है। इस प्रयास के तहत स्वतंत्रतापूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय समाज में सांप्रदायिकता के बढ़ते चरण को भारतीय भाषा के रचनाकारों ने पहचाना, उससे विचलित हुए और इस समस्या पर अपनी

लेखनी चलाई। हिंदी साहित्य की विविध विधाओं-कविता, कहानी, नाटक, निबंध और उपन्यासों में सांप्रदायिकता पर रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। यहाँ इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है कि हिंदी उपन्यासों में किस प्रकार सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है ? उन तत्वों की सही-सही शिनाख्त हुई है या नहीं जो सांप्रदायिक विचारधारा फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं ?

हिंदी उपन्यास के प्रारम्भिक अथवा शैशवकाल में शिक्षाप्रद एवं सुधारवादी उपन्यास देखने को मिलते हैं। राधाकृष्ण दास का **'निस्सहाय हिंदू'** नामक उपन्यास **1881** ई. में लिखा गया। इस उपन्यास की केंद्रीय समस्या गोवध है जिसे तत्कालीन समाज की समस्या के रूप में देखा गया है। इस उपन्यास में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि अंग्रेज सन् **1857** की क्रांति के बाद इस तथ्य से अच्छी तरह वाकिफ हो चुके थे कि यदि उन्हें भारत पर अपना शासन कायम रखना है तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन के बीज बोने पड़ेंगे। यह विभाजन धर्म के माध्यम से बड़ी ही आसानी से खड़ा किया जा सकता है। गाय हिन्दुओं के लिए पूजनीय थी इसलिए तत्कालीन समाज में गोवध एक संवेदनशील वस्तु थी। वहीं बकरीद के समय गाय की कुर्बानी धार्मिक विश्वास की बात मुसलमानों के लिए बन जाती थी। इस कारण बकरीद के समय दंगे होने लगते थे। अंग्रेज न केवल मुसलमानों का पक्ष लेते थे बल्कि उन्हें भड़काते भी थे। इस उपन्यास में राधाकृष्ण दास ने मौलवी अब्दुल अजीज जैसे मुसलमान पात्र की सृष्टि की है जो गोवध रोकने का प्रयास करता है और इस क्रम में अपनी जान भी गँवाता है। अब्दुल अजीज 'गोहितकारीणी सभा' का सभापति चुना जाता है। वह साफ-साफ कहता है कि पाक कुरान में गोकुशी करना वर्जित है।

इस उपन्यास में हाजी अताउल्ला जैसे धर्मांध चरित्र भी हैं जो न केवल गोकुशी को जायज मानते हैं बल्कि इसके लिए मुसलमानों को भड़काते भी हैं। अब्दुल अजीज से तंग

आकर और गोकुशी के विरोध में उसे खड़ा देख कर धर्मांध मुसलमानों के साथ उसके घर पर हमला कर देता है जिसमें अब्दुल अजीज, उसकी पत्नी और उपन्यास का नायक मदनमोहन मारे जाते हैं। इस दंगे में हाजी अताउल्ला भी अपने आक्रमणकारी साथियों के साथ जान गँवा बैठता है। इस उपन्यास पर मुख्य रूप से भारतेंदु का प्रभाव मानते हुए मधुरेश कहते हैं- " हिंदू-मुस्लिम सौहार्द की दृष्टि से भारतेंदु स्वयं एक सजग रचनाकार होने का परिचय देते हैं। यह उपन्यास 'गोवध' की समस्या को केंद्र में रखकर लिखा गया है। लेकिन इसका प्रशंसनीय पक्ष यह है कि यह किसी रूढ़ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है। इसका नायक मदनमोहन गो-वध रोकने के लिए प्रयत्नशील है। उसके इस काम में उसका एक मुस्लिम मित्र अब्दुल अजीज उसकी सहायता करता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों में ऐसे लोग हैं जो इस समस्या को भिन्न और कट्टर दृष्टि से देखने के कारण इन दोनों के ही विरोधी हो जाते हैं। अपने लिए निश्चित किए गए लक्ष्य और कार्यभार के लिए दोनों मित्र अपने को बलिदान कर देते हैं। "[23] हिंदी उपन्यास के प्रारंभिक दौर में ही जिस रूप में हिंदू-मुस्लिम समस्या को उठाया गया है वह आश्चर्यजनक है। इस उपन्यास में काशी के तत्कालीन समाज को केंद्र में रखा गया है। इस उपन्यास के संबंध में गोपाल राय कहते हैं- " निस्सहाय हिन्दू हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें मुस्लिम समाज का अंकन किया गया है। पहली बार मुस्लिम पात्रों का समावेश निस्सहाय हिन्दू में ही देखने को मिलता है। जो लोग हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम पात्रों के न होने का रोना रोते हैं उन्हें निस्सहाय हिन्दू पढ़ कर देखना चाहिए। समकालीन मुस्लिम समाज दो वर्गों में विभक्त था। एक वर्ग कट्टरपन्थी धर्मान्ध मुसलमानों का था, जिसके नेता अभिजातवर्ग के मुसलमान थे। मुसलमानों के अनुदार धार्मिक नेता, मुल्ला आदि भी इसी वर्ग के अंग थे। इस वर्ग की अँगरेज शासकों से साँठगाँठ थी। पुलिस विभाग में भी इस वर्ग के लोग घुसे हुए थे। दूसरा वर्ग राष्ट्रीय विचारधारा से युक्त

उदार मुसलमानों का था, जिसमें मौलवी अजीज जैसे लोग थे। इस वर्ग के मुसलमान हिन्दुओं से द्वेष नहीं रखते थे और देशहित के कार्यों में उनके साथ सहयोग करते थे। हिन्दुओं के साथ उनके मैत्री और पारिवारिक संबंध होते थे।"[24] इस प्रकार देखा जा सकता है कि उपन्यास लेखन के बिल्कुल प्रारंभिक दौर में ही कथाकारों का ध्यान हिंदू-मुसलमानों के बीच बढ़ते सांप्रदायिक विद्वेष ने खींचा था।

राधाकृष्ण दास जी के बाद देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में मुसलमान पात्रों को देखा गया लेकिन देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यासों में मुसलमानों की जिस छवि का निर्माण किया है वह उनकी सांप्रदायिक मनोवृति का ही प्रतिफलन लगता है। खत्री जी ने अपने उपन्यासों में जिन मुसलमान चरित्रों को दिखाया है वे अमूमन वेश्याएं, नागरी, गोहर आदि हैं। खत्री जी ने अपने उपन्यासों में मुसलमानों को धोखेबाज़, दगाबाज़, भ्रष्टचरित्र और षडयंत्रों में लिप्त दिखाया है। आलोचक गोपाल राय इस संबंध में कहते हैं- " मुसलमानों के प्रति लेखक की धारणा अनुकूल नहीं थी। यह उस काल की सामान्य हिन्दू मानसिकता थी, जिसकी आलोचना काशी प्रसाद जायसवाल ने हिन्दी प्रदीप के जनवरी, 1899 अंक में की थी। खत्री जी ने अपनी कथापुस्तकों में मुसलमान पात्रों को चुन-चुन कर धोखेबाज, दगाबाज, चरित्रभ्रष्ट और षडयंत्रकारी रूप में चित्रित किया है। उपन्यास में वर्णित वेश्याएँ, नागर, गौहर, आदि सभी मुसलमान हैं। हिन्दू राजा अपनी मुसलमान प्रजा से सदा सावधान रहते हैं। यदि भूल से कोई पात्र किसी मुसलमान लड़की से प्रेम कर बैठता है तो, उसकी जाति का पता चल जाने पर, अफसोस जाहिर करता है और फिर उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अपवादस्वरूप केवल एक पात्र है, शेरअली खाँ, जो नेक, मजहबपरस्त और चरित्रवान है। यह कदाचित् इसलिए कि शेरअलि सन्तति के अन्तिम हिस्सों में आता है। कदाचित् तब तक

खत्री जी के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ चुका था या उन्हें इस बात का पता चल चुका था कि उनके पाठकों में मुसलमान भी हैं।"[25]

इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि किस प्रकार उदार सोच, वृहत चिंतन एवं सूक्ष्म विश्लेषण के अभाव में हिंदी के साहित्यकारों ने जाने-अनजाने भारतीय जनता के मानस में एक-दूसरे के खिलाफ वैमनस्य खड़ा कर दिया और सांप्रदायिक सोच को हवा दे दी। काशी प्रसाद जायसवाल ने 'हिंदी प्रदीप' में 'हिन्दी उपन्यास लेखकों को उलाहना' में ऐसे उपन्यास लेखकों पर टिप्पणी देते हुए लिखा है- " दो चार को छोड़कर प्राय: सभी बंग भाषा के अनुवादित उपन्यासों में एकप्रायिक या सामान्य दोष है और उसी दोष के लिए हमारा उलाहना है। वह महादोष यह है, मुसलमानों के चरित्र का ऐसा चित्र खींचना कि जिस्से यह भाव होने लगे कि संसार के मनुष्य जाति भर में सबसे नीच, दुष्ट, मायाचारी, विश्वासघातक ये ही होते हैं। सभी अवगुण और पापों के मुस्लमान अवतार हैं। पृथ्वी तल पर किसी विशेष जाति व सम्प्रदाय के जनमात्र दुष्ट या पापी नहीं हो सकते। सबों में अच्छे और बुरे होते हैं। हिन्दू मुस्लमानों में मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन दिन दोनों में परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ाया जा रहा है। देश का अहित करने वाले उपन्यासों में यों उपन्यास लेखकों का भी साझा है।"[26] दरअसल काशी प्रसाद जायसवाल की नजरों में **1895** में रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनुदित उपन्यास **'चित्तौर चातकिनी'** और कार्तिक प्रसाद वर्मा द्वारा अनुदित उपन्यास **'इला'** जैसे उपन्यास थे जिनके प्रकाशन के तत्काल बाद बवाल मच गया था। चित्तौर चातकिनी में राजा जय सिंह की नीचता और औरंगजेब के विरूद्ध उसकी पत्नी उदयपुरी बेगम और रोशनआरा की सहायता से संचालित राजद्रोह का वर्णन किया गया है। इसे राजवंश की मर्यादा के विरूद्ध समझा गया और इसकी समस्त प्रतियां गंगा में डूबो दी गई। इला उपन्यास में राणा सांगा की पुत्री इल्लिला के हेमू की बेगम बनने तथा हेमू और चित्तौर के राणा उदय सिंह के बीच युद्ध

का वर्णन है जिसमें हिन्दू गौरव और राजपूतों की वीरता का चित्रण किया गया था। इन दोनों ही उपन्यासों में मुसलमानों को चरित्रहीन, भ्रष्ट, क्रूर, कायर आदि रूप में प्रस्तुत किया गया था। काशी प्रसाद जायसवाल का ऐसे ही अनुदित उपन्यासों के प्रति आक्रोश था।[27] बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हिन्दू लेखकों का मुसलमान विरोधी दृष्टिकोण बना रहा लेकिन यत्र-तत्र इसमें बदलाव भी देखा गया।

किशोरीलाल गोस्वामी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए हिंदी जगत् में विख्यात हैं। ऐतिहासिक उपन्यास लेखन के पीछे गोस्वामी जी का उद्देश्य हिन्दुओं के जातीय गौरव को जागृत करना था लेकिन जिस काल खंड़ का उन्होंने चुनाव किया वह हिन्दू जाति के पराभव का काल था। इसके लिए गोस्वामी जी मुसलमानों को दोषी मानते हैं। अपने उपन्यास **'तारा'** की भूमिका में वे मुस्लिम इतिहासकारों को एक सिरे से खारिज करते हुए कहते हैं- " मुसलमान सरीखे कट्टर धर्माग्रही विजित आर्यो के सच्चे गुणों या मानमर्यादा की कद्र ही क्या कर सकते थे ? वरन् उसके विरुद्ध उन लोगों ने जहाँ तक बना, वहाँ तक यह किया कि आर्यो की धीरता, वीरता, गम्भीरता, दृढ़ता, साधुता, सत्यता...सतीत्व आदि अलौकिक गुणों का एक प्रकार से मटियामेट ही कर डालने मे कोई बात उठा न रखी और इसके साथ ही अपनी दुष्टता, कुटिलता, क्रूरता, धूर्तता...जुल्म... आदि दोषों का या तो भरपूर उल्लेख ही नहीं किया, या जहाँ तक बना, उसे छिपाया। ...जो कुछ बादशाही जमाने के इतिहास लेखकों ने अपनी कलम से लिखा है, वर्तमान समय के मुसलमान लोग उसके उर्दू अनुवाद में यथाशक्य अपनी रफूगरी की कैसी कारीगरी दिखा रहे हैं। ...इसीलिए हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और अपनी कल्पना को 'मुख्य' रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर लिया है।"[28] गोस्वामी जी के उपरोक्त विचारों का विश्लेषण किया जाय तो यह साफ तौर पर देखा जा

सकता है कि उनका दृष्टिकोण मुसलमानों के प्रति सहिष्णु न था। वे पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर लेखन करते थे। किसी भी विचार को यदि जिद के स्तर तक सत्य मानने की प्रवृति होगी तो उसका परिणाम ऐसा ही होता है जैसा गोस्वामी जी के विचारों के साथ देखा जा सकता है।

आलोचक मधुरेश कथाकार गोस्वामी जी के हिन्दू धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा एवं मुसलमानों के प्रति बैर भाव पर अपने विचार रखते हुए कहते हैं- " गोस्वामी जी के युग में आर्य समाज का जो 'शुद्धि-आंदोलन' सक्रिय था, उसकी भी उनके दृष्टिकोण निर्माण में कुछ भूमिका हो सकती है। यही कारण है कि वे अपने लिए चुनी हुई विषयवस्तु के प्रति पूर्वग्रह रहित और वस्तुनिष्ठ दृष्टि नहीं अपना सके। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या हिन्दू-दृष्टिकोण से ही की है जिसमें यहाँ-वहाँ मुसलमानों से बदला लेने की उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को भी देखा जा सकता है। वे हिंदुओं पर मुसलमानों के अत्याचार से उद्वेलित होकर उन घटनाओं का वर्णन करते हैं। वे राजपूती शौर्य और स्त्री की गरिमा को मुसलमानों के अत्याचारों और नृशंसता के विरोध में भी खड़ा करते हैं।"[29] मधुरेश के उपरोक्त कथन से यह बात स्पष्ट है कि यदि एक रचनाकार तथ्यों का प्रयोग केवल और केवल अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करेगा और दूसरे तथ्यों को इसलिए छोड़ देगा कि वे उसके अभीष्ट में बाधक हैं तो ऐसे में पूरी जाति का भविष्य रचनाकार खतरे में ड़ाल देता है। गोस्वामी जी ने अकबर और दारा जैसे ऐतिहासिक पात्रों को भी दुश्चरित्र के रूप में चित्रित किया है। कल्पना के पंख होने का मतलब यह नहीं है कि इतिहास के साथ भी ऐसी छेड़-छाड़ की जाय जिससे इतिहास तो कलंकित होगा ही साहित्य भी कलंकित हो जायेगा। इस कारण उस काल के सजग रचनाकारों में से एक बालमुकुन्द गुप्त ने अपने पत्र में इस बात की तीखी आलोचना की थी कि उसमें (तारा उपन्यास में) मुसलमान पात्रों का चित्रण कुत्सित रूप में किया गया था। उन्होंने तो नागरी प्रचारिणी सभा से, जिससे गोस्वामी जी सम्बद्ध थे, अनुरोध किया था-

" यदि सचमुच वह हिन्दी की उन्नति चाहती है तो सबसे पहले 'तारा' पढ़े और गोस्वामी जी को उनकी पुस्तक के गुणदोष को समझावे कि वह कैसा गन्दा और भयानक कार्य कर रहे हैं।"[30] अपने इसी उपन्यास में गोस्वामी जी ने औरंगजेब को धर्मान्ध, कट्टर शासक के रूप में दिखाया है। औरंगजेब को वे हिन्दू-द्वेषी और अंग्रेजों को अपना हितैषी मानते थे। अंग्रेजों के शासन को वे शान्तिमय मानते थे। इस क्रम में महता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास **'आदर्श हिन्दू'** का नाम लिया जा सकता है। इस उपन्यास में मुसलमानों का विरोध तो नहीं है लेकिन वर्ण-व्यवस्था का इसमें समर्थन किया गया है। शर्मा जी ब्राह्मण को ब्राह्मण एवं शुद्र को शुद्र बनाये रखने के पक्षधर थे।

यदि मोटे तौर पर देखें तो नवजागरण कालीन हिंदी उपन्यासों में मुसलमानों का विरोध मुखरित था तो दूसरी ओर ऐसे भी रचनाकार थे जो ऐसी सोच के विरोधी थे। वे जानते थे कि यदि अंग्रेजी शासन से मुक्त होना है तो इसके लिए हिंदुओं और मुसलमानों को मिलकर लड़ना होगा। इसकी एक मिसाल सन् **1857** के संग्राम में देखी जा चुकी थी। अंग्रेज शासक यह अच्छी तरह से समझ चुके थे। इसलिए उन्होंने भारतीय जनता को धर्म के नाम पर लड़ाना शुरू किया। यह चिंगारी दावानल न बनती अगर हिंदी के रचनाकारों ने अपने हिंदुत्ववादी विचारों का त्याग किया होता। अंग्रेजी ताकत से लड़ने के लिए आवश्यक था कि सोयी हुई भारतीय जनता को जगाया जाय। उनमें नवजागरण का मंत्र फूंका जाय। रचनाकारों ने यह कार्य किया भी लेकिन यह दुर्भाग्य ही था कि रचनाकारों ने जिस काल को चुना वह मुस्लिमों का शासनकाल था। हिन्दू गौरव को जगाने के लिए इतिहास को नज़रअन्दाज कर मुसलमान शासकों को धर्मान्ध, अत्याचारी, चरित्रहीन, नृशंस एवं हिन्दू विरोधी दिखाना आवश्यक था। इतिहास के साथ ऐसा खिलवाड़ किसी भी रचनाकार को माफ नहीं करता और

इसका खामियाज़ा सभी को भुगतना पड़ता है। कालान्तर में इन मतभेदों के कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खाई बढ़ती गई।

हिन्दी उपन्यास के धरातल पर एक लंबे समय के बाद ऐसे व्यक्तित्व का आगमन हुआ जिसने उपन्यास को विशुद्ध मनोरंजनपरक विधा से सामाजिकता की ओर मोड़ दिया। प्रेमचंद ने भारतीय समाज में मौजूद हर विद्रूपता का बड़ी ही बेबाकी से अपने उपन्यासों में बिना किसी खौफ के चित्रण किया। चाहे वह धर्म हो, या राजनीति या अंग्रेजी शासन में जर्जरित हो रहा भारतीय समाज हो, हर एक की गहन पड़ताल प्रेमचंद करते हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच, स्त्री-पुरुष के बीच, अमीर-गरीब के बीच, जमींदार-किसान के बीच, धर्म और मनुष्य के बीच के तमाम अन्तरों पर प्रेमचंद गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं। मुंशी प्रेमचंद एक ओर हिन्दी साहित्य के धरातल पर अवतरित होते हैं, तो दूसरी ओर भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश होता है। गांधी के विचारों की दुदुंभी चारों ओर बोल रही थी। सांप्रदायिक एकता, अछूतों को 'हरिजन' कहकर उनका सामाजिक उद्धार, स्त्री के प्रति उदार एवं सम्मान का भाव, राष्ट्रीय चेतना को जगाना जैसे कई महत्वपूर्ण कार्य महात्मा गांधी ने किये। हिन्दी कथा साहित्य स्वयं को गांधी के विचारों से अलग न रख सका।

प्रेमचन्द सांप्रदायिक वैमनस्य के पीछे अंग्रेजों के कुचक्र से भलीभांति परिचित थे। इसलिए न केवल अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में बल्कि निबंधों में भी समय-समय पर भारतीय जनता को सचेत किया करते थे। धर्म के जाल में फँसे हर भारतीय को धर्म के वास्तविक तत्वों से भी प्रेमचन्द परिचित करवाते हैं। चाहे मोर्ले-मिंटो सुधार के नाम पर दो कौमों को बांटना हो या मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम पर धार्मिक आधारों पर अलग मताधिकार का मामला हो, प्रेमचन्द इस बात से वाकिफ थे कि सुधार के नाम पर अंग्रेजी हुकूमत देश के लोगों को बांटने का प्रयास कर रही है। एक ओर वे भारतीयों को लताड़ते

हुए कहते हैं- " फिर यह क्यों समझ लिया जाय कि मुसलमानों में बहुमत से हिन्दू या सिक्खों के हितों की हानि होगी। मुसलमानों का भारत पर कई सदियों तक राज रहा है। अगर मुसलमान उस जमाने में हिन्दुओं को न कुचल सके, तो अब इसकी कोई संभावना नहीं रही। मुस्लिम काल में इसकी काफी मिसालें मिलती हैं कि मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने सहयोग किया है। आज भी हिन्दू रियासतों में मुसलमान बड़े-बड़े पदों पर हैं। यह मिथ्या भ्रम है और इसे मन से निकाल डालने ही में देश का कल्याण है। "[31] तो दूसरी ओर अंग्रेजों के कुचक्रों का पर्दाफाश करते हुए वे कहते हैं- " साम्प्रदायिक भेद की नीति ही आपत्तिजनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती। हम अपने व्यवहार से उसे ऐसा समझने भी नहीं देते। वह भारत को सम्प्रदायों की दृष्टि से देखती है। अतएव साम्प्रदायिक मताधिकार के लिए हम इतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की ही दृष्टि का समर्थन है। हमें यह दिखाना है कि तुम चाहे हमें कितने ही टुकड़ों में बाँटो, हम परवाह नहीं करते। हम एक राष्ट्र हैं। इस भेद-नीति से हमें कुचलना संभव नहीं है। "[32]

प्रेमचंद के उदार दृष्टिकोण का प्रतिफलन उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। **'सेवासदन'** उपन्यास मुख्यत: वेश्याओं के जीवन से संबंधित है लेकिन इसमें सांप्रदायिक समस्या को तब देखा जा सकता है जब वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थान से हटाकर बस्ती से दूर रखने को लेकर बखेड़ा खड़ा हो जाता है। हिंदू एवं मुसलमान वेश्याओं को भी अलग-अलग स्थानों पर रखने को लेकर विवाद होता है। इसके पीछे छुपी मंशाओं, चाहे वह हिंदुओं की हो या मुसलमानों की, प्रेमचंद उससे भली-भांति परिचित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद यह कह रहे हों कि यह देखो यह है तुम्हारा धर्म जिसमें चाहे हिंदू हो या मुसलमान, स्त्री को वेश्या बनने के लिए बाध्य किया जाता है। **'कर्मभूमि'** उपन्यास में भी इसे देखा जा सकता है। डॉ. शान्तिकुमार, सुखदा के नेतृत्व में अछूतों के उद्धार के लिए आंदोलन चलाया

गया। उपन्यास के पात्र अमरकांत और सलीम के संवादों में प्रेमचंद के उदार दृष्टिकोण की साफ झलक देखने को मिलती है। **'कायाकल्प'** उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम समस्या को उठाया गया है। जिस प्रकार हिंदू-मुस्लिम समस्या के साथ उपन्यासकार जूझता है, उसके संबंध में रामदरश मिश्र कहते हैं- " हिन्दू-मुस्लिम दंगे के जटिल चरित्र का सही विश्लेषण करते हुए लेखक ने अपनी मानवीय संश्लेषणवादी दृष्टि से उनमें सौमनस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के पीछे सत्ता की क्या दूषित राजनीति है और इन दोनों सम्प्रदायों के उन्मादी लोगों में झूठे धर्म के नाम पर लड़ने की कैसी सनक है यह तो चित्रित किया ही गया है, हिन्दुओं की उस पवित्रतावादी रूढ़ मनोवृत्ति का भी पर्दाफाश किया गया है जो एक बार मुसलमानों के यहाँ जोर-जबर्दस्ती चली गई अपनी ही बहू-बेटी को घर से निकाल देना चाहती है। साथ ही चक्रधर के माध्यम से हिन्दुओं में उभरती उस प्रगतिशील चेतना की भी पहचान की गई है जो इन बेहूदा रूढ़ियों की परवाह न कर साहस के साथ इस प्रकार की लड़की को अपना लेती है।"[33] मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों में जिस प्रकार हिंदू पात्र हैं उसी प्रकार मुसलमान पात्रों का भी जमावड़ा है। वे सभी एक साथ साझा जीवन व्यतीत करते हैं। उनके पात्रों में यदि अन्तर है तो अमीरी और गरीबी का, न कि धर्म का। प्रेमचन्द ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह भी न तो शुद्ध हिंदी थी और न ही अरबी-फारसी से लबरेज़ उर्दू थी। प्रेमचन्द ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह इन दोनों का मिश्रण था।

मुंशी प्रेमचन्द के सांप्रदायिकता संबंधी दृष्टिकोण के संबंध में गोपाल राय के विचार कुछ इस प्रकार हैं- " प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी थे। वे उस साम्प्रदायिक मानसिकता से बिल्कुल मुक्त थे जो मुसलमानों को विदेशी और हिन्दूविरोधी समझती थी। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को उस संकीर्ण विचारधारा से मुक्त करने का प्रयास किया जिसके तहत मुसलमान पात्रों को काले और हिन्दू पात्रों को सफेद रंग से चित्रित किया जाता था।

उन्होंने अपने को देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकारों से न जोड़ कर भारतेन्दु युग के लेखकों, विशेषकर राधाकृष्ण दास से जोड़ा जिन्होंने पहली बार निस्सहाय हिन्दू में साम्प्रदायिक सौहार्द का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया था। प्रेमचन्द समाज के जिस वर्ग में भी साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद और पाखण्ड देखते हैं उस पर निर्मम प्रहार करते हैं। इस प्रसंग में वे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई, किसी के प्रति रियायत नहीं करते। वे अपने लेखों और सम्पादकीय टिप्पणीयों में उन सभी तत्वों की निन्दा करते हैं जो साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने की कोशिश करते हैं। साम्प्रदायिक दंगों की विभत्सता और वहशीपन का चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रेमचन्द उनके मूल कारणों का विश्लेषण भी करते हैं। वे दिखाते हैं कि इसके मूल में विशेष रूप से कट्टरपंथी धार्मिक नेताओं, व्यवसायियों और शासन का हाथ होता है। ..."[34] इस प्रकार देखा जा सकता है कि एक लंबे समय के बाद हिंदी उपन्यास के धरातल पर ऐसे व्यक्तित्व का आर्विभाव हुआ जिसने अपने उपन्यासों में धर्म, जाति आदि तत्वों के आधार पर सांप्रदायिक विचारधारा का पुरजोर विरोध किया एवं भारतीय जनमानस में एकता की भावना का संचार किया। प्रेमचंद की विचारधारा से प्रभावित होकर परवर्ती उपन्यासकारों ने भी सांप्रदायिक मनोवृत्ति का विरोध अपनी लेखनी के माध्यम से किया।

प्रेमचन्द के पश्चात इस कड़ी में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होंने अपने उपन्यास **'चन्द हसीनों के खतूत'** में हिन्दू और मुसलमान युवक-युवती के प्रेम और विवाह तथा सांप्रदायिक सद्‌भाव का चित्रण किया है। यह उपन्यास उग्र जी ने सन् **1927** में लिखा था। इस दौर में हिन्दू और मुसलमान युवक-युवती के प्रेम और उनके विवाह का चित्रण करना किसी साहसिक कार्य से कम न था। उग्र जी ने अपने इस उपन्यास में यह कटु सत्य उजागर करने का प्रयास किया है कि हिंदू धर्म में किसी मुसलमान

वेश्या से देह-संबंध पर रोक नहीं है, कोई बाधा नहीं है लेकिन किसी भद्र मुसलमान परिवार की लड़की से विवाह करना वर्जित है। उग्र जी ने अपने और एक उपन्यास **'बुधुआ की बेटी'** में भी अछूतोद्धार की समस्या का चित्रण किया है। भंगियों के आन्दोलन के माध्यम से उग्र जी हिन्दू समाज में मौजूद वर्ण-व्यवस्था का विरोध करते है। उग्र जी ने अपने उपन्यास में भंगियों को मन्दिर में प्रवेश करवाया है। गोपाल राय की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में परिपूर्णनन्द वर्मा के उपन्यास **'मेरी आह'** का उल्लेख मिलता है जो उन्होंने **1932** ई. में लिखा था। इस उपन्यास में हिन्दू-मुस्लिम दंगों को विषय बनाकर सांप्रदायिकता का चित्रण किया गया है। तत्पश्चात विश्वनाथ सिंह शर्मा के उपन्यास **'वेदना'** और **'त्यागी युवक'** उपन्यासों में भी सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है जो क्रमश: **1930** एवं **1933** में लिखे गये। **'वेदना'** उपन्यास में अछूतोद्धार और साम्प्रदायिक एकता का चित्रण किया गया है जबकि **'त्यागी युवक'** में ऐसे समाज की कल्पना की गई है जिसमें पूर्ण साम्प्रदायिक सद्भाव, लोगों में सेवा भाव और उदार दृष्टिकोण का प्रसार हो।[35]

इस क्रम में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यासों में सांप्रदायिकता का चित्रण देखने को मिलता है। **'राम रहीम'** उपन्यास का प्रणयन राजा साहब ने **1936** ई. में किया था। राजा साहब इसकी भूमिका में ही कहते हैं- " मैंने रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी का एक टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की है। मैंने भारतवर्ष के इस युग के अत्याचार को, इस युग की पुकार को, दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन पर प्रस्फूटित करने का प्रयास किया है। ..."[36] यद्यपि उपन्यास के शीर्षक से यह प्रतीत अवश्य होता है कि यह उपन्यास दो अलग-अलग धर्मावलम्बियों की कहानी है लेकिन ऐसा नहीं है। सांप्रदायिकता की समस्या को इस उपन्यास में उठाया तो गया है लेकिन यह उच्चतर भूमि पर प्रस्तुत नहीं किया गया। सन् **1946** में वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास

**'झांसी की रानी'** प्रकाशित हुआ। वृन्दावनलाल वर्मा की राष्ट्रीय भावना का अंकन इस उपन्यास में हुआ है। वर्मा जी ने एक ऐसे प्रभुतासम्पन्न शक्तिशाली राष्ट्र की परिकल्पना की है जिसमें हिंदुओं और मुसलमानों का आपसी सौहार्द हो। सांप्रदायिकता संबंधी वर्मा जी का उदार दृष्टिकोण इस उपन्यास में मुखरित हुआ है। इस उपन्यास में ऐसे पठान सिपाहियों का चित्रण किया गया है जिनका रानी के प्रति गहरा भक्ति भाव है और उसके लिए किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं समझते। वृंदावन लाल वर्मा हिंदुओं के धर्म परिवर्तन में यदि मुस्लिम सुल्तानों की मज़हबी कट्टरता का उल्लेख करते हैं तो वहीं वे हिंदू समाज की संकीर्णता और जातिवाद से पैदा हुई विकृतियों के प्रति भी उदासीन नहीं है। **'माधव जी सिंधिया'** का नायक विभिन्न लड़ाकू जातियों को संगठित करके 'स्वराज्य' के सूत्र में बाँधना चाहता है। इस संघर्ष में वह मुसलमानों को भी साथ लेकर चलता है। इसी काल में वासन्तीरानी सेन ने भी **'दिलार'** नामक उपन्यास लिखा जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता विषय का चित्रण मिलता है। सन् **1947** में रामेश्वर शुक्ल अंचल ने **'नई इमारत'** नामक उपन्यास लिखा जिसका केंद्रीय विषय भारत छोड़ो आन्दोलन है। अंचल जी के इस उपन्यास में भी सांप्रदायिक एकता की समस्या को उठाया गया है।

सन् **1946** में ही हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास **'वाणभट्ट की आत्मकथा'** प्रकाशित हुआ। यह वह दौर था जब पूरे देश में स्वाधीनता की लहर दौड़ रही थी तो दूसरी ओर हिन्दू और मुसलमानों के बीच परस्पर वैमनस्य की खाई गहराती जा रही थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास में इस विषय पर चिंतन किया है और हिन्दू धर्म में मौजूद जाति व्यवस्था पर प्रहार किया है। उपन्यास की नायिका भट्टिनी नायक भट्ट से कहती है- " ...मैंने अनेक देश देखें हैं, अनेक समाज देखें हैं, अनेक जातियाँ देखी हैं, ...परंतु आर्यावर्त्त-जैसी विचित्र समाज-व्यवस्था मैंने कहीं नहीं देखी है। यहाँ इतना स्तर-भेद है कि

मुझे आश्चर्य होता है कि यहाँ के लोग जीते कैसे हैं। ...यही देखो, तुम यदि किसी यवन-कन्या से विवाह करो तो इस देश में यह एक भयंकर सामाजिक विद्रोह माना जाएगा। परंतु यह सत्य नहीं है कि यवन-कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण युवा भी मनुष्य है ! महामाया जिन्हें मलेच्छ कह रही हैं वे भी मनुष्य हैं। भेद इतना ही है कि उनमें सामाजिक ऊँच-नीच का ऐसा भेद नहीं है। जहाँ भारतवर्ष के समाज में एक सहस्र स्तर हैं वहाँ उनके समाज में कठिनाई से दो-तीन होंगे। ...भारतवर्ष में जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं, जो नीचे हैं उनकी निचाई का कोई आर-पार नहीं; परंतु उनमें सब समान हैं। ...क्यों भट्ट, ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ऊँची भारतीय साधना उन तक पहुँचाई जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटाई जा सके ? जब तक ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जातीं तब तक शाश्वत शांति असंभव है। ... एक जाति दूसरी को मलेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशांति का कारण और क्या हो सकता है, भट्ट !"[37] हजारी बाबा ने **'चारुचन्द्रलेख'** उपन्यास में भी यह बात ध्वनित होती नज़र आती है- "...भारतवर्ष का वर्तमान समाज ...सामाजिक स्वाधीन चिंतन खो चुका है। ...देखो महाराज, पश्चिम की ओर से जो महान् इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक-ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भांड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मन्त्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्ते में जो भी बाधक हो उसे साफ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला हैउसने लाखों-करोड़ों को पैरों तले दबकर उनकी मांसमज्जा के ढूह पर प्रसाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखाई है। विचित्र है उसकी प्राणदायिनी शक्ति अपूर्व है उसका दलितोत्थान संकल्प...सहस्त्रों को उसने तलवार की नोक पर उठाकर ऊँचा आसन दे दिया, सैकड़ों जंगली जातियों को उसने एक झटके से रूढ़ियों और परम्पराओं के मलबे से दूर फेंक दिया। ...हमारा समाज लाखों-करोड़ों को अपमानित करने में गर्व अनुभव करता

है।अपमान का फल अपमान ही होगा।जिन्हें हमने पैरों तले दबा रखा है, वे ही एक दिन नीचे से हमारा पैर पकड़कर हमें चलने में असमर्थ बना देंगे, बना दे रहे हैं। ...सर्वत्र घुन लगा हुआ है।क्षुद्रता के अहंकार से यहाँ की प्रत्येक जाति जर्जर है।प्रत्येक सम्प्रदाय अन्तर्विदिर्ण है।"[38] उपरोक्त उद्धरणों से यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी इस्लाम धर्म के उदार पक्ष के बड़े प्रशंसक थे।वहीं हिन्दू धर्म में मौजूद जाति व्यवस्था के घोर विरोधी थे।वे यह मानते हैं कि इस्लाम को तलवार की जोर पर फैलने वाला धर्म मानना इस्लाम में मौजूद उसके मानवीयता की उच्चतर भूमि की गलत व्याख्या है।

तत्पश्चात यशपाल ऐसे उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यास **'झूठा-सच'** में सांप्रदायिकता का चित्रण अपनी पूरी वीभत्सता के साथ देखा जा सकता है।यह उपन्यास दो भागों में बंटा हुआ है जिसके पहले भाग **'वतन और देश'** का प्रकाशन **1958** में एवं दूसरे भाग **'देश का भविष्य'** का प्रकाशन **1960** में हुआ।इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे देश के नेताओं की ज़िद, हठधर्मिता और पदलोलुपता के कारण देशवासियों को विभाजन का दंश भोगना पड़ा।औपनिवेशिक शक्ति से भारतीयों को आज़ादी तो मिली लेकिन उसकी बहुत बड़ी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी।मुस्लिम लीग के 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' के कारण देश का विभाजन हुआ और पूरे भारत में दंगे फैल गये।इस दौर में मनुष्यता, पाशविकता में बदल चुकी थी लेकिन लेखक ने कहीं न कहीं मनुष्यता के लिए भी गुंजाइश अपने उपन्यास में छोड़ी है।इस उपन्यास के संबंध में आलोचक इंद्रनाथ मदान कहते हैं**-**" उपन्यास में कहीं लाशें बिखरी पड़ी हैं जिन पर गिद्ध मँडरा रहे हैं, कहीं असह्य बोझ से लदी रेलगाडियाँ हैं जिनके इंजन धुएँ के बादल छोड़कर चलने से इन्कार करते हैं, कहीं उखड़े मुसलमानों के काफिले हैं तो कहीं हिन्दुओं के सार्थ हैं, कहीं मजहबी नारों की गूँज है तो कहीं आग की लपटे हैं, कहीं उजड़ी जनता की पुकारें हैं तो कहीं अपमानित नारियों की चीखें हैं, कहीं भीड़ों का बोध है

तो कहीं सूनेपन का, कहीं नेताओं का सन्देश है तो कहीं सुधारकों के उपदेश। उपन्यास एक असाधारण घटना की कहानी है, एक भूचाल की कहानी है, मानवता में छिपी पाशविकता की कहानी है।"[39] सांप्रदायिक विचारधारा मनुष्य के विवेक को किस प्रकार समाप्त कर देती है इसका जीवंत उदाहरण यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में देखा जा सकता है।

सन् **1986** में रामदरश मिश्र का उपन्यास **'दूसरा घर'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का मूल विषय प्रवासी मजदूरों को लेकर है, जो गुजरात और महाराष्ट्र की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इस उपन्यास में भी सांप्रदायिकता की समस्या का चित्रण किया गया है। इसके संबंध में गोपाल राय कहते हैं- " रामदरश जी ने प्रवासी मुसलमान मजदूरों के जीवन यथार्थ का भी, जो हिन्दू मजदूरों से भिन्न नहीं है, पर्याप्त विस्तार के साथ चित्रण किया है। धार्मिक अन्तर के बावजूद इन दोनों की नियति में कोई फर्क नहीं है। गरीबी, शोषण, गन्दगी, विवशता आदि की दृष्टि से दोनों की जिन्दगी एक जैसी है। दोनों ही जातियों में संवेदनशील और मानवीय मूल्यों के आग्रही लोग समान रूप से हैं। दोनों ही समाजों में संकीर्ण मानसिकता के, गरीबों के शोषण पर जीने वाले परोपजीवी गुंडे और राजनीति-व्यवसायी हैं जो साम्प्रदायिक भावनाएँ उभार कर उनके बीच दंगे करा देते हैं और उसका राजनीतिक-आर्थिक लाभ उठाते हैं।"[40]

सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर उपन्यास लिखनेवाले रचनाकारों में गुलशेर खाँ 'शानी' का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने बस्तर नामक स्थान को अपने उपन्यास के केंन्द्र में रखकर **'काला जल'** नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में लेखक ने आजादी के बाद भारत में रहनेवाले मुसलमानों की दयनीय दशा का चित्रण किया है। उपन्यासकार ने बस्तर जिले के मुसलमानों को उपन्यास के केन्द्र में रखा है। आजादी के बाद के मुसलमानों की स्थिति आसमान से गिरे और खजूर पर अटके जैसी हो गयी थी। इसका कारण यह है कि

आजादी के पहले पाकिस्तान की माँग की और उसका समर्थन किया लेकिन आजादी के बाद जब पाकिस्तान अस्तित्व में आया परन्तु मुसलमानों का बहुलांश हिन्दुस्तान में ही रह गया। ऐसी परिस्थिति में मुसलमानों की वतनपरस्ती पर भी आजादी के बाद सवाल उठने लगे। स्वाधीन भारत के मुसलमानों की यह एक बड़ी समस्या थी जो आज तक बनी हुई है। शानी ने इस समस्या को अपने उपन्यास के माध्यम से दिखलाने का प्रयास किया है।

भारतीय मुसलमानों की इस अवस्था को लेकर हिन्दी उपन्यास मे राही मासूम रज़ा ने कई उपन्यास लिखे। यह कहा जाय कि राही का संपूर्ण उपन्यास साहित्य सांप्रदायिकता की समस्या को ही लेकर लिखा गया है तो अतिशयोक्ति न होगी। राही की प्रसिद्धि का कारण **'आधा गाँव'** है लेकिन भारतीय मुसलमानों की समस्या को उन्होंने **'टोपी शुक्ला'**, **'ओस की बूँद'**, **'दिल एक सादा कागज'**, **'हिम्मत जौनपुरी'** जैसे उपन्यासों में उकेरने का सफल प्रयास किया है। **'आधा गाँव'** उपन्यास गंगौली के मुसलमानों की स्वाधीनतापूर्व जिन्दगी को लेकर शुरू होता है जिसका अंत स्वाधीनता के बाद मुसलमानों की दोज़ख़ होती जिंदगी की परिणति के रूप में समाप्त होता है। **'दिल एक सादा कागज'** उपन्यास में राही ने केवल भारतीय मुसलमानों का ही चित्रण नहीं किया बल्कि पाकिस्तान में बसने वाले मुसलमानों का भी चित्रण किया है। भारत के मुसलमान यह सोचकर पाकिस्तान चले गये कि हिन्दुस्तान में उनकी इज्जत-आबरू सुरक्षित नहीं है और पाकिस्तान में उन्हें जीविका के बेहतर साधन मिलेंगे लेकिन पच्चीस वर्ष के भीतर ही उनका मोहभंग हो गया। न केवल उन्हें ज़लील होना पड़ा बल्कि भयानक विनाशलीला के बाद पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश बन गया। बिहार और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को अपनी इज्जत-आबरू खोकर शरणार्थी का जीवन जीना पड़ा और मुहाज़िर भी बनना पड़ा। राही ने इस उपन्यास में मुसलमानों की इस दशा का चित्रण किया है। हिन्दू और मुसलमानों के बीच मौजूद अविश्वास, घृणा और डर फैलाने वाले तत्वों की

शिनाख्त करते हुए उनके बीच मानवीयता के गुणों की तलाश राही ने अपने उपन्यासों के माध्यम से की है। उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो हिन्दू या मुसलमान न होकर इंसान हैं।

सांप्रदायिक तनाव का भयानक रूप **'झूठा-सच'** में दिखाई पड़ता है, तो भीष्म साहनी के उपन्यास **'तमस'** में भी देखने को मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि यशपाल ने इसे विभिन्न स्त्रोतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया था, भोगा नहीं था जबकि भीष्म साहनी ने इसे भोगा था। अतएव जब भीष्म साहनी उस तनाव का अंकन करते हैं तो वह अधिक विश्वसनीय और जीवंत लगता है। भीष्म साहनी ने तमस में उन सभी तत्वों को खोलकर रख दिया है जो भारत विभाजन और सांप्रदायिकता के लिए जिम्मेदार हैं। इसके अलावा भीष्म साहनी के उपन्यास **'नीलू नीलिमा नीलोफर'** उपन्यास में भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि आज भी हिन्दू और मुसलमान परिवारों के बीच विवाह-सम्बन्ध संभव नहीं है और यदि कोई युवक-युवती ऐसा कर लेते हैं तो यह साम्प्रदायिक तनाव का मुद्दा बन जाता है। इस जंग में सारी मानवीयता धरी की धरी रह जाती है। वे जो कल तक मित्र थे और एक ही थाली में भोजन किया करते थे, आज एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते है। इससे यह पता चलता है कि भले ही एक औसत हिंदू या मुसलमान ऊपर से उदार होने का दिखावा करे लेकिन भीतर ही भीतर दोनों एक-दूसरे के लिए विद्वेष रखते हैं।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास **'अलग अलग वैतरणी'** में भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मुसलमानों की दशा का विशद् वर्णन देखने को मिलता है। विभाजन के दौरान हुए दंगों ने हमारी सांस्कृतिक एकता के ऊपरी खोखलेपन को सामने ला दिया था। लोगों की आस्थाओं और विश्वासों की जड़ें हिलने लगी थीं। यह सत्य है कि मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग पाकिस्तान की माँग का समर्थक था लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि हर मुसलमान पाकिस्तान का समर्थक था। यह देखा गया है कि पढ़े-लिखे हिंदुओं और मुसलमानों से कहीं

ज्यादा देहाती और अनपढ़ हिंदू और मुसलमान विभाजन की निस्सारता से परिचित थे और उनके द्वारा दिये गये तर्कों का जवाब पढ़े-लिखे लोगों के लिए भी दे पाना मुश्किल था।ऐसा ही एक पात्र है इस उपन्यास में खलील मियां।जो अपने बेटे को बार-बार पाकिस्तान बुलाने पर टके सा जवाब दे देता है- " हर बार लिखता कि अब्बा वहां काफिरों के बीच क्यों पड़े हो।अभी मौका है चले आओउसने दो-चार लोगों के नाम भी लिखे कि उनसे मिलकर बातचीत कर लो।वे लोग तुम्हारे पाकिस्तान आने का बन्दोबस्त कर देगें।मैंने लिख दिया कि बेटे तुम्हारे पाकिस्तान पर मैं लानत भेजता हूं।साले तू दोगला है।काफिरों के बीच अपना दर्जनों पुश्त गल गया।आज तक खुदा गवाह है कि बेटे मैंने कभी हिन्दू और मुसलमान का फर्क नहीं किया।मैंने कभी नहीं मनायी दिवाली कि दिये नहीं जलाये।तुमने देखा ही है कि होली के दिन मेरे सहन में जाजिम बिछ जाती और क्या छोटा और क्या बड़ा सब इक्टठे होते थे।फाग गानेवाली होली पहले यहां छावनी पर जमती थी, फिर यहां से उठकर लोग सीधे मेरे दरवाजे पर आते। ...सारी ठुकराइन पुराने रिवाज को निभाती रहीं।ईद के मौके पर लोग हमारे यहां मुबारकबाद देने आते।बुढ़ऊ मलिकार खुद पिछली बार आये।आज तक खलील मियां की बहू, बेटी को या उनके किसी पुश्त में खानदान की किसी लड़की को कभी हिन्दुओं ने अपनी बेटी-बहू से अलग नहीं माना।तो बेटा ! तुम्ही बताओ कि मैं कैसे मान लूं कि मैं काफिरों के बीच हूं या कि दुश्मनों के बीच हूं।"[41] खलील मियां के उक्त जबाव से यह स्पष्ट है कि भारतीय मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा पाकिस्तान बनने के बाद भी अपनी जिंदगी भारत में ही गुजरने की इच्छा रखते थे।यही उनका वतन था।सन् **1993** में शिवप्रसाद जी के दो और उपन्यास प्रकाशित हुए **'कुहरे का युद्ध'** और **'दिल्ली दूर है'**।**'कुहरे का युद्ध'** उपन्यास में उपन्यासकार ने मुस्लिम शासकों को अतातायी के रूप में चित्रित किया है जिन्होंने मंदिरों को ध्वस्त किया, हिंदुओं पर अत्याचार किया एवं उनकी स्त्रियों का शीलहरण किया।

इस चित्रण में शिवप्रसाद सिंह का हिन्दुत्व-प्रेम कहीं न कहीं उभरकर जरूर आ जाता है। वहीं दिल्ली दूर है उपन्यास में जजिया टैक्स के बहाने मुस्लिम अमलों के हिन्दुओं पर अत्याचार और धर्म-परिवर्तन के प्रसंग लेखकीय सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यास से गुजरते हुए हिन्दू जनता पर मुस्लिम शासन के आतंक और दमन को देखा जा सकता है। भले ही ऐतिहासकि दृष्टि से यह सत्य हो, पर आज के सन्दर्भ में इन स्थितियों का सहानुभूतिपूर्ण अंकन उपन्यासकार की सांप्रदायिक सोच की उपज लगती है। किसी भी संवेदनशील ऐतिहासिक तथ्य को प्रस्तुत करने से पहले लेखक को उसकी सत्यता की जांच जरूर कर लेनी चाहिए। लेखक को अपना यह दायित्व समझना जरूरी है कि उसकी लेखनी से निकला एक गलत वाक्य बड़े जनसमुदाय को चिंता के घेरे में ड़ाल सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में महिला रचनाकार भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हुई नज़र आती है। हिंदी के आलोचकों का यह आरोप था कि हिंदी की महिला उपन्यासकार केवल अपनी दर्द और पीड़ा का ही चित्रण अपने उपन्यासों में कर सकती हैं। वे अपने वृहत्तर सामाजिक सरोकारों से दूर हैं। आलोचकों के इस आक्षेप को महिला रचनाकरों ने स्वीकार किया और विविध सामाजिक विषयों पर लेखनी चलाई। कृष्णा सोबती का नाम इस पंक्ति के कथाकारों में लिया जा सकता है। कृष्णा सोबती ने **'ज़िन्दगीनामा'** जैसा उपन्यास लिखा जिसमें भारतीय गाँवों का चित्रण है जहाँ अब तक भाईचारा है और सांप्रदायिकता का नामोनिशान तक नहीं है लेकिन धीरे-धीरे वैमनस्य यहाँ भी पनपने लगा है। इस समस्या को लेखिका शिद्दत से उठाती हैं। इसके अलावा सोबती जी ने **'दिलोदानिश'** नामक उपन्यास भी लिखा है। दिल्ली को कथाभूमि में रखकर मुस्लिम समाज के सम्पर्क में आने पर भारतीय समाज में एक नई संस्कृति के विकास को दर्शाया है। खानपान, रहन-सहन, वेश-भूषा, यहाँ तक की भाषा में भी मुस्लिम समाज के सम्पर्क में आने से परिवर्तन लक्षित किया गया।

हिन्दी उपन्यास लेखकों में बदीउज़्ज़माँ का नाम उन लेखकों में शुमार किया जा सकता है जिन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या को ध्यान में रखकर अपनी लेखनी चलाई है। सन् **1975** में बदीउज्जमाँ का उपन्यास **'छाको की वापसी'** प्रकाशित हुआ जिसमें विभाजनोपरान्त बिहार से पूर्वी पाकिस्तान गये मुसलमानों के मोहभंग का चित्रण किया गया है। विभाजन के दौरान मुसलमानों का यह मानना था कि पाकिस्तान जाकर उसे इज्जत और सम्मान का जीवन मिलेगा लेकिन पाकिस्तान जाकर उन्हें गहरा धक्का लगा। पश्चिमी पाकिस्तान में वे 'मुहाज़िर' बने तो पूर्वी पाकिस्तान में 'बिहारी मुसलमान' का नाम उनके साथ जुड़ गया। परिणामस्वरूप अपमान के घूँट पीने पड़े। स्थिति तब और भी दयनीय हो गई जब वे वापस न लौट सके। अपनी जमीन से कटने की और पूर्वी पाकिस्तान की भाषा, संस्कृति और जमीन से न जुड़ पाने का मार्मिक अंकन उपन्यासकार ने किया है। बदीउज़्ज़माँ ने अपने उपन्यास **'सभापर्व'** में सांप्रदायिकता की समस्या को अत्यन्त गंभीरता के साथ उठाया है जो लेखक के सामाजिक सरोकार की बानगी प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में सांप्रदायिकता की समस्या को सीधे-सीधे भले ही न उठाया गया हो लेकिन पूरे उपन्यास में इसकी गूँज सुनाई देताी है। आलोचक मधुरेश कहते हैं- "इस्लाम, सूफी-संतों और भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के साक्ष्य पर लेखक साम्प्रदायिकता के सवाल को सत्ता और वर्चस्व से जोड़कर देखता है। अपने विश्लेषण के लिए लेखक 'घर' से लेकर 'देश' के विभाजन से साक्ष्य जुटाता है।"[42] यह उपन्यास पूर्ण नहीं हो सका जिसका कारण लेखक की असामयिक मृत्यु थी लेकिन जिस रूप में इस उपन्यास में मुस्लिम जीवन का चित्रण किया गया है वह काबिले तारीफ है। इस कारण गोपाल राय यह संभावना व्यक्त करते हैं कि यदि यह उपन्यास पूर्ण हो पाता तो शायद यह 'भारतीय मुस्लिम जीवन का महाकाव्य' बन सकता था।

सन् **1986** में मंजूर ऐहतेशाम का उपन्यास **'सूखा बरगद'** प्रकाशित हुआ जिसमें देश विभाजन के बाद मुस्लिम समुदाय की दुरावस्था को दिखाने का प्रयास लेखक ने किया है। उपन्यास का मुख्य पात्र अब्दुल वहीद खाँ है जो धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्त, वैचारिक दृष्टि से उदार, राष्ट्रप्रेमी और मनुष्यता को तरज़ीह देने वाला इंसान है। उसे आजीवन कट्टर इंसानों का शिकार होना पड़ता है लेकिन वह अपने गुणों का त्याग नहीं करता। द्रोणवीर कोहली के उपन्यास **'तकसीम'** में स्वाधीनता पूर्व के पंजाबी परिवारों का चित्रण किया गया है। विभाजन के बाद शरणार्थियों की जिंदगी जीनेवाले हिन्दू और सिखों की व्यथा-कथा को उपन्यास में दिखलाने का प्रयास किया गया है।

भारत विभाजन पर आधारित नासिरा शर्मा का उपन्यास **'जिन्दा मुहावरे'** **1993** में प्रकाशित हुआ। यह बात आजादी के कुछ सालों बाद स्वत: प्रमाणित हो गयी कि विभाजन की नीति गलत थी और इसे मुसलमानों ने भी महसूस किया। पाकिस्तान जानेवाले भारतीय मुसलमानों को हिकारत भरी नज़र से देखा गया जो आज भी बदस्तूर जारी है। इस विभाजन की राजनीति में धर्मान्धिता सर चढ़ कर बोली और सारी मानवीयता धरी की धरी रह गयी। ज़िन्दा मुहावरे इसी का प्रत्यक्ष दर्शन करवाता है। नासिरा शर्मा ने विभाजन के बाद भारत में रहनेवाले एवं पाकिस्तान चले जानेवाले मुसलमानों का चित्रण पूरी सहानुभूति और मार्मिकता के साथ किया है। इस उपन्यास में नासिरा शर्मा ने मानवीयता को धर्म से ऊपर रखा और इस रूप में ही देखने की कोशिश की है। अब्दुल बिस्मिल्लिाह ने **'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'** में बनारस के बुनकर समुदाय के मुसलमानों का चित्रण किया है। लेखक ने संकीर्ण धार्मिक मनोवृति और सम्प्रदायवाद का जमकर विरोध अपने उपन्यास में किया है। उन्होंने जहाँ कहीं भी अनुभव किया है, मुसलमानों की राष्ट्रीय मुख्यधारा से विलगाव की प्रवृति पर प्रहार किया है और इस्लाम की रूढ़िवादी मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। यद्यपि

**झीनी झीनी बीनी चदरिया** में यह विषय गौण रूप में ही आया है, पर इससे उपन्यासकार की संवेदनशील मानसिकता का पता चलता है।[43]

सन् **1993** में गीतांजलि श्री का उपन्यास **'हमारा शहर उस बरस'** उपन्यास प्रकाशित हुआ।इस उपन्यास में हिन्दू सांप्रदायिकता का चित्रण देखने को मिलता है। गीतांजलि श्री ने एक शहर को कथा के केंद्र में रखा है जो सांप्रदायिक विभीषिका की आग की लपट में झुलसने लगता है।इस उपन्यास में एक ओर 'मठ' है जो सांप्रदायिक विचारधारा का पोषक है, यहीं से शहर में फैलनेवाली गड़बड़ियों का संचालन होता है।वहीं दूसरी ओर विश्वविद्यालय है जिसके संबंध में हमारा सामान्य ज्ञान यह कहता है कि यह उच्च विचारों को पैदा करने का और संकीर्ण मानसिकता से उभरने का स्थल है।परन्तु यह देखा जाता है कि विश्वविद्यालय भी उसी संकीर्ण मानसिकता का पोषक बन जाता है।इसमें एक ऐसे मुस्लिम पात्र 'हनीफ' को दिखाया गया है जो सांप्रदायिक विभीषिका के दौर में अकेला पड़ जाता है। यहाँ तक कि शहर के तथाकथित कहे जाने बुद्धिजीवी भी ऐसे समय में उसका साथ नहीं देते।इस उपन्यास के प्रकाशन के ठीक एक वर्ष बाद प्रियंवद का उपन्यास **' वे वहाँ कैद हैं '** उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने बड़ी ही संवेदनशीलता से संप्रदायवाद और उसके भीतर पनपते फासीवाद का चित्रण किया है।अपने इस अभीष्ट में लेखक सफल रहे हैं।

सन् **1999** में भगवान सिंह का उपन्यास **'उन्माद'** प्रकाशित हुआ जिसमें सांप्रदायिकता की समस्या को विशेष रूप से उठाया गया है।लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सांप्रदायिकता आर्थिक तंत्रों एवं सत्ता पर कब्जा जमाने के लिए मुख्य सहायक की भूमिका अदा करती है।इस कुचक्र का दुष्परिणाम भोले-भाले एवं निर्दोष लोगों को भुगतना पड़ता है।सन् **1999** में भगवानदास मोरवाल का उपन्यास **'काला पहाड़'** प्रकाशित हुआ।इस उपन्यास में लगातार बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर लेखक ने चिंता जाहिर की है।

इस उपन्यास में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार सत्ता हासिल करने के लिए सांप्रदायिक शक्तियां साधारण इंसान को अपनी गिरफ्त में ले लेती है और उसके जीवन को नरक में बदल ड़ालती हैं। इस उपन्यास में मेवा नामक जाति के मुसलमानों का चित्रण किया है जिन्होंने बाबर के खिलाफ राणा साँगा का साथ दिया और देश के बँटवारे के समय पाकिस्तान जाने से इनकार कर दिया था। लेखक ने इस उपन्यास में उन तत्वों की शिनाख्त की है जो सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करते हैं।

समकालीन उपन्यासकार कमलेश्वर ने विभाजन और सांप्रदायिकता की समस्या को ध्यान में रखते हुए **'लौटे हुए मुसाफिर'** और **'कितने पाकिस्तान'** जैसे उपन्यास लिखे। **'लौटे हुए मुसाफिर'** उपन्यास में कमलेश्वर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सांप्रदायिक वैमनस्य कैसे दिलों में भी फाँक पैदा कर देता है। इस उपन्यास में एक बस्ती में रहनेवाले चिकवों को कथा के केन्द्र में रखा गया है। कमलेश्वर ने इस उपन्यास में दिखाया है कि लोगों के मन में कोई भेद-भाव न था। सबकुछ सामान्य था। हिन्दू और मुसलमान आपस में मिल-जुलकर रहा करते थे लेकिन अंततः विभाजन हो ही गया। सिर्फ देश का ही नहीं बल्कि दिलों का भी। उपन्यास में दर्शायी इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कथाकार राही मासूम रज़ा कहते हैं-" पर सब बीरान क्यों हो गया ? सबकुछ उजड़ कैसे गया ? जवाब सीधा और छोटा सा है : क्योंकि पाकिस्तान बन गया। यहीं मकसूद ओर यासीन की घिनावनी जिन्सी जिन्दगी की सुबहें और शामें हैं। यहीं इफ़तिखार का एक्का-घोड़ा है। सबसे अच्छा घोड़ा। सबसे शानदार एक्का। पर जिसे अब सवारी नहीं मिलती क्योंकि मुसाफिरों को पता चल गया है कि इफ़तिखार मुसलमान है।"[44] ऐसा प्रतीत होता है मानों इफ़तिखार के घोड़े पर बैठने भर से ही धर्म नष्ट हो जायेगा या फिर शायद लोग यह सोचते हो कि इफ़तिखार चूंकि मुसलमान है अतएव उसका घोड़ा भी मुसलमान हुआ। यदि किसी समाज में ऐसी सोच विद्यमान हो तो

उसके संबंध में और क्या कहा जाय। सन् **2000** में कथाकार कमलेश्वर का उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक की चिंता इस बात से जुड़ी हुई है कि आखिर धर्म, जाति, वर्ण, भाषा, क्षेत्र जैसे तत्वों के कारण पूरे विश्व में और कितने पाकिस्तान और कितने विभाजन होने बाकी हैं। इस उपन्यास में लेखक की चिंता देश का दायरा तोड़कर वैश्विक पटल पर पहुँच जाती है। लेखक ने मिथकों, ऐतिहासिक पात्रों एवं फैंटसी के माध्यम से सांप्रदायिकता की समस्या से जूझने का प्रयास किया है।

हाल में प्रकाशित उपन्यासों में मोहम्मद आरिफ का उपन्यास **'उपयात्रा'**, महुआ माजी का उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** एवं ममता कालिया का उपन्यास **'दुक्खम-सुक्खम'** ऐसे उपन्यास हैं जिनमें सांप्रदायिकता की समस्या को उसके विविध पक्षों के साथ उजागर करने का प्रयास किया गया है। मोहम्मद आरिफ का उपन्यास **'उपयात्रा'** सन् **2006** में प्रकाशित हुआ जिसमें बाबरी मस्जिद के ध्वंश होने के पश्चात् पूरे भारत में फैले सांप्रदायिक दंगों और भयावह वातावरण का अंकन किया गया है। वहीं सन् **2006** में महुआ माजी का उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** प्रकाशित हुआ जिसमें बांग्लादेश के बोरीशाल नामक स्थान को केंद्र में रखकर उपन्यास लिखा गया। यह उपन्यास भारत की आजादी से लेकर पाकिस्तान के निर्माण से होते हुए बांग्लादेश के मुक्ति संग्राम और बाबरी मस्जिद विध्वंश तक की लम्बी यात्रा सम्पन्न करता है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र है केष्टो। उपन्यास का कथानक इसी पात्र के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। यह केष्टो ही है जो अपनी ज़बानी अपनी कहानी सुनाता है। इस उपन्यास में दो कथायें साथ-साथ चलती रहती हैं। पहली कथा केष्टो के निजी जीवन से जुड़ी हुई है जिसमें केष्टो का परिवार है, उसके प्रेम संबंध हैं, व्यापाार में उसकी तरक्की एवं उसके जीवन की लगभग हर छोटी-बड़ी घटनाएं हैं। वहीं दूसरी तरफ उसका और उससे जुड़े हजारों मुक्तिवाहिनी सेना के योद्धाओं की कहानी है जो अकेले केष्टो की ही नहीं बल्कि प्रत्येक

बांग्लादेश के बाशिन्दे की कहानी है जिन्होने नौ महिने तक 'आमार सोनार बांग्लादेश' की आज़ादी के लिए नरकीय जीवन भोगा था। यह उपन्यास मनुष्यता के सम्मुख एक प्रश्न खड़ा करता है कि अपना सर्वस्व लुटा चुके व्यक्ति को किन-किन कारणों से अपने ही देश मे बेगानियत का जीवन जीना पड़ेगा। यह प्रश्न केवल केष्टो जैसे बांग्लादेशी व्यक्ति का नहीं है बल्कि पूरे संसार के हर उस व्यक्ति का है जिसे धर्म, जाति, वर्ण, भाषा के नाम पर सांप्रदायिक ताकतों के साथ मुकाबला करना पड़ता है। वक्त की दहलीज़ पर खड़ा हो कर केष्टो यह सोचता है कि आखिर जिस देश के लिए उसने अपना सर्वस्व गवाँ दिया उस त्याग-बलिदान का क्या फायदा मिला। क्या यह सचमुच धर्म का युद्ध है ? या कुछ और। अंततः वह इस निष्कर्ष पर आता है कि धर्म तो सिर्फ एक आवरण है जिसे ओढ़कर कुछ स्वार्थी तत्व अपना स्वार्थ साधते हैं जहाँ पूर्वी पाकिस्तानियों के लिए उनका स्वार्थ उनकी संस्कृति, उनकी भाषा थी जिस कारण बांग्लादेश जैसे अलग राष्ट्र का उदय हुआ वहीं पश्चिमी पाकिस्तानियों के लिए सत्ता का ऐश्वर्य, वर्चस्व का सुख धर्म पर हावी था और भोली-भाली जनता उनके कुचक्र में पड़कर अपना सर्वस्व गँवा बैठती है जिनमें केष्टो भी शामिल है जिसका पूरा परिवार इस आमार शोनार बांग्लादेश की आज़ादी के लिए मर मिटा, जिसकी छोटी बहन ने किसी स्वतंत्रता सेनानी से कम यातनाऐं नहीं भोगी हैं मगर इस आज़ाद देश में केष्टो और उसके जैसे हजारों हिन्दू अचानक बेगाने बन गये। आँचलिकता के रंग मे डूबे हुए महुआ माजी के आलोच्य उपन्यास की भी मूल चिन्ता यही है। वर्ष **2010** में ममता कालिया का उपन्यास **'दुक्खम-सुक्खम'** प्रकाशित हुआ है जिसमें लेखिका ने सांप्रदायिकता की समस्या को दिखाने का प्रयास किया है। यद्यपि इस उपन्यास का मूल स्वर तीन पीढ़ियों के मनोभाव और जीवन शैली को लेकर है जो पराधीन भारत से लेकर आजाद भारत को अपने दायरे में समेटे हुए है लेकिन लेखिका ने ऐतिहासिक जरूरत के मद्देनज़र सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार जरूर

किया है।इस उपन्यास के संबंध में भगवान सिंह कहते हैं- " आजादी मिलने के बाद देश के राजनैतिक माहौल में आये तनाव, साम्प्रदायिक द्वेष, मारकाट, विस्थापन जैसी घटनाओं को भी लेखिका को ऐतिहासिक अनिवार्यता के दबाव में स्थान देना पड़ा है, किन्तु वे विवरण इतिहास सम्मत हैं, ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करने में लेखिका ने साहित्यिक कल्पना का तनिक भी दुरुपयोग नहीं किया है।"[45]

निष्कर्षत: भारतीय समाज में सांप्रदायिक विचारों के लिए औपनिवेशिक शासन व्यवस्था ज्यादा जिम्मेवार थीउसने ऐसी नीतियां अपनाई जिससे भारतीय समाज में विभाजन खड़ा किया जा सके।पूरी तरह से औपनिवेशिक शासकों को सांप्रदायिकता के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।इसके लिए बहुत हद तक भारतीय जनता भी जिम्मेवार थी जिसने बुद्धि से काम न लेकर हृदय से काम लिया।जब व्यक्ति के विवेक पर उसका मन हावी हो जाता है तो ऐसे ही भयानक परिणाम देखने को मिलते हैं।आजादी के बाद देश के संसाधनों पर अपना कब्जा जमाने का सबसे सरल उपाय था राजनीति में प्रवेश करना।स्वार्थी, लालची, पदलोलुप, भ्रष्टाचारी लोगों का प्रवेश भारतीय राजनीति में हुआ जिसने सत्ता पर कायम रहने के लिए या सत्ता हासिल करने के लिए सांप्रदायिक विचारों को हवा दी।अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का इन नेताओं ने जमकर प्रयोग किया और आज भी कर रहे हैं।सांप्रदायिकता दिनों दिन बढ़ रही है।हिंदी के कथाकारों ने सांप्रदायिक वैमनस्य के भयावह परिणामों को बहुत पहले ही भांप लिया था।इसलिए लंबे समय से वे सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करने वाली ताकतों के मुखौटों को हटाकर भारतीय जनता को उनसे अवगत कराते रहे हैं।राधाकृष्ण दास से लेकर ममता कालिया तक हिंदी उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता के पीछे मौजूद आर्थिक एवं राजनैतिक कारणों की तलाश की है और यह प्रमाणित किया है कि धर्म, जाति, वर्ण, भाषा और क्षेत्र वे हथियार हैं जिनके माध्यम से

आजादी के पहले से लेकर आजादी के बाद अब तक वैमनस्य खड़ा किया गया है जबकि इसके पीछे मौजूद सांप्रदायिक शक्तियां या तो सत्ता हथियाना चाहती है या फिर आर्थिक संसाधनों पर अपना कब्जा जमाना चाहती हैं। इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक दंगों की भयावहता का ही चित्रण नहीं किया बल्कि संकट के क्षणों में भी ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो अपने भीतर मौजूद मानवीयता के गुणों को समाप्त होने नहीं देते। ऐसे पात्रों के कारण ही यह आस बनी रहती है कि कभी न कभी ऐसा समय आयेगा जब सांप्रदायिक वैमनस्य के बादल छँट जाऐंगे और एक नयी सुबह होगी, एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें आनेवाली पीढ़ी में आपसी प्रेम के बीज बोये जाएंगे और चारों ओर समानता की फसल लहलहायेगी।

**संदर्भ ग्रंथ सूची:-**


1. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**11**
2. चंद्र, बिपन, सांप्रदायिकता: एक अध्ययन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**22**
3. चंद्र, बिपन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2006**, पृष्ठ संख्या-**328**
4. सरकार, सुमित, आधुनिक भारत (साभार), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2006**, पृष्ठ संख्या-**34**
5. प्रियंवद, भारत विभाजन की अंत:कथा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**241**
6. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव (साभार), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**61**
7. वही, पृष्ठ संख्या-**60**
8. चंद्र, बिपन, सांप्रदायिकता: एक अध्ययन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**22**
9. प्रियंवद, भारत विभाजन की अंत:कथा, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली,प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**175**
10. चंद्र, बिपन, आधुनिक भारत के इतिहासकार और सांप्रदायिकता, रोमिला थापर (संपादक), इतिहास की पुर्नव्याख्या (आलेख संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**121**
11. ज़कारिया, डॉ. रफ़ीक़, बढ़ती दूरियाँ: गहराती दरार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- **2003**, पृष्ठ संख्या-**59**
12. प्रियंवद, भारत विभाजन की अंत:कथा (साभार), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**230**
13. खान, वली, फैक्ट्स आर फैक्ट्स: एन अनटोल्ड स्टोरी ऑफ इन्डियास पार्टीशन, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**1987**, पृष्ठ संख्या-**04**
14. सरकार, सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2006**, पृष्ठ संख्या-**216**
15. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**80**
16. चंद्र, बिपन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष (साभार), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2006**, पृष्ठ संख्या-**345**
17. पटनायक, किशन, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-**2001**, पृष्ठ संख्या-**227**

18. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकता: इतिहास और अनुभव (साभार), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-2007, पृष्ठ संख्या-109
19. साभार, वही, पृष्ठ संख्या-111
20. वही, पृष्ठ संख्या-121
21. वही, पृष्ठ संख्या-120
22. वही, पृष्ठ संख्या-120
23. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-2001, पृष्ठ संख्या-19
24. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-47
25. वही, पृष्ठ संख्या-75
26. साभार, वही, पृष्ठ संख्या-80
27. वही, पृष्ठ संख्या-80
28. साभार, वही, पृष्ठ संख्या-82
29. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-2001, पृष्ठ संख्या-26
30. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास (साभार), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-47
31. प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2008, पृष्ठ संख्या-368
32. वही, पृष्ठ संख्या-369
33. मिश्र, रामदरश, हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2001, पृष्ठ संख्या-48
34. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-138
35. वही, पृष्ठ संख्या-150
36. मिश्र, रामदरश, हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा (साभार), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2001, पृष्ठ संख्या-61
37. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, वाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2003, पृष्ठ संख्या-206
38. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास (साभार), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-283
39. मदान, इन्द्रनाथ, आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2000, पृष्ठ संख्या- 64
40. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-275
41. सिंह, शिवप्रसाद, अलग अलग वैतरणी, साभार, शिवप्रसाद सिंह, सं- अरुणेश निरन, नेशनल

पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-**1994**, पृष्ठ संख्या-**64**

**42**. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2001**, पृष्ठ संख्या-**209**

**43**. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2005**, पृष्ठ संख्या-**382**

**44**. राय, चन्द्रदेव एवं धूमकेतु जयप्रकाश (संपादक), अभिनव कदम कदम **6-7**, मऊ, नवम्बर **2001**-अक्टूबर **2002**, पृष्ठ संख्या-**128**

**45**. किशोर, कृष्ण, अन्यथा-**15**, लुधियाना, पृष्ठ संख्या-**121**

# अध्याय- 3

# समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय

**3. 1.** समकालीन उपन्यास में विभाजित समाज का चित्रण

**3. 2.** समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिक तत्वों की खोज और पहचान

**3. 3.** समकालीन उपन्यासकारों की दृष्टि में सांप्रदायिकता

## समकालीन हिंदी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय

भारत के विभाजन से पहले और विभाजन के बाद के समय और समाज में काफी परिवर्तन आ चुका था। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव भारतीय जनमानस पर भी पड़ा। कोई भी रचनाकार समाज से कटकर नहीं रह सकता। कोई भी ऐसी कालजयी रचना नहीं हो सकती जिसमें किसी न किसी रूप में समाज का चित्रण न किया गया हो। विभाजनोपरान्त परिस्थितियों ने रचनाकार के मानस को भी निश्चय ही प्रभावित किया है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सांप्रदायिकता ने रचनाकार को धर्म, समाज, संप्रदाय, पारिवारिक रिश्ते, धर्म से इतर इंसानियत के आधार पर बनने वाले रिश्तों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया। ऐसे में रचनाकार के दृष्टिकोण में धर्म, संप्रदाय, समाज इत्यादि को देखने और परखने के नजरिये का विश्लेषण करना आवश्यक है।

### 3.1. समकालीन उपन्यास में विभाजित समाज का चित्रण

समकालीन उपन्यासों में विभाजित समाज का चित्रण किस रूप में हुआ है ? इस विषय पर एक विहंगम दृष्टि डालना भी जरूरी है। समकालीन उपन्यास की सीमा में सन् 1960 के बाद प्रकाशित हुए उपन्यासों पर दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे। स्वाधीनता के तत्काल बाद ही सांप्रदायिकता की विभीषिका को तो मिली लेकिन यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' के अलावा और कोई ऐसा उपन्यास 1947 से लेकर 1960 तक विशेष चर्चा में नहीं रहा जिसमें सांप्रदायिकता की समस्या को शिद्दत से उठाया गया हो। लेकिन साठ के दशक के बाद से लेकर आज तक सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर कई उपन्यास लिखे गये। जैसे-जैसे सांप्रदायिकता की समस्या का उभार होने लगा वैसे-वैसे इन 50 वर्षों में उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक विचारधारा के उभार के पीछे मौजूद आर्थिक, राजनैतिक, भाषिक और क्षेत्रीय कारणों का उल्लेख करते हुए इस समस्या पर विचार किया है। इससे इन उपन्यासकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता तो उभरती ही है साथ ही सांप्रदायिक समस्या को विविध नज़रिये से

देखने की दृष्टि भी मिलती है। स्वतंत्रता के बाद से लेकर अब तक सांप्रदायिकता पर आधारित जितने भी उपन्यास देखने को मिले उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथमत: देश विभाजन से उत्पन्न हुए सांप्रदायिक तनाव को केंन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यास। दूसरे हिस्से में ऐसे उपन्यासों को रखा जा सकता है जिनमें विभाजन के पश्चात भारत में रह गये मुसलमानों के नरकीय जीवन का चित्रण किया गया है और तीसरे वर्ग में ऐसे उपन्यास हैं जिनमें देश में सांप्रदायिक सोच का प्रसार करनेवाले तत्वों की शिनाख्त की गयी है। इन तीनों श्रेणियों में राही मासूम रज़ा, भीष्म साहनी, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, बदीउज्जमाँ, गीतांजलि श्री, नासिरा शर्मा, प्रियंवद, मंजूर ऐहतेशाम, भगवान दास मोरवाल आदि के उपन्यासों में चित्रित विभाजित समाज को देखने-परखने का प्रयास किया जायेगा।

सन् **1966** में राही मासूम रज़ा का उपन्यास **'आधा गाँव'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में राही ने उत्तर प्रदेश के गाँवों में रहनेवाले किसानों एवं जमींदारों के आपसी संबंधों का चित्रण किया है। गंगौली नामक गाँव को कथा के केन्द्र में रखकर वहाँ आपसी सौहार्द के साथ बसनेवाले मुसलमानों एवं हिंदुओं के साझे जीवन का चित्रण उपन्यासकार ने किया है। राही ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि आज़ादी के पहले तक भारत में दूर-दराज़ तक के गाँवों में बसनेवाले हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच किसी प्रकार का विभाजन मौजूद न था। इस बात से उनका कोई लेना-देना न था कि राष्ट्रीय स्तर पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच क्या घट रहा था। उन्हें उनकी कोई परवाह भी न थी। वे तो बस यही समझते थे कि जिस गाँव में वे रहते थे वही उनका घर, उनकी जमीन, उनका वतन है। वे इस देश के बराबर के हकदार थे। गाँव में बसनेवाले मुसलमान किसानों का भी उसी प्रकार शोषण होता था जिस प्रकार हिंदू किसानों का हुआ करता था। धर्म भले ही अलग-अलग हों उनमें धर्म के नाम पर आपसी किसी भी मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं था। दोनों ही धर्म के लोग एक-दूसरे के

धार्मिक उत्सवों में शामिल हुआ करते थे लेकिन विभाजन ने इनके बीच मतभेद खड़े कर ही दिये। दंगे हुए और दोनों ही कौम के लोगों की जान और माल की क्षति हुई। स्वाधीनता के बाद भारत के राजनीतिज्ञों ने इसे और हवा दी। दोनों के बीच विभाजन बरकरार रखा। राही के उपन्यास **'आधा गाँव'** के संबंध में आलोचक कुँवरपाल सिंह कहते हैं- " अपने महत्वपूर्ण उपन्यास 'आधा गाँव' में राही ने यह स्पष्ट किया कि धर्म राष्ट्र नहीं होता। इस्लाम एक धर्म है लेकिन एक राष्ट्र नहीं। राष्ट्र और धर्म को एक समझना इतिहास विरोधी समझ एवं मिथ्या चेतना है। इसके आधार पर जो भी राजनीति की जाएगी उसके मानव विरोधी और विघटनकारी परिणाम ही निकलेंगे। राही ने **1966** ई. में यह स्पष्ट कर दिया था कि पाकिस्तान की बुनियाद इतिहास की धारा के विरोध में रखी गई है इसलिए इसका विघटन अवश्यंभावी है। उस समय किसी ने राही की बात का यकीन नहीं किया और कुछ लोगों ने तो उन्हें अंधराष्ट्र भक्त की संज्ञा दी थी लेकिन राही इस बात पर दृढ़ रहे और निरंतर अपने लेखन में हर प्रकार की संकीर्णता और सांप्रदायिकता का विरोध करते रहे।"[1]

सन् **1973** में राही ने एक और उपन्यास **'दिल एक सादा कागज'** नामक उपन्यास लिखा जिसमें उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि धर्म के आधार पर देश का विभाजन न केवल गलत था बल्कि वे मुसलमान जो यह सोचकर कि इस देश में उनकी बहन-बेटियों की इज्जत सलामत नहीं रह सकती और पाकिस्तान चले गये लेकिन वहाँ उन्हें न तो ढंग का रोजगार प्राप्त हो सका और न ही वह सम्मान प्राप्त हो सका उल्टा उन्हें वहाँ 'मुहाज़िर' कहा गया। विभाजित समाज का चित्रण राही के उपन्यास **'ओस की बूँद'** में भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया गया है। उनके उपन्यास **'टोपी शुक्ला'** और **'हिम्मत जौनपुरी'** में भी हिंदू-मुस्लिम समस्या को बिल्कुल सही परिप्रेक्ष्य में रखकर परखने का प्रयास किया गया है। विभाजन को अपनी कथा का विषय बना कर राही द्वारा लिखा गया उपन्यास

**'टोपी शुक्ला'** विशेष महत्व रखता है। लेखक ने आज के समाज में मौजूद हिन्दू-मुस्लिम समस्या को पूरी ईमानदारी के साथ पेश किया है। सांप्रदायिक विचारधारा किस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विभाजन खड़ा कर देता है इसे उपन्यासकार ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक दिखलाया है। लेखक ने इस उपन्यास में बलभद्र नारायण शुक्ला और उसके मित्र इफ्फ़न अर्थात् सैयद जरगाम मुरतजा जैसे दो ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो अलग-अलग परिवेश में पलने के बावजूद स्वयं को एक-दूसरे के बगैर अधूरा समझते हैं। अपने अकेलेपन के जीवन में टोपी शुक्ला राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आता है और वह यह जान पाता है कि मुसलमानों ने इस देश का कैसे सत्यानाश किया है और जब तक वे यहाँ हैं देश की उन्नति में रोड़ा अटकाते रहेंगे। इसी बीच उसके क्लास में वहीद नामक लड़का प्रथम स्थान पा जाता है जो इन विचारों को यकीन में बदल डालता हैं कि जब तक इस देश में मुसलमान हैं इस देश का कुछ भी भला नहीं हो सकता। इसके बाद टोपी शुक्ला मुसलमानों से नफ़रत करने लगता है। इधर इफ्फन भी कमोबेश इन्हीं विचारों से ग्रस्त है। उसे लगता है कि स्कूल के शिक्षक भी धर्म के आधार पर छात्रों के साथ पक्षपात करते हैं। हिंदू लड़कों ने भी उर्दू पढ़ना छोड़ दिया है जिसे स्कूल के उर्दू के मौलवी साहब महसूस करते हैं। कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में इफ्फन और टोपी शुक्ला की मुलाकात होती है और सारे गिले-शिकवे दूर हो जाते हैं। इफ्फन और टोपी शुक्ला का मैत्री संबंध धर्म के कठमुल्लों को नागवार गुजरता है ओर वे टोपी शुक्ला और इफ्फन की पत्नी के संबंध के में अफवाह फैलाना शुरू करते हैं। इस बीच टोपी शुक्ला पाँच दिनों के लिए अपने घर बनारस जाता है जहाँ से लौटने पर उसे पता चलता है कि जिस लड़की, सलीमा से वह विवाह करना चाहता था, उसका विवाह हो चुका है। उसे यह महसूस होता है कि चारों ओर नफरत और सांप्रदायिक मनोवृति के लोग हैं और उसे ऐसे माहौल में घुटन महसूस होने लगती है। वह आत्महत्या कर लेता है। टोपी शुक्ला का

मरना उसकी हार का नहीं बल्कि भारतीय समाज की हार का द्योतक है, मानवीयता के हार जाने का परिणाम है। **'टोपी शुक्ला'** उपन्यास इसी गुजरते हुए समय और बदलते हुए परिवेश की कहानी है।

**'ओस की बूँद'** उपन्यास में राही मासूम रज़ा ने विभाजन के उपरान्त उन मुसलमानों की मनोदशा का चित्रण किया है जो अपने ही देश में बेगानियत का शिकार बन गये। इस उपन्यास में लेखक ने सन् **1932** के बाद के गाजीपुर गाँव को कथा के केन्द्र में रखा है। राही ने इस उपन्यास में ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो आज़ादी से पहले पाकिस्तान के पक्षधर थे लेकिन पाकिस्तान बन जाने के बाद उन्होंने यह महसूस किया कि रहना तो उन्हें गांधी और नेहरू के देश में ही है इसलिए वे यह मानने लगते हैं कि पाकिस्तान की माँग गलत थी। इस उपन्यास में केवल मुसलमान पात्रों को ही नहीं बल्कि हिंदू पात्रों को भी दिखाया गया है कि कैसे विभाजन ने उनके अंदर भी एक विभाजन ला खड़ा किया था। अगर यह कहें कि राही ने अपने समस्त उपन्यासों के माध्यम से सांप्रदायिक विचारधारा फैलाने वाले तत्वों से लोहा लिया है तो अतिशयोक्ति न होगी। राही के उपन्यासों के संबंध में डॉ. प्रमिला अग्रवाल कहती हैं- " राही के उपन्यासों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ये उपन्यास विभाजन के बाद पतनशील जीवन-मूल्यों, अविश्वास और सन्देह के माहौल में सच्चे, ईमानदार लोगों की मनोव्यथा का चित्रांकन करते हैं। मुस्लिम परिवारों का अन्तरंग इनमें खुलकर सामने आया है, साथ ही भारतीय मुसलमान की पीड़ा का मार्मिक चित्र भी इनमें प्रस्तुत है।"[2] इस प्रकार यदि देखें तो राही का समस्त उपन्यास-साहित्य सांप्रदायिकता के विरुद्ध एक मुहिम है।

सांप्रदायिक विचारधारा की चपेट में आकर समाज किस प्रकार विभाजित हो जाता है इसे बलवन्त सिंह के उपन्यास **'काले कोस'** में देखा जा सकता है। पंजाब की पृष्ठभूमि में लिखे गये इस उपन्यास में लेखक ने यह दिखाया है कि किस प्रकार गाँव के लोग

एक साथ मिल-जुलकर रहते थे। धर्म के नाम पर उनमें कोई भी मतभेद न था। दूसरे शब्दों में कहें तो सांप्रदायिक विचारधारा इन्हें छू भी न सकी थी लेकिन यह स्थिति ज्यादा दिनों तक बनी न रह सकी। मुस्लिम लीग के मियाँ दिल मोहम्मद के आते ही परिस्थितियों में बदलाव आना शुरू हो जाता है। अफवाहों का बाजार लगते ही गाँव के हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख अलग-अलग बैठकें लगाना शुरू कर देते हैं। जैसे-जैसे अन्य जगहों से दंगों की खबर आने लगती हैं माहौल और भी बिगड़ जाता है। कल तक जिनमें आपसी भाईचारा था वे आज एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं और जो कल तक अपरिचित थे आज 'अपने' बन जाते हैं। इन 'अपनों' का 'बेगाने' बन जाना और 'बेगानों' का 'अपना' बन जाना उपन्यासकार की संवेदनाओं को छूता है। लेखक ने इन परिस्थितियों का चित्रण बखूबी अपने उपन्यास में किया है।

सन् **1973** में भीष्म साहनी का उपन्यास **'तमस'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में वर्णित घटनाएं वे घटनाएं हैं जिसे लेखक ने आँखों से देखा था। लेखक ने बड़ी ही बेबाकी से सांप्रदायिकता फैलानेवाले कारकों को बेनकाब किया है। साथ ही उन्होंने यह भी दर्शाया है कि हिंदुओं और मुसलमानों में आपसी मतभेद और एक-दूसरे पर अविश्वास सांप्रदायिक विचारों को पनपने के लिए अनुकूल ज़मीन मुहैया कराता है। वे हिंदू और मुसलमान जो एक-दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजों से लड़ रहे थे, किस प्रकार अंग्रेजों के कुचक्र में फँसकर एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। सारा भाईचारा न जाने कहाँ गुम हो जाता है। वर्षों की साझी संस्कृति समाप्त हो जाती है और रह जाता है तो सिर्फ धार्मिक उन्माद। सन् **2000** में भीष्म साहनी का एक और उपन्यास **'नीलू नीलिमा नीलोफर'** सांप्रदायिक समस्या को बिल्कुल अलग ढंग से पेश कराता है। **70-80** के दशक तक यह देखा गया है कि उपन्यासकार देश विभाजन से ही सांप्रदायिक समस्या को उठाने की कोशिश करते रहे हैं

जबकि **80** के दशक के बाद सांप्रदायिक समस्या बिल्कुल अलग रूप में उभरकर हमारे सम्मुख खड़ी हो चुकी है। इसलिए **80** के दशक के बाद से इस समस्या को बिल्कुल अलग ढंग से समझने का प्रयास किया गया है। इसके विशुद्ध देसी स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया गया है। **'नीलू नीलिमा नीलोफर'** उपन्यास में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि हिंदू और मुसलमानों के बीच भले ही एक लंबे समय के बाद 'रोटी' का संबंध बन गया हो लेकिन वैवाहिक संबंध स्थापित हों यह आज भी संभव नहीं हो पाया है। यदि नौजवान पीढ़ी समाज के बनाये इस नियम को धत्ता बताकर विवाह कर लें तो यह अति शीघ्र यह धार्मिक मसला बन जाता है और सांप्रदायिक समस्या का कारण भी।

सन् **1967** में शिवप्रसाद मिश्र का उपन्यास **'अलग-अलग वैतरणी'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने विभाजन के बाद भारत में रहनेवाले मुसलमानों की दुर्दशा का चित्रण किया है। अपने उपन्यास में लेखक ने ऐसे मुसलमान पात्रों का चित्रण किया है जो विभाजन के बाद भी भारत में ही बसते हैं। यहाँ के लोग ही उनके अपने लोग हैं, यह जमीन ही उनकी मादर-ए-वतन है लेकिन विभाजन ने उनके ही यार-साथियों के मन में यह बात डाल दी कि अब जब पाकिस्तान बन चुका है तो भारत में किसी मुसलमान के लिए कोई जगह नहीं रह गयी है। इसी कारण जब खलील मियां की जमीन हड़प ली जाती है तो कॉन्सटेबल जगेसर कहता है- " एकदम मुर्दा हैं ये लोग। खलील मियां का खेत ले लिया तो क्या हो गया। उस दिन अभी शोभाराम जी बता रहे थे कि जाटों ने भी मुसलमानियों को पकड़-पकड़ गढ़मुक्तेश्वर में चकरी पर बैठा-बैठाकर ब्याह कर लिया। काहे नहीं कोई हिन्दू बोला उहां मुसलमानों के पक्ष में। तब तो सब मियां चिल्ला रहे थे कि पाकिस्तान लेंगे। अब तो सालों ने ले लिया पाकिस्तान। जाओ उहां। यहां का पड़े हो भाई। राम दै ऐसा काम किसी और इलाके में हुआ होता, तो लोग जय-जयकार मचा देते। मगर ई गांव है बीरबावनपुर। जिसे

देखो वही रट लगाये है कि बेचारे खलील मियां के साथ 'अनियाव' हो गया। अरे हो गया 'अनियाव' तो हो गया। तुम्हारे में हिम्मत है तो रोक दो। अब सालों को कुछ नहीं मिला तो जौनपुर की उस हरजाई का मामला लेकर बदनामी कर रहे हैं।"[3] कहीं न कहीं ये उद्‌गार विभाजन के समय मिले छालों से ही निकले मवाद हैं लेकिन हर हिन्दुस्तानी को जो विभाजन के लिए मुसलमानों को दोषी मानता है यह समझना चाहिए कि विभाजन के लिए राजनीतिक नेताओं ने धर्म का सहारा लिया। दूसरी बात यह कि विभाजन के समय केवल हिंदुओं ने ही खोया है, यह धारणा भी गलत है। दोनों ही धर्म के लोगों ने बहुत कुछ खोया है। साथ ही भारत को अगर एक सम्पन्न राष्ट्र बनना है तो यह जरूरी है कि भारतीय बीते हुए कल कि कड़वी घटनाओं को भुला दें। इस उपन्यास के संबंध में डॉ वंसीधर कहते हैं- " उपन्यास के पात्र खलील मियां की यह वेदना अकेले उनकी नहीं है, इसमें स्वतंत्रता के परवर्ती काल का पूरा भारतीय ग्राम-परिवेश सिसक रहा है। कथा-केन्द्र करैता भी इसी सिसकन, वेदना और कराह से गुजर रहा है जिसकी अत्यंत ही यथार्थपरक एवं संवेदनात्मक अभिव्यक्ति 'अलग-अलग वैतरणी' में हुई है। अंधेरा तो वहां पहले भी था, पर स्वतंत्रता के बाद जिस प्रकार का अंतहीन अंधेरा वहां व्याप गया है, उस तरह का कभी नहीं था। अंधेरे के साथ वहां आशा, आस्था और उमांगों भरी रोशनी भी थी, परंतु आज का करैता, जीवन की असंख्य विकृतियां एवं विद्रूपताओं के साथ घिर गया है। ..."[4] यह वह अंधकार है जिसमें इंसान अपनी सारी मानवीयता भुलाकर हैवान बन जाता है लेकिन अपने उपन्यास **'दिल्ली दूर है'** में शिवप्रसाद सिंह जी अपने हिंदुत्व प्रेम के कारण मुसलमानों को अत्याचारी, व्यभिचारी के रूप में ही पेश करते हैं। लेखक ने इस उपन्यास में हिंदू जनता का चित्रण अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक किया है।

सन् **1979** में कृष्णा सोबती का उपन्यास **'जिंदगीनामा'** प्रकाशित हुआ। पंजाब की पृष्ठभूमि में इस उपन्यास में लेखिका ने टूटते और दरकते रिश्तों का ताना-बाना

बड़ी ही मार्मिकता के साथ पेश किया है। इस उपन्यास में लेखिका ने **20**वीं शताब्दी के प्रथम पन्द्रह वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। यह वह समय था जब लोगों की जिंदगी बड़ी ही खुशहाल थी, सांप्रदायिक भेदभाव का कहीं नामोनिशान तक न था, लोगों में आपसी एका था, आपसी सहयोग और सद्भाव की भावना मौजूद थी मगर अंग्रेजों के कुचक्रों के कारण यह सद्भाव भी समाप्त होने लगता है और सांप्रदायिक वैमनस्य का उभार होने लगता है। सन् **1993** में सोबती जी का उपन्यास **'दिलोदानिश'** प्रकाशित हुआ जिसमें लेखिका ने दिल्ली को कथा के मूल में रखा है। लेखिका ने इस उपन्यास में बड़ी ही सफलता के साथ यह दिखलाया है कि मुस्लिम संस्कृति आज हिंदू संस्कृति के साथ कैसे घुल-मिल गयी है और आज इसे अलगा पाना मुश्किल है। लेखिका ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि खान- पान, रहन-सहन यहाँ तक कि त्योहारों में भी मुस्लिम संस्कृति के कई तत्व हिंदू संस्कृति में और हिंदू संस्कृति के कई तत्व मुस्लिम संस्कृति में मिल गये हैं। इस रूप में सोबती जी ने दिल्ली की मूल संस्कृति की पहचान भी की है। यह संस्कृति हजारों वर्षों के सहअस्तित्व का परिणाम थी जो आज अपने अस्तित्व के संकट से ही जूझ रही है क्योंकि संस्कृति ही वह मुद्दा है जिसके आधार पर देश का विभाजन हुआ और आज उग्र हिन्दुत्ववादी शक्तियाँ इसी संस्कृति को मुद्दा बनाकर समाज में विभाजन के बीज बो रही है।

सन् **1975** में बदीउज्जमाँ का उपन्यास **'छाको की वापसी'** में लेखक ने बिहार में बसनेवाले उन मुसलमानों का चित्रण किया है जो विभाजन के उपरान्त पूर्वी पाकिस्तान चले गये। मगर कुछ दिनों में ही उनका मोहभंग हो गया क्योंकि वहाँ बंगाली मुसलमान और बिहारी मुसलमान के बीच भेद किया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार से पूर्वी बंगाल जानेवाले मुसलमानों को बेगानियत का अहसास होने लगा। बिहार से जानेवाले मुसलमानों की स्थिति त्रिशंकु की भांति थी जो न तो पूर्वी पाकिस्तान से जुड़ पाते हैं और न ही बिहार से

छूटने का मोह ही खत्म हो पाता है। वे वापस आने के लिए तड़पने लगते हैं लेकिन कानून उन्हें इसकी इज़ाज़त नहीं देता। इसी छटपटाहट और तड़पन का अंकन उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में किया है। यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है जिसमें भारत विभाजन से लेकर बांग्लादेश के निर्माण तक के समय को कथा में रखा गया है। उपन्यासकार ने इसमें दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार विभाजन के पूर्व हिन्दू और मुसलमान में आपसी सद्भाव था। जैसे-जैसे विभाजन करीब आता गया सद्भाव समाप्त होने लगा और नफरत अपने पैर जमाने लगी। लेखक ने नयी परिस्थितियों में मुस्लिम-मुस्लिम के बीच के अन्तर्विरोध, बिहारी और बंगाली मुसलमानों के पारस्परिक विभेद आदि समस्याओं पर पुन: विचार करने की जरूरत को उठाया है। सन् **1977** में रामानन्द सागर का उपन्यास **'और इंसान मर गया'** प्रकाशित हुआ जिसमें उपन्यासकार ने सांप्रदायिक विभीषिका की आग में इंसानियत को दम तोड़ते हुए दिखलाया है। लेखक की वेदना मुख्य रूप से इसी बात को लेकर है। इस उपन्यास में लेखक ने लाहौर शहर का चित्रण करते हुए यह दिखलाया है कि वहाँ बसनेवाले दोनो कौमों को यह विश्वास था कि विभाजन के बाद यह शहर उन्हीं के हिस्से में आयेगा इसलिए दोनों धर्म के लोग उसे छोड़ना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि दूसरा उसे छोड़कर चला जाए। दोनों ही चाहते हैं कि बंटवारे का ऐलान होने से पहले अपने-अपने क्षेत्र में से दूसरे धर्म के लोगों को ही खत्म कर दिया जाए। इस हिंसा में न तो हिन्दू मरता है और न मुसलमान, यदि कोई मरता है तो वह इंसान मरता है। लेखक की चिंता इसी विषय को लेकर है।[5]

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि आज़ादी के तत्काल बाद वे मुसलमान जो भारत में ही रह गये उनकी स्थिति भी अत्यंत दयनीय हो गयी थी। अपने ही वतन में बेगानियत का उन्हें शिकार होना पड़ा। बार-बार वतनपरस्ती का सबूत देने पर भी उन्हें संदेह

की दृष्टि से देखा जाता था। सन् **1986** में मंजूर एहतेशाम का उपन्यास **'सूखा बरगद'** प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने इसी मन: स्थिति का चित्रण किया है। लेखक ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक इसे दिखाया है कि कैसे मजहब व्यक्तिगत एवं सामाजिक संबंधों के बीच फासले खड़े कर देता है। लेखक ने भारतीय मुसलमानों की उस मनोदशा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है जब वे भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा होने के बावजूद मुख्यधारा से कट जाते हैं। लेखक ने इसके कारणों की भी तलाश अपने उपन्यास में की है। विभाजन के तत्काल बाद यह बात प्रमाणित हो गयी कि देश का विभाजन एक गलत एवं अलोकप्रिय निर्णय था। इसे जबरन देशवासियों पर थोपा गया था। स्वयं भारत में रहनेवाले मुसलमानों ने इसे महसूस किया कि विभाजन का समर्थन करना उनके लिए विनाशकारी ही था। इसे वे मुसलमान भी महसूस कर पाये जो विभाजन के दौरान स्वेच्छा से पाकिस्तान चले गये। एक ओर पश्चिमी पाकिस्तान में गये मुसलमानों को मुहाज़िर कहा गया वहीं पूर्वी पाकिस्तान में गये मुसलमानों को बिहारी मुसलमान कहा गया और उनके साथ भी भेदभाव हुआ। नासिरा शर्मा का उपन्यास **'जिंदा मुहावरे'** न केवल भारतीय मुसलमानों के समाज का प्रामाणिक दस्तावेज़ है बल्कि वह मानवीय संबंधों को धर्म से ऊपर देखने की अपील भी करता है। इस उपन्यास के संबंध में डॉ रामचन्द्र तिवारी कहते हैं**-** " उपन्यास लिखते हुए लेखिका ने यह विश्वास प्रकट किया है कि भविष्य में आने वाली नस्लें मानवीय पीड़ा और काले अनुभवों से सबक लेंगी और ऐसी राजनीति से हाथ खींचेंगी, जो अभिशाप बन दिलों को काटती, जमीन को बाँटती, घरों को उजाड़ती, बारूद के ढ़ेर पर बैठे इन्सान को रूहानी तौर पर लगातार कमजोर बनाती जा रही है।"[6]

सन् **1986** में अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास **'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने बनारस के बुनकर समुदाय के नरकीय जीवन को

कथा के केन्द्र में रखा है। सांप्रदायिक उन्माद के दौर में लेखक ने धर्म की वास्तविकता पर से पर्दा उठाने का प्रयास किया है। लेखक ने उपन्यास में यह दिखलाने का प्रयास किया है बनारस का समाज कैसे कई परतों में विभाजित है। इसका चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं- " एक समाज दुनिया का है। एक समाज भारत का है। एक समाज हिन्दुओं का है। एक समाज मुसलमानों का है। और एक समाज बनारस के जुलाहों का है। यह समाज कई अर्थों में दुनिया के हर समाज से अलग है। इस समाज के कई खण्ड हैं। पाँचों हैं, चौदहों हैं, बाइसी और बावनों हैं। अब एक नयी बाइसी भी बन गयी है। हर खण्ड का अपना सरदार है, अपना महतो है। ... फिर यहाँ कुछ लोग बनरसिया हैं, कुछ लोग मऊवाले हैं। मऊवाले वे लोग हैं जो आजमगढ़ जिले के मऊनाथभंजन से आकर बस गये हैं। पढ़े-लिखे लड़के उन्हें 'एम ग्रुप' कहते हैं। जवाब में उधर के पढ़े-लिखे लड़के इन्हें 'बी ग्रुप' कहते हें। 'एम ग्रुप' और 'बी ग्रुप' में नोंक-झोंक चलती ही रहती है। ...फिर अलईपुरिया अलग है और मदनपुरिया अलग। खण्ड में से खण्ड।"[7] इस रूप में उपन्यासकार ने बनारस के जुलाहों का अत्यंत जीवंत एवं मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। साथ ही उपन्यासकार ने मिथ्या परम्पराओं, कुसंस्कारों, धार्मिक रूढ़िवादिता के खोखलेपन को दिखाने में सफलता प्राप्त की है।

हिंदुओं और सिक्खों में बढ़ती हुई रंजिश को केन्द्र में रखते हुए सन् **1989** में तरसेम गुजराल का उपन्यास **'जलता हुआ गुलाब'** उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टिकोण से सांप्रदायिकता की समस्या को परखने की कोशिश की है। हरदीप और मंगल के परिवार की घनिष्ठता और कालांतर में उनके बीच उभरते हुए वैमनस्य के माध्यम से लेखक ने इस समस्या पर विचार करने की कोशिश की है। पंजाब में उग्रवादियों द्वारा की जा रही नृशंस हत्या, आपरेशन ब्लू स्टार, पुलिस की मनमानी, शासन की ढुलमुल नीति आदि की वजह से हिंदू और सिख परेशान

तो थे ही, एक-दूसरे से वे दूर भी होते जा रहे थे। युवा पीढ़ी सांप्रदायिक विचारधारा की चपेट में बड़ी जल्दी आ रही थी। उपन्यास का पात्र मंगल जो पहले सांप्रदायिक विचारधारा को गलत समझता था वह खुद यह सोचने पर विवश हो जाता है- "... चुना तो इस सरकार को हिंदू-सिखों ने था फिर यह सरकार न होकर पंथक सरकार क्यों हो गई ? पंथक सरकार अपने को पंथक सरकार कहती है तो नाजायज नहीं है। ...मंत्रियों में एक भी हिंदू मंत्री का चेहरा नजर आता है तुम्हें। ...सिखों ने आज तक कभी साफ दिल से उग्रवाद की निन्दा की है ? इतने बेकसूर ओर मासूम हिंदू मौत के घाट उतारे जा रहे हैं...यदि सिख नैतिक तौर पर इस बतीरे को गैर-इंसानी समझते हैं तो इसके विरुद्ध गुरुद्वारों से हुक्मनामा क्यों नहीं जारी किया जाता।"[8] मंगल के उपरोक्त विचारों में साफ झलकता है कि मंगल भी धीरे-धीरे सिक्खों के प्रति असहिष्णु होते जा रहा है।

**1990** के दशक के बाद के दौर में भारतीय समाज और राजनीति में सांप्रदायिकता सर उठाती नजर आती है। इस दौर तक भारतीय समाज एवं राजनीति में उग्र हिंदुत्ववादी शक्तियों ने अपना स्थान बना लिया था। धर्म और राजनीति का आपसी खेल अपनी खोह से निकलकर बाहर आ चुका था। **1992** में भाजपा एवं विहिप के कारसेवकों ने बाबरी मस्जिद को ढ़हा दिया जिसके परिणामस्वरूप पूरे भारत में सांप्रदायिक दंगों का दौर ही शुरू हो गया था। चुनाव के दौर में कई राजनीतिक दलों ने खुलकर बाबरी मस्जिद के स्थान पर ही रामलला के मंदिर का निर्माण करने का वादा किया। सत्तासीन होने के बाद ही इन दलों ने सांप्रदायिक तांडव करने शुरू किये जिसकी परिणति गुजरात में भीषण दंगों के रूप में हुई। धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के नाम पर लड़ने-लड़ाने का खेल खुलकर सामने आया। दरअसल इस लड़ाई के पीछे मकसद अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि मात्र है। सन् **1994** में प्रियंवद का उपन्यास **'वे वहाँ कैद हैं'** प्रकाशित हुआ जिसमें लेखक ने फासीवादी शक्तियों के

भयावह चेहरों को बेनकाब किया है। इस कारण गोपाल राय अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं कि साम्प्रदायिक सोच और फासीवाद पर सर्जनात्मक विमर्श की दृष्टि से यह उपन्यास इस दशक की एक उपलब्धि है।[9] सन् **1998** में गीतांजलि श्री का उपन्यास **'हमारा शहर उस बरस'** प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दू सांप्रदायिकता का चित्रण लेखिका ने किया है। इस उपन्यास में लेखिका ने मठों और धर्म के नाम पर दोहन और आतंक फैलानेवाले संगठनों के राज़-फाश किये हैं। उपन्यास में एक मठ है जो तमाम हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक गतिविधियों के लिए जिम्मेवार है। यह धर्म के नाम पर लोगों को भड़काता है और धर्म के नशे में चूर पूरा शहर ही सांप्रदायिक विचारों की गिरफ्त में आ जाता है।

भारत में सांप्रदायिक विचारधारा इतनी आसानी से अपने पैर न जमा पाती अगर देश के बुद्धिजीवियों ने इसके खिलाफ मुहिम जारी रखी होती। सांप्रदायिक समस्या पर फर्राटेदार भाषणबाजी करना अलग बात है और वास्तविक जीवन में इससे लड़ना अलग बात है। आज भी देश के पढ़े-लिखे लोग उतने ही या उससे भी ज्यादा दकियानूसी परंपरा और धर्म के गिरफ्त में हैं जितने वे पहले कभी हुआ करते थे। आज का बुद्धिजीवी घर बनाने से लेकर विवाह का स्थल तय करने तक के लिए यह देखना नहीं भूलता कि वह स्थल हिंदू बहुल इलाका है या मुस्लिम बहुल। इस उपन्यास में एक विश्वविद्यालय भी है जो ज्ञान का, उदार विचारों का, स्वस्थ मनुष्य तैयार करने का स्थल है लेकिन बुद्धिजीवियों का जो रूप उभरकर इस उपन्यास में आया है वह न केवल निराशाजनक है बल्कि यह भी उद्घोषणा करता है कि जब तक ऐसी छद्म बुद्धिजीविता जीवित रहेगी तब तक सांप्रदायिक समस्या का कोई समाधान निकल पाना मुश्किल है। उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि कैसे एक मुस्लिम युवक तनाव की स्थिति में अकेला पड़ जाता है और कुछ लोगों को छोड़ दें तो जैसे पूरा शहर ही उसका दुश्मन बन जाता है।

सन् 1999 में भगवानदास मोरवाल का उपन्यास **'काला पहाड़'** प्रकाशित हुआ जो देश में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता पर गहरी संवेदना के साथ विचार किया है।इस उपन्यास में सत्ता हासिल करने के लिए राजनीतिक और सांप्रदायिक शक्तियां किस प्रकार साधारण इंसान को ग्रास लेती हैं, इसका चित्रण किया गया है।लेखक ने हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखा है।लेखक ने इस अंचल में इस्लाम धर्मी मेव नाम की जनजाति जो अल्पसंख्यक हिंदुओं के साथ शान्ति और सद्भाव के साथ जिंदगी जीती है।इस जनजाति के पूर्वजों ने बाबर के खिलाफ राणा साँगा का साथ दिया।विभाजन के बाद भी वे पाकिस्तान नहीं गये।इनके बीच धर्म, मजहब और जाति के नाम पर कोई भेदभाव नहीं है और पूरे इलाके में गंगा-जमुना संस्कृति प्रवाहित होती रहती है। राजनीति का प्रवेश ज्यों ही यहाँ हो जाता है और मिली-जुली संस्कृति समाप्त हो जाती है। धार्मिक जुनून बाबरी मस्जिद विध्वंश और उसके बाद हुए सांप्रदायिक दंगों का रूप ले लेता है।समाज में ऐसे समय में आतंक, भय और अफवाह भी वैमनस्य का कारण बन जाती है। इस उपन्यास के संबंध में आलोचक डॉ विजय बहादुर सिंह अपनी राय देते हुए कहते हैं- " कथाकार ने जहाँ एक ओर आजादी के बाद के पेशेवर राजनेताओं के चरित्रों को उधेड़ा है, वही राष्ट्रीय राजनीति के बदले हिंदुओं और मुसलमानों की राजनीति करने वाले ठेकेदारों की शिनाख़्त भी की है।इसे पढ़ते हुए बार-बार इस एहसास से गुजरना पड़ता है कि आजादी के बाद विस्थापन और पलायन का यथार्थ ही सबसे बड़ा यथार्थ नहीं है, हिंदुओं का कट्टर हिंदू और मुसलमानों का कट्टर मुसलमान में बदलते जाने का नंगा और तीखा यथार्थ भी है। राष्ट्रीय जीवन की परंपरागत सघनता और विश्वसनीयता के ताने-बाने में कसावट के बदले जो झोल आता चला गया है और जिसने न केवल हमारे घरों-मुहल्लों बल्कि हमारी

चेतनात्मक, एकात्मता को भी छिन्न-भिन्न कर ड़ाला है, उपन्यास इसे गहरी पीड़ा और तड़प के साथ चित्रित करता है।"[10]

सन् **1999** में ही कथाकार कमलेश्वर का उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** भी प्रकाशित हुआ।सांप्रदायिक समस्या को ध्यान में रखकर लिखे गये समस्त उपन्यासों से यह उपन्यास बिल्कुल अलग ढंग में लिखा गया उपन्यास है।इस उपन्यास में कमलेश्वर ने समय को ही नायक बना दिया है।इस समय के दरम्यान आये विभिन्न धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासकि, विज्ञान एवं शिक्षा जगत् से जुड़े लोगों को कटघरे में खड़ा किया गया है।यह भले ही अदीब की अदालत हो लेकिन मानवता को शर्मसार करती और जनता को बेवकूफ बनानेवाली हर शख्सीयत का नकाब यहीं उतारा जाता है।इस उपन्यास के संबंध में डॉ. विजय बहादुर सिंह कहते हैं- " इसे पढ़ते हुए बार-बार हम अपने समय के धधकते सवालों से रू-ब-रू होते हैं और हमारी चेतना में खदबदाहट और उबाल आने लगता है।हमारी जीवन संबंधी बनी बनाई समझ और घिसे पिटे मूल्य-संवेदन उलट-पुलट होकर अचकचा उठते हैं। देव सभ्यताओं वाले पुराणों और इतिहास आधारित राजवंशों की जो नई व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की गई है, वह पुराण और इतिहास लेखन के खतरनाक प्रयोजनों का ही खुलासा नहीं करती, पाठकों से साहस, संस्कारमुक्तता और तार्किकता की माँग भी करती है।"[11] दरअसल कमलेश्वर ने न केवल सांप्रतिक काल के खतरों से लोगों को रू-ब-रू करवाया है बल्कि आने वाले खतरों से भी आगाह किया है।कमलेश्वर ने सांप्रदायिक विचारधारा के पीछे मौजूद पूँजीवादी एवं नवसाम्राज्यवादी ताकतों के चेहरों को भी बेनकाब किया है।**'कितने पाकिस्तान'** से बहुत पहले कमलेश्वर का उपन्यास **'लौटे हुए मुसाफिर'** प्रकाशित हो चुका था, जिसका केंद्रीय स्वर भी सांप्रदायिकता विरोधी ही था।इस उपन्यास में कमलेश्वर ने एक बस्ती को कथा के केंद्र में रखते हुए विभाजन पूर्व, विभाजन के समय और विभाजन के पश्चात् की

स्थितियों का चित्रण किया है। सदियों से एक साथ रहनेवालों के बीच विभाजन कैसे उपजने लगता है ? इस स्थिति का चित्रण उपन्यासकार ने अत्यंत ही सजीवता के साथ किया है। इस उपन्यास में उन मुसलमानों का चित्रण किया गया है जो विभाजन के समय पाकिस्तान चले गये लेकिन जल्द ही उनका मोहभंग हो गया और वे लौट कर हिन्दुस्तान चले आये। इस उपन्यास के संवंध में डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे कहते हैं- " वस्तुत: कमलेश्वर का यह उपन्यास समसामयिक विषय को लेकर लिखा जाने पर भी मानव समाज के कुछ शाश्वत मूल्यों, समस्याओं तथा मानव हृदय की सूक्ष्म प्रवृतियों से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण यह उपन्यास आज भी उतना ही नया है, जितना पहले था, और तब तक नया रहेगा, जब तक कि विस्थापितों की समस्या विश्व में रहेगी, जब तक स्थापितों को उखाड़कर साम्प्रदायिक और प्रतिगामी शक्तियाँ उन्हें मुसाफिर बना देंगी, और जब तक ये मुसाफिर अपनी बस्ती को लौटते रहेंगे।"[12]

सन् 2006 में महुआ माजी का उपन्यास **' मैं बोरिशाइल्ला'** प्रकाशित हुआ। बांग्लादेश के बोरीशाल नामक इलाके को कथा के केंद्र में रखकर महुआ माजी ने सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार किया है। यह उपन्यास पाकिस्तान निर्माण से लेकर बांग्लादेश गठन से होते हुए बाबरी मस्जिद के ध्वंश तक की यात्रा करता है। उपन्यास के अन्त में केष्टो अपना सबकुछ खो चुका है लेकिन जिस भूमि के लिए उसने और उसके परिवारवालों ने सबकुछ न्योछावर कर दिया था, वहीं वह बेगानियत का शिकार हो जाता है। उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या धर्म, भाषा, जाति, वर्ण के आधार पर किसी भी राष्ट्र में विभाजन सही है ? उपन्यास से गुजरने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि धर्म, भाषा, जाति, वर्ण के आधार पर किसी भी राष्ट्र का विभाजन गलत है। यदि धर्म के आधार पर किया गया विभाजन सही होता तो पाकिस्तान से बांग्लादेश

भाषा के नाम पर अलग न होता और भाषायी आधार पर बने राष्ट्र बांग्लादेश में भारत में हुए बाबरी मस्जिद के ध्वंश के बाद हिंदुओं के खिलाफ दंगे न होते, उनकी नृशंस हत्या न होती। इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि बांग्लादेश के निर्माण के समय बंगाली मुसलमानों ने जितनी यातनाएं सही थीं, उतनी ही बंगाली हिंदुओं ने भी यातना सही थी। बांग्लादेश के निर्माण में बंगाली हिन्दुओं का उतना ही योगदान है जितना बंगाली मुसलमानों का। उनकी भी धमनियों में रवीन्द्रनाथ और काज़ी नजरूल इस्लाम के गीत रक्त की तरह प्रवाहित होते हैं। भारत विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण में कोई ऐसा फर्क नज़र नहीं आया। रातों-रात लोग हिन्दुस्तानी से पाकिस्तानी बन गये। पूर्वी पाकिस्तान में मौजूद हिन्दुओं की स्थिति तो और भी दयनीय थी क्योंकि न तो वे अपने देश की आज़ादी पर जश्न ही मना पा रहे थे और न ही इस जश्न से खुद को अलग रख पा रहे थे क्योंकि जिस देश की आज़ादी के लिए हजारों हिन्दुओं ने कुर्बानी दी थी अचानक उन्हें यह पता चला कि अब इस देश में उनके लिए कोई जगह नहीं रह गयी। एक साजिश के तहत सभी हिन्दुओं को मौत के घाट उतारा जा रहा था जिसमें प्रशासन भी उन दंगाइयों की सहायता कर रहा था। एक दंगाई द्वारा पंड़ित मॉशाइ की पत्नी द्वारा पूछे जाने पर कि उसने उन लोगों का क्या बिगाड़ा है ? दंगाई का उत्तर स्पष्ट है, “तुमने नहीं बिगाड़ा है, तुम्हारे धर्म ने बिगाड़ा है।”[13] हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान में कुछ इस कदर भयभीत थे कि उन्हें वेश बदलकर मुसलमानों की तरह रहना पड़ता था ताकि कोई अचानक उनपर हमला न कर बैठे। अपनी महत्वाकांक्षा के लिए अयूब खान ने कश्मीर पर कब्जा जमाने के लिए भारत पर हमला कर दिया मगर उसे मुँह की खानी पड़ी जिसका खामियाज़ा भी पश्चिमी पाकिस्तान के हिन्दुओं को चुकाना पड़ रहा था। इस तरह सांप्रदायिकता का विष धीरे-धीरे समाज को अपंग बना रहा था। साधारण व्यक्ति धर्मोन्माद में कुछ समझ नहीं पा रहा था और लगातार जानवर बनता जा रहा था।

सन् **2006** में मोहम्मद आरिफ ने अपने उपन्यास **'उपयात्रा'** के साथ हिन्दी साहित्य के धरातल पर दस्तक दी। इस उपन्यास में बाबरी मस्जिद के ध्वंश के दो दिन पहले से लेकर उसके एक दिन अर्थात् कुल मिलाकर तीन दिन की कथा को और घटनाओं का चित्रण किया है। इस उपन्यास में मो. आरिफ ने फरीद और उसके परिवार की कथा के द्वारा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार **6** दिसंबर के पहले से समाज में जहर घोला जा रहा था। वे लोग जो हुसैनपुरा में बसे हुए थे कारसेवकों के गगनभेदी नारों से भयभीत हो गये थे। कुछ लोग घर-बार छोड़ कर जाने को विवश थे। लेखक ने बड़ी ही तन्मयता के साथ यह दर्शाने का प्रयास किया है कि हुसैनपुरा में बसनेवाले मुसलमान जिस रूप में ईद-बकरीद में जश्न मानते थे, रामनवमी भी उसी प्रकार मानते थे। रामायण, महाभारत के लिए हर रविवार को घर का काम-काज छोड़कर टेलीविजन के सामने बैठ जाते थे। वनवास से लौटने के बाद जब राम अयोध्या वापस आये तो हुसैनपुरा के मुसलमानों ने भी 'सियावर रामचन्द्र की जय' का नारा लगाया था। हर रामनवमी को फरीद के बाबा लोगों को भोजन कराते थे। उसी हुसैनपुरा में लोग दहशत में थे कि कहीं उनकी मस्जिद भी खतरे मे तो नहीं। मानवीय मूल्यों को धक्का तब लगता है जब फरीद के बाबा पास के गांव से हथियारों की मदद लेने जाते हैं। यह परिस्थितिजन्य किया गया कार्य था लेकिन दिलों में विभाजन तो हो ही गया।

सन् **2007** में व्यास मिश्र का पहला उपन्यास **'अगिन पाथर'** प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर भारत की हिंदू-मुस्लिम समस्या पर विचार किया है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार अफवाहों के द्वारा दोनों समुदायों के बीच एक-दूसरे के लिए घृणा पैदा करने की कोशिश की जाती है। सांप्रदायिक दंगों की आड़ में किस प्रकार आपराधिक तत्व भी हीरो बन जाते हैं। दंगों के दौरान इन आपराधिक तत्वों को भी सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। वहीं वोट की राजनीति के चक्कर में नेतागण भी

अपने स्वार्थ साधते इस उपन्यास में नजर आते हैं। बाबरी मस्जिद ध्वंश के पश्चात जिस प्रकार का सांप्रदायिक तांडव इस देश में हुआ है उसपर लेखक अफसोस जाहिर करता हुआ नजर आता है। कोयला खदानों के क्षेत्र को इस उपन्यास की कथा भूमि के रूप में रखा गया है। स्वाधीन भारत में सांप्रदायिक शक्तियों की लगातार बढ़ती प्रसिद्धि और सामाजिक स्वीकृति पर लेखक ने गहरी चिंता व्यक्त की है।

समकालीन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता की समस्या को शिद्दत से महसूस किया है। इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार करते हुए यह दिखलाया है कि देश में सांप्रदायिक समस्या अपने पैर जमा न पाती अगर सभी धर्मों के अनुयायियों ने आपसी सौहार्द और विश्वास को बनाये रखा होता। समकालीन उपन्यासकार उसी समाज की उपज हैं जिस समाज का चित्रण इन्होंने अपने उपन्यासों में किया है। इसी कारण समाज में मौजूद तमाम कुरीतियों, आडम्बरों, मिथ्या परम्पराओं का चित्रण भी किया है और उनका मखौल भी उड़ाया है। कहीं न कहीं समाज में हो रहे विभाजन ने इनके अंतस् को बुरी तरह से झकझोर दिया, जिसका प्रतिफलन इन के उपन्यास में देखा जा सकता है। बचपन के साथी, घर-बार, परिवेश और फिर अचानक उसे छोड़ने का दर्द, उससे बिछड़ने की पीड़ा इनके उपन्यासों में देखी जा सकती है। समग्रत: विभाजन की पीड़ा का मार्मिक चित्रण समकालीन उपन्यास में किया गया है।

## 3.2. समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिक तत्वों की खोज एवं पहचान

हिंदी साहित्य के समकालीन उपन्यासकारों ने विभाजित समाज का चित्रण करने के साथ-साथ उन तत्वों की खोज करने का भी प्रयास किया है जो समाज में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करते हैं। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर समाज में विभाजन खड़ा करने का प्रयास किया जाता रहा है। भारतीय समाज में

स्वाधीनता के पूर्व और स्वाधीनता के बाद इन तत्वों के आधार पर विभाजन के बीज बोये गये। समकालीन कथाकारों ने यह बात शिद्दत से महसूस की है कि आजादी के बाद एवं पाकिस्तान के अस्तित्व में आ जाने के बाद भी सांप्रदायिक वैमनस्य में कोई कमी नहीं आयी। इसमें लगातार बढ़ोत्तरी ही होती गई। अंग्रेजों की 'फूट डालो, शासन करो' की नीति को देश के कर्णधारों ने भी अपना लिया और सांप्रदायिक वैमनस्य देखते-देखते समाज के एक वृहद वर्ग को लील लेने के लिए तैयार हो गया। एक ओर मुसलमानों को विभाजन के दौरान भयानक हिंसा का शिकार होना पड़ा वहीं दूसरी ओर पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के सम्मुख भी जीविका का प्रश्न था इस रूप में समाज में आर्थिक आधार पर भी संघर्ष देखने को मिला। आज के दौर में उग्र हिंदुत्ववादी शक्तियाँ खड़ी ही नहीं हुई हैं बल्कि बड़े जोरों से अपने पैर भी जमा चुकी हैं। इन सांप्रदायिक शक्तियों से लोहा लेना भी आसान नहीं क्योंकि ये पुनरुत्थानवाद का मुखौटा पहनाकर समाज में ज़हर घोल रहे हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने इस स्थिति को चित्रित करते हुए अपने विचार स्पष्ट किए हैं।

समकालीन उपन्यास पर अगर विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि उपन्यासकारों ने मुख्य रूप से तीन स्थितियों के माध्यम से सांप्रदायिक समस्या पर विचार किया है। पहली स्थिति के अन्तर्गत ऐसे उपन्यास देखे जा सकते हैं जिनमें स्वाधीनता के पूर्व यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि कैसे भारतीय समाज में समरसता विद्यमान थी। कहीं भी सांप्रदायिक विचारों का लेश मात्र भी न था। पाकिस्तान की माँग रखने के साथ-साथ समाज में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार होने लगा और हिन्दू राष्ट्रवादी एवं मुस्लिम राष्ट्रवादियों ने एक-दूसरे के खिलाफ विषवमन करना प्रारम्भ कर दिया। मौके का फायदा औपनिवेशिक शासकों ने भी जमकर उठाया एवं सांप्रदायिक आधार पर लिये गये किसी भी निर्णय एवं माँग को स्वीकार कर लिया, उन सभी माँगों को सिरे से खारिज कर दिया जिनके

द्वारा समाज में समरसता का संचार हो पाता। औपनिवेशिक शासकों ने जान-बूझकर दोनों जातियों को लड़ाने का प्रयास किया जिसमें उन्हें जबरदस्त सफलता मिली। समकालीन उपन्यासकारों ने औपनिवेशिक शासकों के इन कुचक्रों का खुलकर वर्णन किया एवं समाज में मौजूद विभाजनकारी तत्वों से भारतीय जनता को अवगत कराया।

दूसरी स्थिति के अन्तर्गत उन उपन्यासों को रखा जा सकता है जिनमें विभाजन के उपरान्त भारत में रहनेवाले मुसलमानों का चित्रण किया गया है। इन मुसलमानों की दुर्दशा और उसके विश्लेषण के माध्यम से लेखकों ने धर्म, परंपरा, अंधधार्मिकता, कट्टरतावाद जैसे मामलों पर भी विचार किया है। विभाजन के उपरान्त मुसलमानों की स्थिति, पाकिस्तान के प्रति उनका मोहभंग, वापस अपनी मिट्टी, अपनी ज़मीन से न जुड़ पाने का दर्द, अपनों से बिछुड़ने का दर्द शामिल नज़र आता है। तीसरी स्थिति में उन उपन्यासों को देख सकते हैं जिनमें उग्र-सांप्रदायिकता का चित्रण समकालीन उपन्यासकारों ने किया है। देश में बढ़ती हुई सांप्रदायिक समस्या का चित्रण किया गया है जिसमें मुख्यत: हिंदुत्ववादी संगठनों ने भूमिका अदा की है। साथ ही उन तत्वों को भी उभारा गया है जो अपनी गंदी राजनीति एवं निजी आर्थिक लाभ पाने के लिए सांप्रदायिक विचारों को हवा देने का काम करते हैं। कुछ उपन्यास इन स्थितियों में से किसी एक स्थिति पर जोर देते हैं तो कुछ उपन्यास इन स्थितियों को एक साथ चित्रित करते नज़र आते हैं। समग्रत: ये उपन्यास सांप्रदायिक तत्वों की खोज एवं इनकी पहचान की दिशा में तत्पर दिखते हैं।

स्वाधीनता के दौर में सांप्रदायिक समस्या प्रमुख रूप से राष्ट्रवाद की खोल पहनकर भारतीयों के सामने आयी। इस दौर में अलग राष्ट्र की माँग मुस्लिम लीग ने रखी और उसके पक्ष में कई मनगढ़न्त दलीलें दी। मुस्लिम लीग के कार्यकर्त्ताओं ने घूम-घूमकर गाँवों, शहरों, कस्बों में प्रचार करना आरंभ किया और पाकिस्तान की माँग पर आम सहमति बनाने

की कोशिश भी की। मगर गाँवों में रहनेवाले साधारण ग्रामीण को पाकिस्तान बनने-न बनने से कोई मतलब न था लेकिन धीरे-धीरे उनमें भी यह भावना आने लगी। वह गाँव जो साझी संस्कृति का प्रतीक था, एक समय के बाद बँट गया। इसे **'आधा गाँव'**, **'तमस'**, **'मैं बोरिशाइल्ला'**, **'काले कोस'**, **'अलग-अलग वैतरणी'**, **'जिंदगीनामा'**, **'और इंसान मर गया'** आदि उपन्यासों में इसे देखा जा सकता है। **'आधा गाँव'** उपन्यास का पात्र कम्मो जो तर्क देता है उसके सामने अलीगढ़ के पढ़े-लिखे नौजवानों की भी बोलती बंद हो जाती है। ये नौजवान मुस्लिम लीग के नेताओं को चुनाव में वोट देने के लिए कहते हैं और तर्क देते हैं कि यदि मुस्लिम लीग जीत गयी तो भारत में ही पाकिस्तान बनेगा। वे मुसलमानों को समझाते हैं कि अगर पाकिस्तान न बना तो हिन्दुस्तान में रहनेवाले आठ करोड़ मुसलमानों के साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया जाएगा। तब कम्मो पूछता है-

> " ए भई, हम्में त अइसा लग रहा कि आप लोगन का पढ़ लिखा सब बेकार भया। काहे मारे कि आप लोगन के त ई हो ना मालुम की भंगी-चमार अछूत होते हैं। हम कउनों भंगी-चमार हैं ? अ जो अछूत होइबे ना करीहे ओको कोई अछूत कईसे बना दीहे साहब ? तुम्ही बताव तनी हमहूँ सुने।" वह आगे कहता है- "हम ई सब ना मान सकते साहब ! हिन्दुस्तान के आजाद होवे के बाद ई गयवा अहीर, ई छिकुरिया या लखना चमार या ई हरिया बढ़ई हमारे दुश्मन काहे को हो जइहें, यानी बिल वजहे ? हुआँ इहे सब पढ़ते हैं आप लोग का" इस पर चुनाव प्रचार करने आया एक नौजवान कहता है- "इस वक्त आपकी समझ में यह भले ही न आये, लेकिन होगा यही। हमारी मस्जिदों में गायें बाँधी जायेंगी।" इस पर कम्मों तर्क देते हुए कहता है- "ए साहब जब मुसलमान लोग पाकिस्तान जईहें त फिर मस्जिद में घोड़ा

बाँधे चाहे गाय। का फरक पड़िहें ? अब हिन्दुआ सब ओमें जाके नमाज त पढ़े से रहे। अच्छी जबरदस्ती है हम त जायेंगे पाकिस्तान अ हिन्दू अगोरे हमरी मस्जिद।"[14]

कम्मो के टके से जवाब के सम्मुख नौजवान चुप हो जाते हैं और वहाँ से नौ-दो ग्यारह होने में ही अपनी भलाई समझते हैं।

समकालीन उपन्यासकारों ने औपनिवेशिक शासकों के कुचक्रों का पर्दाफाश अपने उपन्यासों में करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि अंग्रेजों ने जान-बूझकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य के बीज बोये। धर्म और भाषा के नाम पर दोनों कौमों को लड़ाया। इसका बेहतरीन उदाहरण भीष्म साहनी के उपन्यास **'तमस'** में देखा जा सकता है। अंग्रेज हुक्मरान के इशारे पर म्यूनिसिपल कमेटी के कारिन्दे मुराद अली द्वारा सूअर मारकर मस्जिद की सीढ़ियों पर फेंकने के लिए नत्थु को मजबूर किया जाता है। इधर हर सुबह की भाँति हिन्दुओं का दल शांति यात्रा के लिए प्रभात फेरी ले कर निकलता है। मस्जिद की सीढ़ियों पर मरे हुए सूअर को देखकर मुसलमानों का खून खौल उठता है और फिर अविश्वास, आशंका और घृणा का दौर शुरू हो जाता है। मुसलमान प्रतिशोध लेने के लिए गो-हत्या पर आमादा हो जाते हैं, बिना यह जाने कि आखिर इस कृत्य के पीछे किसका हाथ है। धीरे-धीरे यह धर्मोन्माद का रूप धारण कर लेता है और फिर हत्या, बलात्कार और आगजनी का वह दौर शुरू हो जाता है जिससे मानवता शर्मसार हो जाती है। इधर अंग्रेज हुक्मरान इन दंगों को रोकने के लिए कुछ भी नहीं करते बस हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। बलवन्त सिंह के उपन्यास **'काले कोस'** में भी अंग्रेज हुक्मरानों को सांप्रदायिक वैमनस्य फैलाने का दोषी माना गया है। उपन्यास के पात्र सूरत सिंह के संवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक पूँजीवादी व्यवस्था को इसके लिए दोषी मानता है। अंग्रेज अपने फायदों के लिए भारतीयों को लड़ाते हैं।

कमलेश्वर के उपन्यास **'लौटे हुए मुसाफिर'** में भी इसे देखा जा सकता है। कमलेश्वर ने बस्ती में बढ़ती हुई सांप्रदायिक भावना के कारणों की तलाश **1857** के गदर के बाद से की है। यह वह समय था जब देश में सांप्रदायिकता नाम की किसी चिड़िया का अता-पता तक न था। गदर में हिंदू-मुस्लिम एकता देखकर अंग्रेज घबरा चुके थे और उन्हें अपना सिंहासन डोलता नजर आ रहा था। इसलिए उन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना में मदद की जिसने यह प्रचार करना आरंभ किया कि हिन्दुस्तान में मौजूद दो मुख्य धर्मों के बीच कोई भी समानता नहीं अतएव इन दोनों को अलग-अलग राष्ट्र में बाँट देना चाहिए। इस संबंध में रजनी पाम दत्त के विचार देखने योग्य हैं- " भारत की हिंदू मुसलमान जनता के दो अलग अलग लक्ष्य नहीं हो सकते और न हैं। मुसलमानों की गरीबी और गुलामी तथा हिंदुओं की गरीबी और गुलामी अलग अलग चीजें नहीं हैं बल्कि वे समूचे भारत की गरीबी और गुलामी हैं। भारत के हजारों लाखों गांव में हिंदुओं और मुसलमानों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा एक जैसी जमींदारी प्रथा के बोझ के नीचे पिस रहा है, एक जैसे सूदखोर महाजनों की लूट का शिकार हो रहा है, एक जैसे साम्राज्यवाद के दमन का शिकार हो रहा है और इन दोनों वर्गों के बीच फूट डालने की कोशिशें वस्तुत: शोषण की इस व्यवस्था को बरकरार रखने की कोशिशें हैं।"[15] कमलेश्वर ने मुख्य रूप से यही दिखलाने का प्रयास अपने उपन्यास **'लौटे हुए मुसाफिर'** में किया है। वे दिखलाते हैं कि एक समय था जब बस्ती में आपसी भाई-चारा हुआ करता था लेकिन उन बस्तियों में अंग्रेजों के कार्यालय जैसे ही खुले कि लोगों में फूट पड़ने लगी। उपन्यास में यासिन जैसे पात्रों की भी सृष्टि की गयी है जो लोगों को झूठे सब्जबाग दिखाकर उन्हें हवाई जहाज में पाकिस्तान ले जाने के सपने दिखाकर पाकिस्तान एवं मुस्लिम लीग का समर्थन करने को कहता है। विभाजन के बाद हुए मोहभंग का चित्रण लेखक ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है।

मुसलमानों को आततायी, नृशंस एवं क्रूर दिखाने का कुचक्र रचा और हिंदुओं की भावनाओं को भड़काया वहीं मुसलमानों की दुर्दशा के लिए हिंदुओं को दोषी करार देकर आपस में वैमनस्य खड़ा किया। इस कुचक्र का चित्रण राही मासूम रज़ा के उपन्यास **'टोपी शुक्ला'** में देखने को मिलता है। जहाँ उपन्यास का पात्र टोपी शुक्ला राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आता है और तब उसे यह बताया जाता है कि कैसे मुसलमानों ने इस देश का सत्यानाश किया। भड़कानेवाले उससे यह भी कहते हैं कि इस देश का तब तक उद्धार नहीं हो सकता जब तक इस देश से मुसलमानों को खदेड़ नहीं दिया जाता और टोपी के मन में भी घृणा के बीज पड़ जाते हैं। दूसरी ओर इफ्फन की भी कमोबेश यही स्थिति थी। एक ओर जहाँ टोपी शुक्ला को यह महसूस होता है कि मुसलमान होने के कारण वहीद कक्षा में प्रथम हुआ है वहीं इफ्फन को यह लगता है कि मुसलमान होने के कारण मास्टर जी ने उसे जोर से थप्पड़ मारा जबकि लक्ष्मण को अपेक्षाकृत धीमे मारा गया क्योंकि वह हिन्दू है।

बचपन से ही भारतीय परिवारों में हिन्दू और मुस्लिम के बीच विभेद की बातें भर दी जाती हैं। इसे राही के उपन्यास **'आधा गाँव'** में भी दिखाया गया है और **'टोपी शुक्ला'** उपन्यास में भी इसकी झलक देखने को मिल जाती है। यह पता चलने पर कि टोपी शुक्ला की मित्रता एक मुसलमान बालक इफ्फन से है, घर में जबरदस्त मरम्मत टोपी शुक्ला की की जाती है। आजादी के बाद भारत में रहनेवाले मुसलमानों को शक की निगाहों से देखा जाने लगा। यह दर्द भी राही के उपन्यासों में खुलकर उभरा है। वे बार-बार इस प्रश्न पर मंथन करते हुए नज़र आते हैं कि आखिर मुसलमानों को शक की निगाहों से क्यों देखा जाता है और क्यों मुसलमान हिंदू से ड़रता है। हर उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में मुसलमानों द्वारा पाकिस्तान की माँग को समर्थन देने के निर्णय को ऐतिहासिक भूल करार दिया। इसलिए कई उपन्यासकारों ने पाकिस्तान के निर्माण के बाद वहाँ गये मुसलमानों की या तो दयनीय

दशा का चित्रण किया है या फिर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पाकिस्तान जाने के बाद उन पात्रों का मोहभंग हो गया है और अब वे लौटना चाहते हैं लेकिन लौट भी नहीं पाते। **'छाको की वापसी'**, **'लौटे हुए मुसाफिर'** जैसे उपन्यास इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। कुछ उपन्यासकारों ने तो धार्मिक आधार पर बने पाकिस्तान से भाषायी आधार पर अलग हुए बांग्लादेश पर अपनी खुशी भी जाहिर कर दी थी। राही ने अपने मित्र डॉ. कुँवरपाल सिंह को लिखे एक पत्र में मुक्ति संग्राम पर अपनी खुशी जाहिर करते हुए लिखा- " देखना कि पाकिस्तान के उर्दू भाषी लोग भी अलग राष्ट्र की माँग करेंगे और ये कहेंगे कि हम पाकिस्तान की पाँचवीं राष्ट्रीयता हैं। इतिहास सबको सबक सिखाता है और पाकिस्तान के उर्दू भाषी लोग जिन्होंने राष्ट्रीयता और धर्म का घालमेल किया, अपने ही बनाए हुए 'स्वर्ग' में अजनबी शरणार्थियों की तरह रहेंगे।"[16] राही की उपरोक्त प्रतिक्रिया से यह बात स्पष्ट है कि पाकिस्तान की माँग के न तो वे समर्थक थे और न ही पाकिस्तान बन जाने के बाद वे खुश थे। **'दिल एक सादा कागज'** उपन्यास में संस्कृति के इन्हीं सवालों पर राही चिंतन करते हुए नज़र आते हैं।

सांप्रदायिकता का एक आर्थिक पहलू भी है। परवर्ती शोधों से यह पता चला कि सांप्रदायिक विचारधारा की चपेट में बेरोज़गार युवक बड़ी ही जल्दी आ जाते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा फैलानेवाले लोग बेरोज़गार युवकों को यह झांसा देते हैं कि उनकी इस दुरावस्था का कारण दूसरे लोग हैं। स्वाधीनता के पहले मुस्लिम लीग और औपनिवेशिक शासन ने भी ऐसे ही विचारों का प्रसार किया। स्वाधीनता के बाद भी यह नज़ारा देखने को मिला और अब हिन्दुत्ववादी ताकतें भी ऐसे ही विचारों के माध्यम से नौजवानों में विष घोलने का काम कर रही हैं। बार-बार ये हिंदुत्ववादी ताकतें यह प्रचार कर रही हैं कि मुसलमानों की विशाल आबादी के कारण देश में भुखमरी, बेरोजगारी आदि समस्याएं बढ़ रही हैं। देश के

संसाधनों का सर्वाधिक अपव्यय उनके द्वारा हो रहा है। ऐसे विचारों ने कहीं न कहीं हिन्दू मानस में मुसलमानों के लिए घृणा का संचार किया है। **'टोपी शुक्ला'**, **'और इंसान मर गया'** जैसे उपन्यासों में इसे देखा जा सकता है।

बलवन्त सिंह के उपन्यास **'काले कोस'** में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार देश भर में घटी घटनाओं से अफवाह फैलने लगती है और आपसी वैमनस्य का बीज गाँव के लोगों के बीच अँकुर लेने लगता है। अफवाहों का भी सांप्रदायिक उन्माद से गहरा रिश्ता है जिसका चित्रण समकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास में किया है। **'तमस'**, **'आधा गाँव'**, **'हमारा शहर उस बरस'**, **'सती मैया का चौरा'** आदि उपन्यासों में इसे देखा जा सकता है। अफवाहों के माध्यम से सांप्रदायिक ताकतें लोगों के मन में भय, घृणा, शंका और अविश्वास का संचार करती हैं और लोगों को प्रतिशोध लेने के लिए भी भड़काती हैं। हर कार्य का हवाला देकर जिसमें मुसलमानों का भला हो रहा हो, हिंदुओं को भड़काया जा सकता है और इसी प्रकार मुसलमानों को भी हिंदुओं के खिलाफ भड़काया जा सकता है। **'सती मैया का चौरा'** उपन्यास में इसे देखा जा सकता है जब उपन्यास का मुसलमान पात्र मन्ने हिंदी में परिक्षा देना चाहता है तो हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में खलबली मच जाती है। मुसलमानों की चिंता यह है कि अब मन्ने काफिर हो जायेगा, जबकि हिंदुओं की चिंता यह है कि मन्ने को हिन्दू लड़की मुन्नी के खिलाफ खड़ा किया गया है। छमाही परिक्षा में जब मन्ने अपनी प्रतिभा के दम पर अव्वल आ जाता है तो सांप्रदायिक ताकतें खुले आम हेडमास्टर पर हमला कर देती हैं। परिणामस्वरूप सालाना परिक्षा में हिंदू लड़का कैलाश अव्वल होता है। मन्ने की प्रतिभा और योग्यता सांप्रदायिक शक्तियों से हार जाती हैं।

बांग्लादेश के निर्माण ने यह बात गलत साबित कर दी कि धर्म के नाम पर किसी देश का विभाजन नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा निर्णय लिया जाता है तो यह

गलत निर्णय है। नासिरा शर्मा के उपन्यास **'जिन्दा मुहावरे'** में इसे देखा जा सकता है। परिवारवालों के विरोध के बावजूद निजाम पाकिस्तान चला जाता है। अपनी मेहनत के बल पर वह सम्पन्न तो बन जाता है लेकिन फिर भी उसके मन में कहीं न कहीं अकेलापन है जो उसे कचोटता रहता है। जब वह भारत आता है तो परिवारवाले तो बड़ी सहृदयता से उससे मिलते हैं लेकिन उसका बचपन का दोस्त बदल चुका है। तब निजाम यह महसूस करता है कि धर्म और सम्प्रदाय की राजनीति ने लोगों के मन में जहर घोल दिया है।[17] इस उपन्यास में मुसलमान युवकों की उस मानसिकता का अंकन किया गया है जिसके कारण वे पाकिस्तान जाना ही अपना अंतिम लक्ष्य मान चुके हैं।

राजनीति में जिस रूप से धर्म और अपराध का घाल-मेल हुआ है इसका चित्रण भी समकालीन लेखकों ने अपने उपन्यासों में किया है। मंजूर एहतेशाम के उपन्यास **'सूखा बरगद'** और गीतांजली श्री के उपन्यास **'हमारा शहर उस बरस'** उपन्यास में इसे दर्शाया गया है। आजादी के बाद से ही देश के नेताओं ने अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति का अनुसरण किया जिस कारण सांप्रदायिक वैमनस्य घटने के बजाय बढ़ता ही गया। एक ओर कांग्रेस पार्टी है जिसने आजादी के बाद से ही अल्पसंख्यकों की पार्टी होने का दावा किया और हर बार इसी आधार पर वोट बटोरे। मुस्लिम तुष्टिकरण के तहत शाहबानों का मामला किसी से छुपा नहीं है। अल्पसंख्यकों के सुधार को लेकर जितनी ही बातें क्यों न की हो, लेकिन वास्तविकता यह है कि अल्पसंख्यकों के उद्धार के लिए कांग्रेस ने कुछ भी नहीं किया। अल्पसंख्यकों के सुधार के नाम पर जिन नीतियों को लागू किया जा रहा है उनसे सांप्रदायिक वैमनस्य घटने की जगह और भी बढ़ेगा। दूसरी ओर भाजपा, शिवसेना जैसी राजनीतिक पार्टियां हैं जो हिंदू धर्म के रक्षक बनकर खड़ी हैं। इन दलों ने विहिप, बजरंग दल जैसे धार्मिक दलों के साथ हाथ मिला रखा है। ये दल चुनाव के समय हिंदू भावनाओं को

भड़काकर वोट बटोरते हैं और लोगों में दहशत का माहौल खड़ा करते हैं। देश की सर्वोच्च अदालत में हलफनामा देने के बावजूद कि बाबरी मस्जिद को कोई नुकसान न होगा, मस्जिद ढ़हा दी गई। 'रामलला हम आएंगे, मंदिर वहीं बनायेंगे' और 'बजरंग बली की जै' के नारे लगाकर मस्जिद को तोड़ ड़ाला गया। प्रदेश की सरकार मूक दर्शक बनी रही और देखते ही देखते पूरे देश में दंगे फैल गये। गुजरात में भी सन् **2002** में भीषण दंगे हुए और पुन: प्रदेश सरकार ने दंगाइयों को पूरी शैह दी।

**'सूखा बरगद'** उपन्यास का पात्र 'अब्बू' न तो पाकिस्तान का समर्थक है और न पाकिस्तान बनने के बाद वहाँ जाता है लेकिन आजीवन अब्बू को सांप्रदायिक शक्तियों का सामना करना पड़ता है। लेखक ने इस उपन्यास में मुसलमानों की दुर्दशा के कारणों, हुकूमत द्वारा उनका राजनीतिक दुरुपयोग, उनकी स्थिति में सुधार होने के बजाय उनकी बिगड़ती स्थिति के पीछे मौजूद सरकारी तंत्र का भी खुलासा किया है। **'हमारा शहर उस बरस'** उपन्यास में सांप्रदायिकता की समस्या को बिल्कुल अलग ढ़ंग से उठाया गया है। लेखिका ने इस उपन्यास में देश के तथाकथित बुद्धिजीवियों की दोहरी मानसिकता को बेनकाब किया है। भारत में सांप्रदायिक विचारधारा अपने कदम मजबूती से न जमा पाती अगर देश के बुद्धिजीवियों ने अपनी भूमिका का निर्वाह निष्पक्ष होकर किया होता। अपने राजनीतिक सरोकारों एवं उनसे हासिल होनेवाले लाभों के कारण बुद्धिजीवियों ने उन दलों का या उनके द्वारा फैलाये जा रहे विचारों का विरोध न किया जो सांप्रदायिकता की समस्या को बढ़ावा देते हैं।

मो. आरिफ ने अपने उपन्यास **'उपयात्रा'** में बाबरी मस्जिद ध्वंश और उसके बाद के विषाक्त वातावरण का चित्रण किया है। इस उपन्यास में लेखक ने प्रशासन, विभिन्न राजनीतिक दल, धार्मिक उन्माद में पागल हो रहे लोगों को सांप्रदायिक वैमनस्य का जिम्मेदार

माना है। हुसैनपुरा इलाके के इंस्पेक्टर त्रिपाठी भी मुसलमानों को ढ़ाढ़स बँधाने की जगह भयभीत ही करते हैं। उपन्यास में साफ-साफ कई स्थलों पर तत्कालीन प्रदेश सरकार एवं केंद्र सरकार को बाबरी मस्जिद के ध्वंश का जिम्मेदार माना गया है। बाबरी मस्जिद के ध्वंश के लिए वहाँ की पुलिस भी जिम्मेदार कम न थी। दूसरे भाजपा के शीर्ष नेतागण थे, जिनका रवैया इस पूरे प्रकरण के दौरान गैर-जिम्मेदाराना था। तीसरे दोषी वे लोग थे जिन्होंने बिना सोचे-समझे मस्जिद का ध्वंश किया और वर्षों के साझे इतिहास पर कालिख पोत दी। लेखक ने उपन्यास के मुख्य पात्र फरीद के स्वप्न में बाबर को लाकर बड़े ही तार्किक ढ़ंग से राममंदिर पर मस्जिद बनवाने जैसी बात का खंडन किया है। ऐसा ही एक प्रयास कमलेश्वर ने **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में किया है जहाँ बाबर को अदीब की अदालत में बुलाया जाता है। इस रूप में इन दोनों लेखकों का यह प्रयास स्तुत्य है। शायद इन लेखकों के द्वारा जिस तार्किकता से इस बात का खंडन किया गया कि बाबर ने राममंदिर को तुड़वाकर मस्जिद का निर्माण कराया था, वे दल जो इसका प्रचार कर समाज में विष घोल रहे हैं, बगले झांकते नज़र आयेंगे।

**'अगिन पाथर'** उपन्यास में उपन्यासकार ने बाबरी मस्जिद ध्वंश के पश्चात मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच उपजे विभेद को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। इस उपन्यास में लेखक ने यह दिखलाया है कि किस प्रकार दंगों के दौरान अवसरवादियों की बांछें खिल उठती हैं। सबसे पहले इसका फायदा उन असामाजिक तत्वों को होता है जो इन दंगों की आड़ में अपने दुश्मनों पर निशाना साध पाते हैं। इस दौरान इन असामाजिक तत्वों को सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। दूसरा फायदा होता है राजनीति के अवसरवादियों को जो वोट की राजनीति के खातिर समाज में विषवमन करते रहते हैं। तीसरा फायदा लेने के लिए समाचार पत्र तैयार रहते हैं। जनतंत्र के सजग प्रहरी होने का दावा करनेवाले ये समाचार

पत्र खबरों में मिर्च-मसाला लगाकर पेश करते हैं ताकि उनका समाचार पत्र खूब बिके। इस कुकृत्य के दौरान वे यह भी भूल जाते हैं कि उनका सामाजिक दायित्व क्या है। इस उपन्यास में प्रशासन और पुलिस की निष्पक्षता पर भी सवाल खड़े किये गये हैं। पहले भी यह कहा गया है कि सांप्रदायिक दंगों के दौरान पुलिस एवं प्रशासन भी एक खास संप्रदाय के लोगों को प्रश्रय देती है। इन दंगों के दौरान जिन-जिन तत्वों की भूमिका संदेहास्पद है, लेखक ने उन सभी के चेहरों को बेनकाब किया है।

समकालीन लेखकों ने सांप्रदायिक विचारधारा के प्रसार के लिए सबसे ज्यादा दोषी मध्यवर्ग को माना है। उच्चवर्ग में सांप्रदायिक समस्या नहीं के बराबर है। उच्चवर्ग अपने स्वार्थ के लिए दुश्मन को भी गले लगाने के लिए तैयार रहता है। धर्म की न तो कोई बंदिश उनपर लागू की जा सकती है और न ही वे धर्म की परवाह करते हैं। अगर उन्हें किसी चीज की परवाह है तो वह है धन। धनोपार्जन के लिए ये किसी भी धर्म के व्यक्ति के साथ संबंध जोड़ सकते हैं। निम्नवर्ग को भी धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है दो वक्त की रोटी का जुगाड़ लगाना। यही उसका पहला और अंतिम धर्म है। सांप्रदायिक समस्या होने पर सर्वाधिक प्रभावित भी यही वर्ग होता है क्योंकि पेट की खातिर उसे घर से बाहर निकलना ही पड़ता है। ऐसे में सांप्रदायिक समस्या उसके लिए किसी बड़ी विपदा से कम नहीं होती। मध्यवर्ग अपनी खोखली, मरणासन्न एवं दकियानूसी विचारों से जुड़ा हुआ है। धर्म के जाल में मध्यवर्ग ही सर्वाधिक फँसा हुआ है। धर्म के नाम पर सर्वाधिक दोहन इसी वर्ग का होता है।

भारतीय मध्यवर्ग की विडंबना यह है कि वह किसी बौद्धिक क्रांति से होकर नहीं गुजरा, यह वर्ग केवल औद्योगिक क्रांति के कारण पैदा हुआ था। बुद्धि का अभाव सांप्रदायिक विचारधारा के प्रसार के लिए सर्वाधिक आवश्यकता चीज थी। मध्यवर्गीय

परिवारों की विडंबना यह है कि यहाँ पढ़ने-लिखने के लिए प्रोत्साहित तो किया जाता है लेकिन स्वतन्त्र विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होता। आधुनिक विचारों के प्रति जैसे एक विरक्ति सी मध्यवर्गीय परिवारों में देखी जा सकती है। यह मध्यवर्ग आज भी बंदरिया के मृत बच्चे की भांति रूढ़ परंपराओं को गले से लगाये घूम रहा है। एक लंबे समय तक मुस्लिम समाज में आधुनिक शिक्षा के प्रति तिरस्कार का भाव था। इसलिए वे पिछड़ते गये और अपनी दुदर्शा के लिए दकियानूसी विचारों को जिम्मेदार न मानकर हिन्दुओं को इसका दोषी समझा। वहीं हिंदू परिवारों में भी स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी। वे आधुनिक शिक्षा के तो हिमायती थे लेकिन आधुनिक विचारों के नहीं। आज भी ऐसे हिंदू परिवार भारतीय समाज में मौजूद हैं जिनके घरों में अल्पसंख्यकों एवं अछूतों के लिए अलग भोजन-पानी की व्यवस्था है। आज भी मुसलमानों के लिए हिंदू 'काफिर' हैं तो हिंदुओं के लिए मुसलमान अविश्वास योग्य हैं। हिंदू परिवारों में आज भी ये किंवदंतियां प्रचलित हैं कि 'जो अपने सगे बाप-भाई के न हुए वे दूसरों के क्या होंगे', 'किसी भी जाति की लड़की से विवाह करो लेकिन मुसलमान लड़की से नहीं'। आपसी वैमनस्य के बीज परिवारों से ही बच्चों के मन में ड़ाल दिये जाते हैं। जब तक दोनों धर्मो के लोग ऐसे घृणित विचारों से आनेवाली नस्लों में विष घोलते रहेंगे तब तक सांप्रदायिक समस्या का हल नहीं निकाला जा सकता।

**'तमस'**, **'आधा गांव'**, **'टोपी शुक्ला'**, **'नीलू नीलिमा नीलोफ़र'**, **'हमारा शहर उस बरस'**, **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'**, **'उपयात्रा'**, **'सुक्खम दुक्खम'**, **'सूखा बरगद'**, **'जिन्दा मुहावरे'**, **'मैं बोरिशाइल्ला'** आदि सभी उपन्यासों में इसी मध्यवर्गीय मानसिकता को सांप्रदायिक समस्या के लिए जिम्मेदार माना गया है। लेखकों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि जब तक ये मध्ययुगीन विचार मनुष्य के भीतर मौजूद रहेंगे तब तक सांप्रदायिक विचार फैलाकर अपना उल्लू सीधा करनेवाले लोग इनका फायदा उठाते रहेंगे। जरूरी है कि इन

विचारों को यथाशीघ्र त्याग दिया जाय और देश की एकता और अखंडता को अक्षुण्ण बनाये रखा जाय। दिनकर ने **'संस्कृति के चार अध्याय'** में आर्य और द्रविड़ों के बीच बने विभेद की समाप्ति का जो सूत्र दिया, जो कारण बताये, वे सूत्र ही हिंदू-मुस्लिम समस्या के निदान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। जब आर्य भारतवर्ष में आये तो द्रविड़ों के साथ उनका भी संघर्ष हुआ लेकिन यह संघर्ष धीमे-धीमे खत्म हो गया। यह तब संभव हुआ जब आर्यों और द्रविड़ों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित हुए। दिनकर कहते हैं- " इसका एक कारण तो यह है कि एक समाज के सदस्य हो जाने पर लोगों के रीति-रिवाज, आपस में, एक-दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। दूसरे, आर्यों का उद्देश्य अन्य जातियों के सम्पर्क से बचना नहीं, बल्कि, उनके समाज में आर्य-संस्कृति का प्रचार करना था और वे लोगों की अपनी सांस्कृतिक विरासत तो बिल्कुल तोड़ना नहीं चाहते थे। अगर आर्य इस मिश्रण को रोकना भी चाहते तो, शायद रोक नहीं सकते थे। क्योंकि शादी-विवाह के द्वारा जब आर्येतर स्त्रियाँ आर्यों के घर आने लगीं, तब उनके साथ कुछ पैतृक देवता और धार्मिक रिवाज भी आर्यों के घरों में प्रवेश पा गये। इस प्रकार, आर्यों के यहाँ बहुत-से ऐसे रिवाज आ गये, जिन्हें आर्य हृदय से पसंद नहीं करते थे।"[18] समस्या यह है कि आज़ादी के साठ वर्षों के बाद रोटी का संबंध तो हिंदू-मुस्लिम के बीच बन गया है लेकिन बेटी का संबंध नहीं बन पाया है। जब तक इन मसलों पर दोनो समुदाय अपना कट्टर रवैया नहीं छोड़ते तब तक किसी प्रकार का समन्वय संभव नहीं है। उपन्यासकार भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास **'नीलू नीलिमा नीलोफर'** में इसी तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया है।

समकालीन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता की समस्या को उसकी जड़ के साथ देखने का प्रयास किया है। साथ ही इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता रूपी वट वृक्ष को सींचने वाले तत्वों से भी अपने पाठकों को अवगत कराया है। इन उपन्यासकारों ने मध्यवर्गीय

दकियानूसी विचारों पर तो प्रहार किया ही है साथ ही साथ धर्म और उसके स्वरूप, धर्म और राजनीति, राजनीति और सांप्रदायिकता, सांप्रदायिकता के आर्थिक पहलू, सांप्रदायिक वैमनस्य के अन्य कारणों का भी उल्लेख किया है। समकालीन उपन्यासकारों ने धर्म के उन्माद में पागल चरित्रों की ही सृष्टि नहीं की है बल्कि उन्होंने ऐसे क्षणों में कुछ ऐसे पात्रों का भी सृजन किया है जो धर्म और उसके दायरे को लांघकर मानवीयता के आधार पर संवेदनशील नजर आते हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक समस्या के उन पहलूओं को भी उजागर करने का प्रयास किया है जिनसे साधारण व्यक्ति लगभग बेखबर रहता है। समकालीन उपन्यासकार ऐसे सांप्रदायिक तत्वों से खबरदार रहने की हिदायत देते हैं।

## 3. 3. समकालीन हिंदी उपन्यासकारों के सांप्रदायिकता संबंधी विचार

समकालीन कथाकारों ने अपने पूववर्ती कथाकार प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल आदि कथाकारों से विरासत में यह प्रवृत्ति हासिल की है कि जब भी समाज में कोई घटना घटित होती है तो केवल कहानियों और उपन्यासों में ही नहीं, निबंधों और टिप्पणियों के माध्यम से भी अपने विचार प्रस्तुत किये जाते हैं और यथाशक्ति समाज की विघटनकारी शक्तियों पर प्रहार किया जाता है। सांप्रदायिक समस्या पर प्रेमचंद, जैनेन्द्र आदि कथाकारों ने समय-समय पर निबंधों एवं टिप्पणियों के माध्यम से विचार किया है और सांप्रदायिकता फैलानेवाले हर तत्व को आड़े हाथों लिया है। यह परंपरा स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-जगत के लेखकों में भी जीवित रही। यहाँ समकालीन लेखकों द्वारा समय-समय पर उपन्यासों के इतर लेखों एवं टिप्पणियों में सांप्रदायिकता की समस्या पर उनके विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वाधीनता के पहले यह कहा जा रहा था कि विभाजन के बाद सांप्रदायिकता की समस्या का निदान स्वयं हो जायेगा लेकिन विभाजन के तत्काल बाद जिस सांप्रदायिक तांडव से भारत एवं पाकिस्तान के लोगों का सामना हुआ उसे आज भी भुलाया नहीं जा सका

है। भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित करने के पीछे कारण यह था कि अब सांप्रदायिकता की समस्या का खात्मा करना जरूरी है। किन्तु आजाद भारत में धर्म और राजनीति की ऐसी मिली-भगत स्थापित हुई कि भारतीय समाज को एक के बाद एक सांप्रदायिक समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। कभी धर्म के नाम पर तो कभी जातीयता के नाम पर, कभी क्षेत्रीयता के नाम पर और कभी भाषा के नाम पर देश में सांप्रदायिक दैत्य खड़ा हुआ। जिसने सामाजिक सामंजस्य और एकता को धक्का पहुँचाया है।

प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता की समस्या पर गहराई से विचार किया है। सन् **1924** में प्रेमचंद **'जमाना'** पत्रिका में लिखते हैं- " रहा तबलीग का मसला। इसमें दो राय नहीं हो सकती, क्योंकि हर मज़हब को इसका काफी अख़्तियार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म का संस्कार और सिद्धान्तों का प्रचार हो। जब उसमें कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा होता है तो वह फौरन एक सियासी मामले की सूरत अख़्तियार कर लेता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गयी है जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का ख़याल धर्म से दूर हो जायेगा उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे।"[19]

समकालीन लेखकों ने धर्म और राजनीति के गंदे खेल पर लगातार प्रहार किया है। 'अभिव्यक्ति के सभी खतरे'(मुक्तिबोध) उठाते हुए समकालीन लेखकों ने अपने दायित्व का निर्वहन पूरी ईमानदारी के साथ किया है। मानवतावादी मूल्यों को संवर्द्धित करते हुए लेखकों ने हर सांप्रदायिक शक्ति पर प्रहार करना जारी रखा है। आज भी समाज कई परतों में बँटा हुआ है जबकि विभाजन का कुफल सबके सामने है लेकिन इससे कोई सीख नहीं ली गई। कथाकार विष्णु प्रभाकर की चिंता इसी बात से है। अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं-

" सच कहूं, तो विभाजन से कोई सीख नही ली गई। तब बहुत-से लोग तो भागकर आए, कई लोगों ने अपने पड़ोसियों को ही लूट लिया। शरणार्थी होकर आए अपनी ही बिरादरी के लोगों की मदद यहां के लोगों ने नहीं की। तो एक फांक पड़ गई। अब तो हालत बड़े नाजुक हैं।"[20] दरअसल सांप्रदायिक दंगों के दौरान इंसान इतना क्रूर बन जाता है कि वह यह भी भूल जाता है कि कौन अपना है और कौन पराया। उसे अगर कुछ याद रहता है तो वह है बदला। बदले की भावना साधारण मनुष्य में इस प्रकार भर दी जाती है कि वहाँ विवेक का कोई स्थान नहीं रहता। रहती है तो बस पाशविकता, हैवानियत और पागलपन।

आज के समय की सबसे मुश्किल समस्या यह है कि हर धर्म ने स्वयं को एक दायरे, एक खोह में बंद सा कर लिया है। किसी भी धर्म में आज नवीन विचारों के लिए कोई स्थान नहीं। साथ ही यह अपने अनुयायियों से भी यही अपेक्षा रखता है कि जो कहा गया है वही अंतिम सत्य है, उसी लीक पर चलना मनुष्य का धर्म है। नये विचारों के आलोक में धर्म पर विचार करना धर्म की अवज्ञा करना है। इस कट्टर विचारधारा के कारण ही समाज में सांप्रदायिकता बढ़ गई है। धर्म की इस कूपमंडूकता पर विचार प्रकट करते हुए कथाकार कमलेश्वर कहते हैं- " कोई धर्म अंतिम नहीं है। हर धर्म को अंततः मानव धर्म के सांचे में ढलना पड़ेगा और मानव-हित के लिए उसे बदलना तथा स्वयं को परिष्कृत करना होगा। अंतिम सत्य किसी एक धर्म या मजहब के पास नहीं है। हर धर्म या मजहब को पूरा होने के लिए दूसरे धर्मों से कुछ न कुछ लेना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो यह दुनिया और इसकी सभ्यता एक-दूसरे की पूरक न बनकर विरोधी ही बनी रहेंगी अपने-अपने न जाने कितनी तरह के पाकिस्तानों को जन्म देते रहेंगे, जो मनुष्य को चैन से नहीं बैढने देंगे।"[21] हर धर्म में मानवता के कल्याणकारी तत्वों का समावेश है। इसलिए जरूरी है कि हर धर्म एक-दूसरे से कुछ न कुछ ग्रहण जरूर करे तभी समाज में समरसता का संचार संभव है।

समकालीन कथाकारों में कमलेश्वर **'लौटे हुए मुसाफिर'** और **'कितने पाकिस्तान'** जैसे उपन्यासों में सांप्रदायिकता को गंभीर समस्या के रूप में चित्रित किया है। उनके द्वारा संपादित पत्रिकाएं **'सारिका'**, **'नई कहानियां'**, **'कथा-यात्रा'** तथा पत्र **'दैनिक जागरण'**, **'दैनिक भास्कर'** आदि में उन्होंने समकालीन समाज में घटनेवाली घटनाओं और समस्याओं पर संपादकीय टिप्पणियां की। सन् **1979** में कमलेश्वर ने टिप्पणी की- " यह कहना गलत है कि एक हिंदुस्तानी का धर्म दूसरे हिन्दुस्तानी के धर्म से अलग है। धर्म और मज़हब नहीं लड़ते-धर्म और मजहबों को लड़वाया जाता है और यह काम हमारी मौजूदा सियासत भी कर रही है और पिछली भी करती रही है। ... मूल झगड़ा तो इस देश का यही है कि यह देश है किसका ? जब तक हम कहते रहेंगे कि यह देश 'हमारा' है तब तक बात बनेगी नहीं-हमें यह विश्वास पैदा करना होगा कि यह देश तुम्हारा है।"[22] इतने लंबे अंतराल में भी इस देश का बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों में यह विश्वास पैदा कर पाने में असफल है कि वे इस देश के नागरिक हैं और इस देश में वे सुरक्षित भी हैं। जब तक देश के अल्पसंख्यकों में यह विश्वास पैदा नहीं किया जाता तब तक अलगाव मिट पाना मुश्किल है।

आज धर्म ने मनुष्य के विवेक पर कब्जा जमा लिया है। स्वतंत्र चिंतन का कोई स्थान नहीं है। हर व्यक्ति जो स्वतंत्र चिंतन करने की कोशिश करता है, धर्म के ठेकेदारों द्वारा विधर्मी घोषित कर दिया जाता है। धर्म के सामने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है। समकालीन कथाकार राजेंद्र यादव कहते हैं- " धर्म के खिलाफ विद्रोह से ही ज्ञान-विज्ञान अस्तित्व में आता और विकास कर पाता है। यह विद्रोह सामाजिक गतिशीलता का स्त्रोत है। मगर जहाँ सारी गतिशीलता खुदा और पैगम्बर या ईश्वर और अवतार की सेवा में लगी रही हो, वहाँ बुद्धि और विवेक इनके सेवक बनकर ही रह सकते हें। वहाँ स्वतंत्र चिंतन या बेलिहाज़ सवालीकरण (क्वैश्चनिंग) की अधिक गुंजाइश नहीं है, जहाँ सभी कुछ पहले से

तय है और सारे फैसले दूसरी दुनिया में लिये जा चुके हैं या लिए जाने हों तो व्यक्तिगत पहल की गुंजाइश कहाँ है ?"[23] फासीवादी शक्तियों का वर्चस्व जैसे-जैसे कायम होने लगा वैसे-वैसे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होने लगा है। इतना ही नहीं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी बाधित की जाने लगी है। किसी को स्वतंत्र होकर विचार करने का हक नहीं रह गया है।

अपनी इसी कूप मंडूकता के कारण धर्म विकास नहीं कर पा रहा है। मानवता के लिए उच्च्य लक्षण एवं उच्च्य आदर्शों की स्थापना हर धर्म में की गई। दूसरे शब्दों में कहें तो हर धर्म में मानवतावाद को ही प्रमुखता दी गई लेकिन आज हर धर्म अपनी मूल चेतना, मूल शिक्षा से पलट चुका है। मानवता को शर्मसार करनेवाले तमाम तत्व धर्म के अंग बन चुके हैं। एक मनुष्य के भीतर दूसरे मनुष्य के प्रति घृणा के भावों का संचार करने में धर्म की भूमिका प्रधान रही है। एक ओर धर्म ने अपने प्रचार-प्रसार के लिए आधुनिक माध्यमों का इस्तेमाल किया है वहीं वैचारिक रूप से आज भी मध्ययुग में ही धर्म बना हुआ है। धर्म की इस असंतुलित स्थिति पर विचार करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं- " धर्म का द्वंद्व यह है कि वह आधुनिकतम चीजों का इस्तेमाल करने के लिए मजबूर है, मगर विचारों में वही डेढ़-दो हजार साल पीछे के मध्ययुगीन सामंतीकाल में बने रहना चाहता है-भीषण असुरक्षा का तनाव और अपराध-बोध का दबाव उसे ऊपर से पुराने कवच-कुंडल चिपकाए रखने को मजबूर करता है, वह घिरे हुए कमजोर कुत्ते की तरह ज्यादा-से-ज्यादा आक्रामक होने के लिए अभिशप्त है-अपनी धर्म-गुफाओं में अधिक से अधिक पीछे हटते हुए..."[24]

भारतीय समाज में सांप्रदायिक विचारधारा अपने पैर जमा न पाती अगर शिक्षा के माध्यमों में गैरजिम्मेदाराना ढंग से इतिहास न पढ़ाया जाता। जिस औपनिवेशिक काल के इतिहास को आज भी पढ़ाया जाता है उससे सामाजिक समरसता तो नहीं लायी जा सकती लेकिन विभाजन जरूर लाया जा सकता है। समकालीन कथाकारों की दृष्टि यहाँ भी पड़ती

है।कथाकार एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता रमणिका गुप्ता अपनी चिंता जाहिर करते हुए कहती हैं- " शिक्षा में सांप्रदायिक घुसपैठ शुरू कर दी गई है तो इतिहास को भी तोड़ा-मरोड़ा जाने लगा है जिससे रही-सही एकता भी खत्म कर केवल धर्म के शासन का रास्ता साफ हो जाएगा।जिन्हें यह सब मंजूर न हो वे यह देश छोड़कर चले जाएं।देश छोड़ने की उम्मीद करना न तो आसान है, न ही संभव।ऐसा करने का प्रयास देश को विभाजित ही करेगा-जोड़ेगा नहीं।"[25] आज सभ्यता के जिस दौर में हम खड़े हैं निश्चित रूप से हम यह कह सकते हैं कि यदि समय रहते हमने अपनी गलतियों से नहीं सीखा तो देश कई टुकड़ों में बँट जायेगा।औपनिवेशिक शासन ने जो इतिहास भारतीयों को गढ़कर दिया उसे आज भी स्वाधीन भारत के इतिहासकार बदस्तूर दुहरा रहे हैं जिसपर राजेन्द्र यादव भी अपना क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं- " संस्कृति के नाम पर भी हमने जो कुछ लिया वह भी पश्चिमी था और साम्राज्यवादी उपनिवेशकर्ताओं ने दिया था।"[26] हिन्दुस्तानियों ने अपनी बेवकूफियों का प्रदर्शन कर औपनिवेशिक शासकों के कुचक्र को सफल होने में और भी सहायता की।

दरअसल धार्मिकता की दौड़ में आज इंसान अंधा हो गया है।अपना काम-काज छोड़कर संतों-महात्माओं के भजनों पर झूमते करोड़ो भक्तगण इसके जीवंत उदाहरण है।भारतीय संस्कृति कर्म-प्रधान रही है लेकिन इसे भुलाकर आज सभी धर्म के नाम पर मदमस्त नज़र आते हैं।धर्म के तथाकथित संरक्षक यही चाहते भी हैं।कमलेश्वर कहते हैं- " सांप्रदायिकता का मूल स्त्रोत धर्म में नहीं, अंधधार्मिकता के बहुकोणीय स्वार्थो की कोख में मौजूद है।किसी भी संप्रदाय के बहुआयामी स्वार्थ जब धर्म की अंधी व्याख्या करके संगठित होते हैं या कहें कि धर्म के नाम पर संगठित होने में उन्हें त्वरित और तात्कालिक सफलता मिलती है, कोई भी भारतीय नागरिक व्यक्ति के रूप में आंशिक सांप्रदायिक हो सकता है, पर जब उसका वह अंश-अंश संगठित होता है तब वह दैत्याकार रूप धारण करता है, इसलिए

सांप्रदायिकता व्यक्तियों में कम मिलती है, पर उन्हीं व्यक्तियों का समूह सांप्रदायिकता के बदसूरत और उग्र चेहरे में बदल जाता है।"[27] दरअसल भीड़ का अपना ही तंत्र होता है जिसपर कोई कानून, कोई नियम नहीं चलता। भीड़ के बीच दब्बू इंसान भी दिलेर बन जाता है। भीड़ का ही हिस्सा वे लोग होते हैं जिनका धर्म की रक्षा, सुरक्षा से कोई लेना-देना नहीं है बल्कि वे इस भीड़ का हिस्सा बनकर दंगों के दौरान अपने हित साधते हैं।

किसी भी धर्म में मनुष्य को यह छूट नहीं कि वयस्क हो जाने के बाद वह यह चुनाव कर सके कि वह किस धर्म को अपनायेगा और किसको नहीं। अगर ऐसा होता तो शायद पूरे संसार में नास्तिकों की संख्या सबसे ज्यादा होती। इसका कारण यह है कि हर धर्म आज मनुष्य को मनुष्य के खिलाफ लड़ना सिखा रहा है। मनुष्य होने के नाते हर मनुष्य का यह फर्ज बनता है कि वह दूसरे मनुष्य का आदर करे और यह हर धर्म के मूल में मौजूद भी है लेकिन हर उस कार्य को जिसके द्वारा धर्म का हित सधता हो जायज़ करार दिया जाता है। चाहे वह किसी की हत्या ही क्यों न हो। धर्म कुकृत्यों के मामले में लचीला भी बन जाता है बशर्ते कि कदाचारी उस धर्म का अनुयायी हो। धर्म के रखवालों ने धर्म के मूल स्वरूप के साथ मनमाने ढंग से अपने हित साधे हैं। दो धर्मावलम्बीयों को आपस में लड़ाने का सबसे ज्यादा फायदा उन्हें ही मिलता है। इसलिए कमलेश्वर कहते हैं- "...हिंदू-मुसलमान-ईसाई के इस भेद में उनके धर्मगुरु, मुल्ला और पादरी बहुत हाथ बंटाते हैं, क्योंकि जब एक मुसलमान पैदा होता है, तो मुल्लाजी को एक 'आदम' और मिलता है, ईसाई पैदा होता है तो पादरी साहब को एक 'क्रिश्चियन' और मिल जाता है। धर्म के कारखाने अपने उत्पादन को घटने नहीं देना चाहते, वे अपने उत्पादन को बिना किसी लाइसेंस के बदस्तूर जारी रखते हैं। अगर कुछ हैं, तो उनके पास सिर्फ खुदाई या ईश्वरीय लाइसेंस हैं, जिनकी मियाद इसी सदी में समाप्त हो जानी चाहिए थी। ...बहरहाल किस्सा-कोताह यह कि देश की आबादी बहुत तेजी से बढ़ती

जा रही है-यानी गरीबों की गरीबी बढ़ती जा रही है ! और इस आर्थिक गरीबी से के साथ वैचारिक गरीबी भी बढ़ती जा रही है। हमारे विचार हिंदू और मुसलमान होते जा रहे हैं।"[28] एक ओर मुसलमानों की लगातार बढ़ती आबादी से हिंदुओं में भय का माहौल व्याप्त है वहीं मुसलमान अल्पसंख्यक होने के भय के कारण अपनी आबादी बढ़ाने में लगा हुआ है। बीच-बीच में ऐसे फतवे भी धर्म के कठमुल्ले दे देते हैं जिनके अनुसार परिवार नियोजन संबंधी उपाय ईश्वर या अल्लाह की तौहीन है। ऐसे फतवे अत्यंत हास्यास्पद हैं क्योंकि परिवार नियोजन हर दंपत्ती अपने आर्थिक संसाधनों के अनुसार करती है इसमें अल्लाह की तौहीन का मसला कैसे खड़ा हो जाता है यह समझ के परे है।

दरअसल यदि किसी परिवार में कम बच्चे होंगे तो बच्चे पढ़-लिख पायेंगे। हर वस्तु को, विचार को तार्किकता के आधार पर देखेंगे, जिससे धर्म का अस्तित्व सबसे पहले खतरे में पड़ेगा। कई ऐसे परिवार मध्यवर्ग में मौजूद हैं जिनमें परिवार के युवाओं ने अन्य धर्म से अपना जीवनसाथी चुना है। ऐसे में परिवारवालों का यही सोचना है कि बच्चों को ज्यादा पढ़ाना ही शायद उनकी गलती थी। एक ओर जीवनसाथी का चुनाव जो नितान्त वैयक्तिक मसला है क्योंकि अपने जीवनसाथी के साथ अंतत: उसे ही जीवन व्यतीत करना है और जिसके साथ पढ़ने-लिखने का कोई संबंध नहीं है। संबंध है विवेक का। हर वह व्यक्ति जो मनुष्य को सबसे पहले और सबसे अंत में मनुष्य समझेगा, उसके लिए न कोई हिंदू है न कोई मुसलमान, न सिख न ईसाई। इसलिए यह जरूरी नहीं कि विवेक पढ़े-लिखे व्यक्ति के पास ही हो। अनपढ़ व्यक्ति के पाास भी यह विवेक हो सकता है। पढ़े-लिखे नौजवान भी सांप्रदायिक विचारधारा से ग्रस्त हो सकते हैं और अनपढ़ व्यक्ति में भी इंसान को इंसान की तरह देखने के गुण मौजूद हो सकते हैं। आज आतंकवादी गतिविधियों में डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर आदि

पढ़े-लिखे लोगों का होना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसलिए बड़ा परिवार धर्म के झंडाबरदारों के लिए अपने विचारों का प्रसार करने के लिए सबसे उपजाऊ स्थान है।

भारत के मुसलमानों की स्थिति एक अजीब द्वंद्व से गुजर रही है। एक ओर उनके इबादत के तीर्थ स्थल देश के बाहर हैं और हर मसले के समाधान के लिए उन्हें वहीं अपना रुख़ करना पड़ता है वहीं उनकी यह परिस्थिति उनकी राष्ट्रभक्ति को संदेह के घेरे में ले आती है। इसी कारण कई बार उन्हें हिंसा का शिकार भी होना पड़ा है। मुसलमान अपनी राष्ट्रीयता को इस्लामी अंतर्राष्ट्रीयता के साथ जोड़कर देखता है। कथाकार राजेन्द्र यादव कहते हैं-" इस सारे अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय मुसलमानों के लिए शायद यह 'रियलाइज़ेशन' (आत्मबोध) का वह निर्णायक क्षण है, जब वे अपनी 'लॉयल्टी' इस्लामी अंतर्राष्ट्रीयता पर न लटकाकर भारतीय इस्लाम पर ही लौटें। आज की स्थिति में न कोई दूसरा किसी के अंदरूनी मामलों में दखल दे सकता है, न सिर्फ धर्म के आधार पर फौजी हमले कर सकता है। सबको अपनी समस्याएँ अपने-अपने स्तर पर ही सुलझानी होती हैं। ... दुनिया-भर के फतवों और दहाड़ों के बावजूद वे सलमान रश्दी की 'शैतानी आयतों' को सभी मुस्लिम या भारत को छोड़कर दूसरे गैर-मुस्लिम देशों में प्रतिबंधित नहीं करा पाए..."[29] आज फ्रांस में बुर्का पहनने पर रोक लगा दी गई है जिसपर चाहकर भी बाहर का कोई राष्ट्र कुछ बोल नहीं पायेगा क्योंकि यह फ्रांस का अंधरूनी मसला है। भारत के भी हर व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि " मजहब आज न अर्थशास्त्र से बड़ा है, न भौगोलिक सीमाओं से और न अपनी-अपनी राष्ट्रीयता से...यह देश और यही राष्ट्र उनकी नियति है...इसलिए देर-सवेर उन्हें अपने धार्मिक और सामाजिक रवैयों को राष्ट्रीयता के संदर्भ में बदलना ही होगा..."[30] इस दायरे के अंतर्गत हिंदू भी आते हैं और मुसलमान भी। मुसलमान इसलिए कि एक लंबे समय से उनकी राष्ट्रभक्ति संदेह के दायरे मे रही है। आजादी से पहले जब

पाकिस्तान का उन्होंने समर्थन किया तब से लेकर अब तक। हिंदू इस दायरे में इसलिए आते हैं क्योंकि आजादी के दौर से लेकर अबतक वे यह मानते हैं कि यह भारत राष्ट्र सिर्फ उनका है और किसी का नहीं।

समकालीन उपन्यासकारों में भीष्म साहनी ने समय-समय पर सांप्रदायिक विचारधारा पर हमला किया है। सांप्रदायिक विचारधारा के लगातार प्रसार के प्रमुख कारण पर विचार करते हुए उनका यह मानना है कि स्वाधीनता के बाद सांप्रदायिकता में इजाफ़ा हुआ है जिसका प्रमुख कारण धर्म का राजनीति में दुरुपयोग होने लगा है। वे कहते हैं- " आजादी के बाद हमारे देश में धर्म और राजनीति को दृढ़ता से अलग करना नितांत आवश्यक था, यह नहीं किया गया, बल्कि धर्म के आधार पर चुनावों के लिए, वोट बटोरने के लिए होड़ चल पड़ी, इससे भेदभाव बढ़ा, साम्प्रदायिकता को बल मिला। शिक्षा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता को बल देनेवाली शिक्षा का बहिष्कार नहीं किया गया।"[31] भारत के संविधान में भले ही भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया हो लेकिन वास्तविकता है कि आज भी देश में लिये जाने वाले निर्णय धर्मनिरपेक्ष नहीं हैं। इस कारण लगातार एक समुदाय स्वयं को वंचित महसूस कर रहा है वहीं दूसरा समुदाय यह मानता है कि उसके हिस्से के संसाधनों को छीनकर दूसरों में बाँटा जा रहा है। आज राजनीति धर्म का दुरुपयोग कर रही है, जिस दुश्चक्र को भीष्म साहनी इस प्रकार उजागर करते हैं- " जहाँ पर हम अपने धर्म को राजनीति का अंग बना लेते हैं, वहीं पर हम साम्प्रदायिकता के वास्तविक, भयावह रूप को प्रस्तुत करने लगते हैं। राजनीति का मुख्य लक्षय सत्ता ग्रहण करना बन गया है। जब सत्ता ग्रहण कर पाने की होड़ में हम धर्म की आड़ लेते हैं, तब हम एक ओर धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर देते हैं, दूसरी ओर उन तत्वों को प्राथमिकता देने लगते हैं जो एक जाति को दूसरी जाति से अलग करते हैं, जैसे पूजा-पाठ की विधियों, धर्माचार, व्रत- उपवास, आदि-आदि। इस तरह

जब हम अपनी जाति की अलग पहचान बनाना चाहते हैं, तब एक व्यक्ति इंसान न रहकर, एक हिंदू, एक मुसलमान, एक सिख आदि में बदल जाता है। सत्ता की होड़ इस जातीयता की भावना को उग्र और आक्रामक बनाती है। तब, धर्म के नाम पर हमारे सभी कुकर्म-हिंसा, बर्बरता, घृणा, द्वेष सभी यथोचित ठहराए जाने लगते है। इस तरह साम्प्रदायिकता का विकराल रूप सामने आने लगता है।"[32] सांप्रदायिक हिंसा के दौरान समाज के वे लोग जिन्हें समाज हिकारत की नज़र से देखता है उन्हें भी एक प्रकार से समाज में स्वीकृति मिल जाती है, वे सम्मान के योग्य बन जाते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिक विचारधारा के पनपने और उसके विस्तार में बुद्धिजीवियों की भूमिका भी संदिग्ध रही है। बुद्धिजीवियों ने अपनी भूमिका का निर्वहन सही ढंग से नहीं किया। सरकारी लाभ बटोरने के लिए एवं राजनीतिक पार्टीयों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता निभाने के क्रम में मानवीय मूल्यों को बुद्धिजीवियों ने तिलांजलि दे दी। जे.पी. आंदोलन के बाद से अबतक कोई बड़ा आंदोलन नहीं हुआ जबकि लगातार देश जर्जरता की ओर बढ़ रहा है। यहाँ तक कि बुद्धिजीवियों का विश्वास धर्मनिरपेक्षता और लोकतांत्रिक मूल्यों से ड़गमगा गया है वे भी सांप्रदायिक विचारों से ग्रसित होने लगे हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में बुद्धिजीवियों की स्थिति पर अफसोस जाहिर करते हुए भीष्म साहनी कहते हैं- " यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है, पर इसका दोषी मैं उन बुद्धिजीवियों को नहीं ठहराता जिनका विश्वास धर्मनिरपेक्षता पर से डगमगा गया है, वरन् उन तत्वों को भी जिन्होंने देश में सेक्युलरिज़्म को मजबूत बनने के बजाय, उत्तरोत्तर कामज़ोर बनाया है, यहाँ तक कि खोखला कर दिया है।

धार्मिक संस्कार हम सबको जन्मघुट्टी में मिलते हैं, और कहीं-कहीं पर जातीयता के संस्कार भी धर्म से जुड़कर मिलते हैं। हिंदू परिवारों में अक्सर यह मान्यता बच्चों को संस्कार रूप में मिलती रही है कि मुसलमान अलग कौम है, वे क्रूर और बर्बर हैं, गंदे हैं,

मांसाहारी हैं, असभ्य हैं, आदि-आदि। मुसलमान परिवारों में कहा जाता है कि हिंदू काफिर है, चालाक है, पैसे के पीर हैं, डरपोक हैं कि उनका एतबार नहीं किया जा सकता।"[33] दरअसल बुद्धिजीवियों की यह हालत उनके मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण है जो उसके अंदर बचपन से ही कूट-कूट कर भर दिया गया है।

एक लंबे समय से देश आर्थिक परेशानियों से जूझ रहा है। सांप्रदायिक शक्तियां बेरोज़गार युवावर्ग के बीच अपने विचारों को आसानी से प्रसारित करने में सफल रही है, जो यह विश्वास दिलाने में सफल रही हैं कि उनकी इस दुरावस्था का कारण दूसरे धर्म का व्यक्ति है। देश के नेता, देश को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने, रोजगार के नये अवसर बनाने के स्थान पर सांप्रदायिक वैमनस्य को और हवा दी ताकि इसकी जड़ तक न पहुँचकर लोग आपस में लड़ते रहें और इन नेताओं की सत्ता कायम रहे। भीष्म साहनी कहते हैं- " देश का दुर्भाग्य है कि जिन नेताओं और राजनीतिकों को इस समय, सब कुछ भूलकर, देश की आर्थिक समस्याओं से जूझना चाहिए, वही सांप्रदायिकता को हवा दे रहे हैं। कुछ इसलिए कि इससे उनकी राजनीतिक स्थिति बेहतर होती है। सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे कर वे किसी दिन सत्तारूढ़ हो सकते हैं या आगामी चुनावों में अपनी स्थिति को मजबूत बना सकते हैं। हमारे अधिसंख्य नेता या तो पार्टीबाज़ी में उलझे हुए हैं, या धर्म और जाति का तुरुप का पत्ता खोलकर सत्ता की बाजी जीतने में लगे हुए हैं। इसके पीछे न कोई धर्मसेवा का भाव है, न ही जातिसेवा का, और न ही मानवता के प्रति कोई सद्भाव है। यह कोरी राजनीति है, जिसके पीछे राष्ट्रहित की दृष्टि से बड़ी क्षुद्र भावनाएँ काम कर रही हैं।"[34]

समकालीन हिंदी कथासाहित्य में राही मासूम रज़ा एक ऐसा व्यक्तित्व हैं जिन्होंने अपना सारा लेखन-कर्म ही सांप्रदायिकता के विरोध में रखा है। राजनीति धर्म का कैसे इस्तेमाल करती है इसपर राही ने बड़ी ही सुन्दर बात कही है- " हर धर्म कभी न कभी मनुष्य

को रास्ता दिखाने आया था। परन्तु आज हर धर्म अपने माननेवालों को कुछ लोगों के फायदे के लिए राह से भटकाने का काम कर रहा है। लोग वोटों के दरबे पर धर्म का ताला लगाना चाहते हैं कि बस चुनाव के दिन वोटर दरबे से निकल जायें, वोट दें और फिर पांच बरस के लिए बंद कर दिये जायें। यदि आज अस्सी प्रतिशत हिन्दुओं को यह समझाने का काम किया जा सकता है कि उनका धर्म खतरे में है, तब तो फिर **12** प्रतिशत मुसलमानों और ढ़ाई प्रतिशत सिखों को यह समझाना बहुत ही आसान है।"[35] राही यह मानते हैं कि **14** अगस्त **1947** को देश का विभाजन हुआ यह गलत है बल्कि **14** अगस्त **1947** से देश का विभाजन शुरू हुआ था जो अब भी चल रहा है, रुका नहीं है।

राही का मानना है कि देश विभाजन के बीज बहुत पहले तब ही बोये जा चुके थे जब भाषा के रूप में आपसी वैमनस्य का बीज बोया गया। अंग्रेजों की इस साज़िश पर बहुत सही पकड़ राही की है - " मेरी यह बात मुमकिन है बहुत से दोस्तों और दुश्मनों को बुरी लगे पर मैं यह बात फिर कहना चाहता हूँ कि कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालिज में हिंदी या हिंदवी को हिन्दू और मुसलमान खानों में बांटने की जो साजिश की गई थी उसी के नतीजे में आगे चलकर हिंदुस्तान तक्सीम हुआ और ममलिकते-इसलामिया-ए-पाकिस्तान वुजूद में आई। देवनागरी रस्मुलखत को हिन्दू और उर्दू रस्मुलखत को मुसलमान तसलीम करके दो कौमी नज़रीये की बुनियाद ड़ाली गई। इसका नतीजा यह हुआ कि देव नागरी का अदब पूरे का पूरा हिंदू हो गया। मुसलमानों ने इस रस्मुलखत से कोई नाता नहीं कायम किया। नतीजे में देवनागरी अदब अपने एलाके की आधी तेहा सिदाकतों में उलझ कर रह गया।"[36] राही सांप्रदायिकता के चरणों को अच्छी तरह समझते थे और किसी भी प्रकार की सांप्रदायिकता को सिरे से नकारते थे। पाकिस्तान निर्माण के वे कभी पक्षधर न थे बल्कि जब पाकिस्तान से अलग भाषायी आधार पर बांग्लादेश का गठन हुआ तो वे बहुत खुश थे।

वर्तमान समय में उग्र हिंदुत्ववादी शक्तियां इस देश में अपना जनाधार बनाने के लिए आतंक की सृष्टि कर रही हैं। सत्ता पर काबिज होने के लिए 'हिंदू धर्म खतरे में है' जैसे नारे लगाये जा रहे हैं। रह-रहकर अयोध्या में रामलला के मंदिर को बनाने की बात कहकर हिंदू जनमानस को भड़काया जा रहा है। शांति और सौहार्द को लगातार भंग करने की कोशिश की जा रही है। एक लंबे समय तक हिंदुत्ववादी शक्तियों के निशाने पर मुसलमान थे लेकिन अब ईसाईयों को भी निशाने पर लिया जा रहा है। धर्मान्तरण को मुद्दा बनाया जा रहा है। जब कभी धर्मान्तरण का मसला खड़ा होता है तो शुद्रों को अपना बताया जाता है, उनके नाम पर दहाड़े मार-मारकर हिंदुत्ववादी रोने लगते हैं लेकिन उन्हीं हिन्दुओं को अछूत कहकर हिंदू समाज में दुत्कारा जाता है। अब अगर ये तथाकथित अछूत धर्म-परिवर्तन करते हैं तो गलत क्या है ? हर व्यक्ति को सम्मान के साथ जीने का हक है जिससे किसी को भी वंचित नहीं रखा जा सकता। हिन्दू धर्म के इसी दोमुहेपन पर व्यंग्य कसते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं- " हजारों बरसों से सामाजिक अन्यायों और अत्याचारों, अपराध-बोध से पीड़ित हिन्दू आत्मा को 'शांति' की तलाश है, इसलिए हम साथी मनुष्य के लिए सबसे अधिक अहसान-फरामोश और विश्वासघाती लोग हैं। हम 'नीचों' से अपने मंदिरों का एक-एक कंगूरा-कलश, पूजागृह सभी कुछ बनवाएँगे, खेत जुतवाएँगे, फसले लदवाएँगे-और सबसे पहले उन्हीं का वहाँ प्रवेश वर्जित कर देंगे; जिस मूर्ति को कल तक मैंने अपने पाँव के पंजों में दबाकर बारीक छेनी-हथौड़ी से तिल-तिल तराशा है-कल मुझे उसके दर्शन का अधिकार नहीं होगा ...जिस रसोई के हर चुल्हे और आले को मैंने बनाया है, उसके पास जाने पर मेरा सिर फोड़ दिया जाएगा...जिस रामायण, महाभारत को लिखकर मैंने लाखों परोपजीवी, जोंक और निकम्मे ब्राह्मणों की हजारों पीढ़ियों के लिए हलुआ-पूरी 'भकोसने' का इंतजाम किया है- वही मुझे भंगी (वाल्मीकि)और हरामज़ादा मछुआरा (वेदव्यास)बताकर एक तरफ दुत्कार देंगे..."[37]

बार-बार हिंदुत्ववादी शक्तियां धर्म परिवर्तन के मसले को उठाकर 'हिन्दू धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर साधारण हिंदू जनमानस में भय की सृष्टि कर रही हैं। हिंदुत्ववादियों के इस रवैये पर टिप्पणी करते हुए कमलेश्वर कहते हैं- " 'इस्लाम खतरे में है' की तर्ज पर 'हिंदुत्व खतरे में है' का नारा दिया जा रहा है और कहा जा रहा है कि अब यह खतरा ईसाईयों से है। इसी के साथ सुर मिलाकर एक शंकराचार्य कहते हैं कि 'एक कंबल लेकर अगर कोई अपना धर्म-परिवर्तन करता है तो यह हिंदुओं के लिए डूब मरने की बात है !' और यह कहते हुए ये भूल जाते हैं कि गरीब के पास कंबल भी नहीं, जबकि यह बात कहने वाले शंकराचार्य खुद सोने की छतरी के नीचे चांदी के सिंहासन पर बैठते हैं। मन और विवेक से सोचिए तो कंबल का लालच नहीं, सोने की छतरी और चांदी के सिंहासन पर बैठकर कही गई यह बात, शर्म से डूब मरने की बात है।"[38] दरअसल इस प्रकार की बातें कहकर हिंदुत्ववादी शक्तियां लोगों को भड़काकर सत्ता में बने रहने की अपनी मंशा को पूरा करना चाहती है। संसद भवन में गेरूआ वस्त्रधारियों का प्रवेश इसका स्पष्ट प्रमाण है।

शायद ये हिंदू धर्म के तथाकथित रक्षक यह भूल गये हैं कि आज किसी का धर्म परिवर्तन जबरन नहीं करवाया जा सकता। लोकतंत्र में स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन तो संभव है लेकिन जबरन धर्मपरिवर्तन की बातें आज के समय में हास्यास्पद ही लगती हैं। समकालीन लेखिका रमणिका गुप्ता कहती हैं- " वर्तमान समय में धर्म परिवर्तन जबरन नहीं किया जा सकता। वह भी अल्पसंख्यकों द्वारा ऐसा करना संभव नहीं है। हिन्दुत्ववादी अपनी कमजोरी छिपाने के लिए, हिन्दू धर्म के भेदभाव भरे प्रावधानों को कायम रखने के लिए दूसरों का विरोध करते हैं। ये तो आदिवासियों को भी जबरन हिन्दू की श्रेणी में गिनते हैं जबकि आदिवासी का 'सरना' धर्म कहीं भी हिन्दू धर्म के दायरे में नहीं आता। इतिहास भी गवाह है कि इन्होंने आदिवासी राजाओं को तो स्वीकारा था हिन्दू धर्म में और क्षत्रिय माना था लेकिन

उनकी जनता और सेना को नहीं स्वीकारा। वे उनकी नजर में बहिष्कृत ही रहे। आज अपनी संख्या बढ़ाने की गरज से ये उन्हें जबरन हिन्दू कहते हैं।"[39] एक लंबे समय से अछूतों को हेय दृष्टि से देखा गया और आज जब इस्लाम और ईसाईयों में ये अछूत धर्म परिवर्तन कर रहे हैं तो हिंदुत्ववादी हाय-तौबा मचा रहे हैं लेकिन अपनी गलतियों को सुधारने के बदले दूसरों को गलत ठहराना इस समस्या के प्रति कहाँ तक सही रवैया है ? दरअसल हिंदुत्ववादी इस पशोपेश में पड़े हैं कि आखिर वे करे तो क्या करे। अगर वे सामाजिक स्तर पर अछूतों को सम्मानीय स्थान देते हैं तो उनका ब्राह्मणवाद खतरे में आ जाता है और अगर ब्राह्मणवाद की रक्षा करने का प्रयास करते हैं तो हिन्दुत्ववाद खतरे में आ जाता है। यह समझना जरूरी है कि धर्मान्तरण का मसला आर्थिक या धार्मिक नहीं बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक है। सदियों से वंचित रहा वर्ग अब अपने अधिकार के लिए सचेत है जिसे रोक पाना दुनिया की किसी भी ताकत के बस में नहीं है।

वर्तमान भारत एक अजीब पशोपेश की स्थिति से गुजर रहा है जहाँ एक ओर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर बहुसंख्यक सांप्रदायिकता मौजूद है तो दूसरी ओर इस सांप्रदायिक स्थिति से भयभीत अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता भी मौजूद है। जिस राष्ट्र में बहुसंख्यक सांप्रदायिक विचारधारा से ग्रस्त हों वहाँ अल्पसंख्यकों का सांप्रदायिक विचारों से ग्रसित होना अनिवार्य है। बहुसंख्यक का यह दायित्व बनता है कि वह अपने व्यवहार के माध्यम से अल्पसंख्यक के मन में भय पैदा करता है या सम्मान अर्जित करता है। इस स्थिति पर विचार करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं-" अल्पसंख्यक अपनी अलग पहचान बनाए रखने और सामुदायिक सुरक्षा के लिए धर्म और सांप्रदायिकता के शरण में जाते हैं तो बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता फासीवादी की स्थापना करती है। दोनों एक-दूसरे से भोजन और प्रेरणा लेते हैं। दोनों को एक-दूसरे का खतरा बना रहता है-एक इसे धर्म के लिए खतरा

मानता है तो दूसरे के लिए यह राष्ट्र को खतरा है। अविश्वास और आतंक का यह माहौल दोनों को अधिक कट्टर बनाता चला जाता है। प्रेमचंद के शब्दों में सांप्रदायिकता यहाँ संस्कृति और राष्ट्रीयता का लबादा ओढ़कर आती है। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' हिन्दुओं के इस्लामीकरण की प्रक्रिया है। अल्पसंख्यकी कुंठा है। इसके गोलवलकर जैसे सिद्धांतकारों ने बहुत साफ शब्दों में अपने पवित्र राष्ट्र को मलेच्छों और विधर्मियों से मुक्त कराने की बात की है और हिटलर की प्रशंसा की है कि उसने साहसपूर्वक यह कार्य किया। अगर इन अल्पसंख्यकों को हमारे देश में रहना है तो दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रहें और उन अधिकारों, हैसियत और सम्मान की बात न करें जो बहुसंख्यकों को सहज सुलभ है। हत्याओं, आगज़नी, दंगों और धार्मिक स्थलों के ध्वंस की भाषा में यही तो संघ-परिवार मुसलमानों और क्रिश्चनों को समझा रहा है। वह खुद अल्पसंख्यकों की असुरक्षा-कुंठा से ग्रस्त और बहुसंख्यकों के अहंकार का मारा है।"[40]

दरअसल आज के समय में जब हर चीज को नये सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया जा रहा है वहाँ धर्म को भी नये ढंग से परिभाषित किया जा रहा है। मगर धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है वह विकृत व्याख्या है। धर्म के मूल तत्व से हटाकर धर्म की व्याख्या की जा रही है। ऐसे में धर्म को पुन: परिभाषित किया जाना चाहिए जो न केवल रैशनल हो बल्कि आधुनिक विचारों से लैस हो और हर उस आधुनिक विचार को ग्रहण करने को तैयार हो जिनसे मानव मात्र का कल्याण हो। ऐसी स्थिति में हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार प्रासंगिक प्रतीत होते हैं- " वर्तमान युग में धर्म को नया रूप ग्रहण करना है। देश और काल के अनुसार धर्म के बाह्य रूपों में अन्तर दिखायी देता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि धर्म के बाह्य रूपों में देश और काल के अनुसार परस्पर विरोध दिखायी देने पर भी धर्म के मूलभूत सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध नहीं है। महाभारत में कहा गया है कि जो

धर्म किसी अन्य धर्म के विरुद्ध पड़ता है वह धर्म नहीं है। जो धर्म अविरोधी होता है वस्तुत: वही धर्म है:

धर्मो यो बाधते धर्मो न सोधर्म: कुधर्मत:।

अविरोधी तु यो धर्म: स धर्मो मुनि सत्तम।।

इसका कारण यह है कि धर्म के बाह्य रूप ऐसे मानव-कल्याणकारी तत्व के ऊपर प्रतिष्ठित होते हैं जो स्वयं सदा एकरस रहने पर भी देश और काल के अनुसार नये-नये रूप ग्रहण करता है। कभी शास्त्र और परम्परा के बल पर बाह्य रूप दूसरे देश और काल में पहुँच जाते हैं और उसमें अन्तर्निहत मानवीय कल्याण के मुलभूत तत्व को भुला दिया जाता है। इस प्रकार धर्म के नाम पर प्राणहीन रूढियाँ और तत्वदृष्टि-रहित आचार-परम्पराएँ चल पड़ती हैं। रूढ़ि, वस्तुत: अन्तर्निहित तत्व को भुला देने का ही नामान्तरण है।"[41] दरअसल धर्म के कठमुल्लों ने यह घोषणा करना आरंभ कर दिया है कि जो कुछ भी उन्होंने सोचा है वही अन्तिम है। इससे अलग और इससे बाहर और कुछ नहीं हो सकता। वर्त्तमान समय में धर्म के अन्तर्गत विवेक का कोई स्थान नहीं है। धर्म की इस कूपमंडूकता पर विचार करते हुए उपन्यासकार ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- " धर्म को समयसापेक्ष, खोजपरक और मानवीय विकास की प्रक्रिया में सहायक बनाने की जगह उसे कूपमंडूकता के दायरे में कैद रखा जाता है। धर्म की दार्शनिकता में जो तर्क और बहस की गुंजाइश रहती है, उसे भी नष्ट कर दिया जाता है बल्कि तर्क और बहस की तमाम संभावनाएं ही खत्म हो जाती है।"[42] आज के समय की यह जरूरत है कि धर्म अपना संशोधन करे। नये विचारों को अपनाये, उनका स्वागत करे। राजनीति का दामन छोड़कर मानवता का कल्याण करे। धर्म का मूल मर्म मानवता का विकास है, समाज में श्रृंखला एवं व्यवस्था बनाये रखना है लेकिन आज धर्म समाज में अव्यवस्था फैलाने का कारक बन चुका है।

समाचार पत्रों को जनतंत्र का जागरूक प्रहरी कहा जाता है।आज के समय के समाचार पत्र एकमात्र ऐसा माध्यम है जिससे वास्तविक स्थिति का पता चलता है।ऐसे मे समाचार पत्रों द्वारा गैरजिम्मेदाराना ढंग से तथ्यों को पेश करना न केवल समस्या को और विकट बनाता है बल्कि प्रकारान्तर से सांप्रदायिक शक्तियों का पृष्ठपोषण करता है।भीष्म साहनी टिप्पणी करते हुए कहते हैं- " जहाँ तक सरकारी जन-माध्यमों द्वारा साम्प्रदायिकता का प्रचार किया जा रहा है, वहाँ पर तो उसका कड़ा विरोध करने की नितांत आवश्यकता है, क्योंकि अगर सरकारी माध्यम ही ऐसा प्रचार करने लगेंगे तो सरकार द्वारा साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए वायदे मात्र विडंबना ही होगी।पर जहाँ निजी पत्र-पत्रिकाएँ साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दे रही हों, वहाँ आप कानून-व्यवस्था का ही दरवाज़ा खटखटा सकते हैं।पर हम जानते हैं कि न तो सरकारी तंत्र और न ही कानूनी व्यवस्था इस दिशा में सजग अथवा सक्रिय है।सभी इरादों में साम्प्रदायिक तत्व घुसपैठ कर गए हैं।खेद इस बात का है कि जहाँ साम्प्रदायिक तत्व एकबद्ध और व्यवस्थित हैं, वहाँ साम्प्रदायिकता विरोधी तत्वों में बिखराव पाया जाता है और उनके कार्यक्रम प्रदर्शनों, अपीलों और सेमिनारों से आगे नहीं बढ़ पाते।"[43] जरूरत है कि जनता में जागृति लाने के लिए जमीनी स्तर पर कार्य किया जाय। बंद कमरों में बौद्धिक बहसों से सांप्रदायिक समस्या के कारणों को पहचान जा सकता है उसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

वहीं सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार करते हुए कथाकार असगर वजाहत इस समस्या पर पुनर्विचार करने की जरूरत महसूस करते हैं।अब तक सांप्रदायिक ताकतों से लोहा लेने वाले विचारकों की खामियों को इंगित करते हुए वे कहते हैं-" सांप्रदायिकता से लड़ने वालों के लिए यह चिंता न बन सकी कि शिक्षा, स्वास्थ्य, मौलिक अधिकार, भ्रष्टाचार, निजीकरण, मुनाफाख़ोरी, जवाबदेही जैसे मुद्दों को आधार बनाया जाये जिन पर व्यापक

जनसमर्थन प्राप्त किया जा सकता था और जो अंततः न केवल विभिन्न धार्मिक समूहों को नजदीक लाते बल्कि व्यवस्था की उन जड़ों पर प्रहार करते जिनके कारण साम्प्रदायिकता फलती-फूलती है। ...साम्प्रदायिकता विशेष सामाजिक, आर्थिक संरचना से जन्म लेती है। यदि हम मूल संरचना पर नहीं केवल उससे उपजी साम्प्रदायिकता को ही निशाना बनाते रहेंगे तो भ्रमित कर दिए जाने या हो जाने के खतरे बने रहेंगे।"[44]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास लेखकों ने सांप्रदायिकता के बदलते और बढ़ते स्वरूप पर अपनी चिंता जाहिर की है। अभिव्यक्ति के तमाम खतरों को मोल लेते हुए इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता को विस्तृत फलक पर पेश किया है जिसमें अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता पर चिंता है तो बहुसंख्यक सांप्रदायिकता पर भी प्रहार किया गया है। हिंदू धर्म में मौजूद वर्ण-व्यवस्था को भी इस घेरे में लाकर देखा गया है। राजनीति द्वारा धर्म के दुरुपयोग पर अगर चिंता जाहिर की गई है तो बुद्धिजीवियों एवं पत्रकारों को भी बख़्शा नहीं गया है। बदले हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार करने का प्रयास किया गया है, उसके कारणों की पड़ताल करने की कोशिश की गई है। अब सांप्रदायिकता के पीछे मौजूद पूंजीवादी शक्तियों की भूमिका भी साफ दिखाई पड़ने लगी है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची -**


1. सिंह, कुँवरपाल, साहित्य और हमारा समय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2002**, पृष्ठ संख्या-**72**
2. अग्रवाल, डॉ. प्रमिला, भारत विभाजन और हिन्दी कथा साहित्य, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**1992**, पृष्ठ संख्या-**213**
3. सिंह, शिवप्रसाद, अलग-अलग वैतरणी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2008**, पृष्ठ संख्या-**238**
4. नीरन, अरुणेश (संपादक), शिवप्रसाद सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**1994**, पृष्ठ संख्या-**69**
5. अग्रवाल, डॉ. प्रमिला, भारत विभाजन और हिन्दी कथा साहित्य, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**1992**, पृष्ठ संख्या-**213**
6. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**269**
7. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष **-2003**, पृष्ठ संख्या-**10**
8. सिंह, ओमप्रकाश, प्रेमचंदोत्तर कथासाहित्य और सांप्रदायिक समस्याएं (साभार), नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**1998**, पृष्ठ संख्या-**289**
9. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2005**, पृष्ठ संख्या-**395**
10. सिंह, विजय बहादुर, उपन्यास समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2007**, पृष्ठ संख्या-**220**
11. वही, पृष्ठ संख्या-**209**
12. अग्रवाल, डॉ. प्रमिला, भारत विभाजन और हिन्दी कथा साहित्य (साभार), जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**1992**, पृष्ठ संख्या-**213**
13. माजी, महुआ, मैं बोरिशाइल्ला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2006**, पृष्ठ संख्या-**89**
14. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**251**
15. दत्त, रजनी पाम, आज का भारत (अ.-आनंदस्वरूप वर्मा), मैक्मिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण-**2001**, पृष्ठ संख्या-**468**
16. सिंह, डॉ. कुँवरपाल, साहित्य और हमारा समय (साभार), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- **2002**, पृष्ठ संख्या-**73**
17. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष-**2004**, पृष्ठ संख्या-**269**
18. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-**2005**, पृष्ठ संख्या-**56**

19. प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-344
20. उपाध्याय, प्रवीण (संपादक), साक्षात्कार आजकल, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-63
21. वही, पृष्ठ संख्या-139
22. कमलेश्वर, हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-16
23. कविता (संपादक), वह सुबह कभी तो आयेगी, अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-35
24. वही, पृष्ठ संख्या-76
25. कंचन (संपादक), सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2004, पृष्ठ संख्या-32
26. कविता (संपादक), वह सुबह कभी तो आयेगी, अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण- 2008, पृष्ठ संख्या-148
27. कमलेश्वर, हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-140
28. वही, पृष्ठ संख्या-29
29. कविता (संपादक), वह सुबह कभी तो आयेगी, अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-52
30. वही, पृष्ठ संख्या-53
31. साहनी, भीष्म, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-1996, पृष्ठ संख्या-148
32. वही, पृष्ठ संख्या-148
33. वही, पृष्ठ संख्या-149
34. वही, पृष्ठ संख्या-192
35. राय, चन्द्रदेव (संपादक), अभिनव कदम 6-7, मऊ, उत्तर प्रदेश, वर्ष- नवंबर 2001-अक्टूबर-2002, पृष्ठ संख्या-120
36. वही, पृष्ठ संख्या-126
37. कविता (संपादक), वह सुबह कभी तो आयेगी, अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-23
38. कमलेश्वर, हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-63
39. कंचन (संपादक), सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2004, पृष्ठ संख्या-18
40. कविता (संपादक), वह सुबह कभी तो आयेगी, अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-149
41. द्विवेदी, मुकुन्द (संपादक), हजारी प्रसाद रचनावली भाग-1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-1998, पृष्ठ संख्या-380

**42.** वाल्मीकि, ओमप्रकाश, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-**2009**, पृष्ठ संख्या-**120**

**43.** साहनी, भीष्म, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-**1996**, पृष्ठ संख्या-**148**

**44.** सागर, शैलेन्द्र (संपादक), लखनऊ, कथाक्रम, जुलाई-सितम्बर **2003**, पृष्ठ संख्या-**77**

# अध्याय- 4 :

# सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास

4.1. आधा गाँव
4.2. तमस
4.3. झीनी-झीनी बीनी चदरिया
4.4. सूखा बरगद
4.5. कितने पाकिस्तान
4.6. जिंदगीनामा
4.7. आख़िरी कलाम

## सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास

स्वाधीनता के बाद भारतीय जनमानस के बड़े हिस्से में यह बात घर कर गयी कि भारत हिंदुओं का देश है और पाकिस्तान मुसलमानों का। पाकिस्तान की मांग करनेवाले मुसलमानों को भी इस बात का इल्म नहीं था कि पाकिस्तान एक मिथ्या कल्पना है। पाकिस्तान जब वास्तविकता में बदला तो हर मुसलमान का सपना टूट गया। हिन्दुस्तान में रहनेवाले मुसलमानों की अवस्था और भी बुरी हो गयी क्योंकि जिन हिन्दुओं के साथ कल तक वे मिल-जुलकर रहा करते थे, अपनी नादानी के कारण उन सबको मुसलमानों ने अपना दुश्मन बना लिया। भारत के प्रति उनकी वफादारी भी शक के नज़र से देखी जाने लगी। स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में काफी फर्क आ चुका था। विभाजन के दौर में जो ज़ख्म मिले, सो अलग। रिश्ते दरकने लगे थे। इन बदली हुई परिस्थितियों ने रचनाकारों के अंतस् को प्रभावित किया जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। यहाँ कुछ विशेष उपन्यासों के विस्तृत अध्ययन द्वारा स्वातंत्र्योत्तर समाज और मानवीय रिश्तों में आये परिवर्तनों को रेखांकित करने का प्रयास किया जायेगा। यूं तो सांप्रदायिकता को लेकर दर्जनों उपन्यास लिखे गये हैं और कई रचनाकारों ने एकाधिक उपन्यास सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर लिखे हैं, परन्तु हर उपन्यास को विशेष अध्ययन के लिए चुना नहीं जा सकता। अतएव समकालीन उपन्यासकारों के ऐसे उपन्यास को विशेष अध्ययन के लिए चुना गया है, जिनमें सांप्रदायिकता के कारक तत्वों का बहुत बारीकी से खुलासा किया गया है। साथ ही, चुने गये ये उपन्यास ऐसे उपन्यास हैं जो अपने-अपने दशकों के प्रतिनिधि उपन्यास रहे हैं।

### 4.1. आधा गाँव

राही मासूम रज़ा एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसने विभाजन को एक अलोकप्रिय निर्णय तो माना ही था, साथ ही सांप्रदायिक विचारों का पुरजोर विरोध भी किया था। वे आजीवन

सांप्रदायिकता की समस्या से लड़ते रहे। उनके सभी उपन्यास इसके प्रमाण हैं। धर्म और राजनीति के गठजोड़ को उद्घाटित करते हुए विभाजनकारियों के चेहरों को राही ने अपने उपन्यासों में बेनकाब किया है। इन्होंने **'आधा गांव'**, **'टोपी शुक्ला'**, **'हिम्मत जौनपुरी'**, **'ओस की बूँद'**, **'दिल एक सादा कागज'**, **'सीन 75'**, **'कटरा बी आर्ज़ू'** और **'असन्तोष के दिन'** जैसे प्रसिद्ध उपन्यास लिखे। **'आधा गाँव'** उपन्यास राही की प्रसिद्धि का कारण रहा है। इस उपन्यास के साथ विवाद भी उतने ही जुड़े रहे। सन् **1966** में यह उपन्यास प्रकाशित होते ही विवादों के घेरे में आ गया। जोधपुर विश्वविद्यालय में डॉ. नामवर सिंह ने जब एम.ए. पूर्वार्द्ध के पाठ्यक्रम में **'आधा गाँव'** को रखा तो इसे अश्लील और सांप्रदायिक कहकर इसका विरोध किया गया। यहाँ तक कि डॉ. रामविलास शर्मा ने इसे सांप्रदायिक तो नहीं मगर अश्लील जरूर कहा जो उनके अनुसार विश्वविद्यालय में पढ़ाने लायक न था। साहित्य अकादमी के पुरस्कार से भी यह उपन्यास तथाकथित अश्लीलता के कारण ही वंचित रहा। **1998** में भी औरंगाबाद विश्वविद्यालय में इस उपन्यास पर ऐसे ही आरोप लगाये गये।[1] परंतु इस पूरे प्रकरण के दौरान हिंदी के रचनाकारों और पत्र-पत्रिकाओं की चुप्पी निराशाजनक थी। स्वयं नामवर जी भी बुद्धिजीवियों के इस व्यवहार से अत्यंत दुखी थे।[2]

**'आधा गाँव'** उपन्यास उत्तर प्रदेश के एक गाँव गंगौली को केन्द्र में रखकर लिखा गया है मगर उपन्यास के दायरे में पूरा गाँव नहीं आता बल्कि गाँव का आधा हिस्सा ही चित्रित किया गया है। यह वह हिस्सा है जिससे राही अच्छी तरह से परिचित थे। एक-एक गली, एक-एक घर और उन घरों में बसनेवाले हर एक व्यक्ति से। उपन्यास का प्रारंभ ***'ऊँघता शहर'*** नामक अध्याय से होता है जिसमें राही गंगौली का परिचय देते हैं। पर यह अध्याय उपन्यास की भूमिका नहीं है क्योंकि उपन्यासकार ने भूमिका उपन्यास के बीच में दी है। इसे उपन्यास की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है। इस अध्याय में उपन्यासकार अपने गाँव

से पाठकों का परिचय कराता है जिसमें आगे चलकर पाठकों को जाना है।यह गाँव उसी भूमि पर है जिसपर सदियों पहले भगवान राम के चरण पड़ चुके हैं।स्वयं उपन्यासकार कहता है- “ यह असम्भव नहीं कि अगर अब भी इस क़िले की पुरानी दीवार पर कोई आ बैठे और अपनी आँखें बन्द कर ले तो उस पार के गाँव और मैदान और खेत घने जंगलों में बदल जायें और तपोवन में ॠषियों की कुटियाँ दिखायी देने लगें।और वह देखे कि अयोध्या के दो राजकुमार कन्धे से कमानें लटकाये तपोवन के पवित्र सन्नाटे की रक्षा कर रहे हैं।”[3] अपने गाँव के साथ उपन्यासकार का गहरा रागात्मक संवंध है।यह गांव भले ही उत्तर प्रदेश का एक छोटा सा गांव हो मगर यह गांव समस्त भारतीय गांवों का प्रतिनिधित्व करता है।

आलोच्य उपन्यास के संबंध में उपन्यासकार की ये पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं- “ यह कहानी न धार्मिक है, न राजनीतिक।क्योंकि समय न धार्मिक होता है, न राजनीतिक और यह कहानी है समय ही की।यह गंगौली में गुजरने वाले समय की कहानी है।कई बूढ़े मर गये, कई जवान बूढ़े हो गये, कई बच्चे जवान हो गये और कई बच्चे पैदा हो गये।यह उम्रों के इस हेर-फेर में फँसे हुए सपनों और हौसलों की कहानी है।यह कहानी है उन खण्डहरों की जहाँ कभी मकान थे और यह कहानी है उन मकानों की जो खण्डहारों पर बनाये गये हैं।”[4] समय न तो धार्मिक होता है और न राजनीतिक।बसे-बसाये घर के उजड़ जाने की और उजड़े हुए स्थानों के बस जाने की गवाही समय ही दे सकता है।समय से बेहतर गवाही और कौन दे सकता है ? वस्तुत: हर रचना अपने समय और समाज का प्रतिनिधित्व करती है।इस उपन्यास का कालखंड आजादी से पहले द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के आस-पास का है क्योंकि उपन्यास में यदा-कदा द्वितीय विश्वयुद्ध और सेना में जवानों की भर्ती का प्रसंग आया है।यह वही समय है जब जिन्ना और मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र ‘पाकिस्तान’ की माँग कर रहे थे।इस कारण समाज में भी भीतर ही भीतर

विभाजन होता जा रहा था। राही स्वयं भी पाकिस्तान निर्माण के औचित्य को समझ नहीं पा रहे थे लेकिन समाज में हो रहे विभाजन को वे भी महसूस कर रहे थे। उन्हें इस बात का बहुत दु:ख था कि अब इंसान इंसान नहीं रह गया बल्कि हिंदू और मुसलमान बन गया है। हिन्दू और कट्टर हिन्दू तथा मुसलमान और कट्टर मुसलमान बन गया है। इस प्रसंग को लेखक इस प्रकार उठाते हैं- " इधर कुछ दिनों से गंगौली में गंगौलीवालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शियों और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। .. अबुल क़ासिम चा, बद्दन भाई, तन्नू भाई, तस्सन, क़ैसर, अख्तर और गिग्गे पाकिस्तान में है। परन्तु नूरुद्दीन शहीद की समाधि अब भी गंगौली में है और उसे कस्टोडियन ने भी नहीं हथियाया है क्योंकि कस्टोडियन को मालूम था कि यह नूरुद्दीन शहीद की समाधि गंगौली के सय्यदों की नहीं है बल्कि गंगौली की है।"[5] भले ही पाकिस्तान के बनने के बाद कई लोग पाकिस्तान को अपना घर समझ कर चले गये हों लेकिन वहाँ जाने के बाद उन्हें यह अहसास हुआ कि वे न केवल अपनी जमीन से कट चुके हैं बल्कि अपनी जड़ों से भी कट चुके हैं। अपनी संस्कृति और अपनी परम्पराओं से वे अलग हो गये हैं। पाकिस्तान जाकर 'मुहाज़िर' बनकर जीने का दंश अलग से भोगना पड़ रहा है। जिसकी तड़प को इस उपन्यास के पात्रों के माध्यम से महसूस किया जा सकता है।

गंगौली उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में विभक्त था लेकिन दोनों के बीच में भी भीतर ही भीतर मन-मुटाव था। गंगौली का सबसे बड़ा त्योहार मुहर्रम था और उत्तर और दक्खिन पट्टीवालों में इस बात को लेकर भी होड़ मची रहती थी कि हुसैन का नाम लेकर कौन पहले बेहोश होगा ताक़ी दूसरी पट्टीवालों को नीचा दिखाया जा सके। हद तो तब है जब ताजिये को लेकर उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टीवालों के बीच फौजदारी तक की नौबत आ जाती है। एक-दूसरे के खिलाफ षड़यंत्र भी रचा जाता है। जिसका चित्रण उपन्यासकार ने

बखूबी किया है। यह गाँव सैयदों से भरा पड़ा है लेकिन इसी गाँव में जुलाहे, अहीर, राकी, चमार आदि भी रहते हैं। वास्तव में इस्लाम में जाति प्रथा नहीं थी लेकिन हिंदुस्तान में आने के बाद हिन्दुओं की देखादेखी इस्लाम में भी वर्ग विभाजन आ गया। साथ ही जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन कर लिया था समाज में उनकी स्थिति भी कमोबेश वही रही जो पहले थी। नीची जातियों को समाज में ऊँचा स्थान नहीं मिल पाया था।

लेखक ने गांव के विभाजित समाज का चित्रण करते हुए दिखाया है कि कैसे बचपन से ही ऊँच-नीच, जात-पात की सीख भारतीय समाज में दी जाती है। यहीं से वैमनस्य का अंकुर बाल-मन में पड़ने लगता है और धीरे-धीरे वैमनस्य का यह अंकुर विशाल वट-वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसे सामाजिक विसंगति ही न कहें तो और क्या कहा जाय कि उपन्यास की पात्र झंगटिया बो सुलैमान चा की रखैल है। रखैल इसलिए क्योंकि सुलैमान ने उससे विवाह नहीं किया था लेकिन उनके तीन बच्चे थे। वह सुलैमान के लिए भोजन नहीं पका सकती थी क्योंकि सुलैमान तथाकथित रूप से 'मज़हबी' इंसान था और झंगटिया बो का छुआ खा नहीं सकता था। लेकिन बच्चे पैदा करने की अनुमति उसका मज़हब देता है। यह कैसा मज़हब है और कैसा समाज का बंधन है कि एक इंसान अपने से नीची जाति की औरत के हाथ का बना खा नहीं सकता लेकिन दैहिक संबंध बनाने पर धर्म की कोई क्षति नहीं होती। गंगौली के लिए यह बहुत आम बात थी कि किसी सैयद का किसी जुलाहिन, चमाइन, किसी राकिन या किसी अहीरन के साथ अनैतिक संबंध हो। इसके लिए धर्म-अधर्म, नीति-अनीति जैसी किसी भी चीज के लिए सोचने की आवश्यकता नहीं थी। यह स्थिति केवल मुस्लिम समाज में ही नहीं है बल्कि हिंदू समाज में भी मौजूद है।

इस लीक पर चलने वाले समाज में जो तालाब के जल की तरह स्थिर था, खलबली तब मच जाती है जब सैयद हम्माद मियाँ का बेटा मिगदाद सैफूनिया से निकाह कर

लेता है। सैफूनिया नाइन है। सैयद एक नाइन को रख सकता है लेकिन उससे विवाह ! इसे समाज कैसे स्वीकार कर सकता है ? गांव के सैयद परिवारों की महिलाओं को किसी नीची जाति की औरत के साथ उसके पति के अवैध संबंध स्वीकार है, यहाँ तक कि अगर उसका पति उस औरत को घर ले आये तो भी कोई बात नहीं क्योंकि वह आँगन में ही झोपड़ी डाल सकती है, घर के भीतर तक उसकी पहुँच नहीं हो सकती। सैफूनिया मिगदाद से प्रेम करती है लेकिन वह भी उसकी रखैल बनने के लिए तैयार रहती है। विवाह तक की बात वह न तो सोच सकती है और न ही कभी यह बात उसके ज़ेहन में आती है। मगर मिगदाद का सैफूनिया से विवाह करना उस समाज में क्रांतिकारी कदम था। इसका परिणाम तो आना ही था और वही हुआ जो अक्सर ऐसी परिस्थितियों में हुआ करता था। हम्माद मियाँ और पूरे समाज को यह बात नागवार गुजरी। मगर मिगदाद को इस बात का तनिक भी अफसोस नहीं। वह यह मानता है कि सैफुनिया से विवाह करके उसने कोई गुनाह नहीं किया है। मिगदाद के माध्यम से उपन्यासकार ने यह प्रश्न उठाया है कि व्यर्थ की शानो-शौक़त दिखलाने के लिए किसी के निजी जीवन से जुड़े फैसलों में हस्तक्षेप करना कहाँ तक उचित है। एक व्यक्ति किससे विवाह करेगा किससे नहीं यह बिल्कुल उसका निजी मामला है जिसमें किसी को भी हस्तक्षेप करने का कोई हक़ नहीं है। इससे धर्म का अस्तित्व खतरे में कैसे आ सकता है ? इतिहास प्रमाण है कि ऐसे विवाहों से ही सामाजिक समरसता के अवसर भी फलते-फूलते हैं। ऐसा पहले भी हुआ है जब आर्यों और द्रविड़ों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित हुए और आज आर्य और द्रविड़ के बीच कोई वैमनस्य नहीं है।

आलोच्य उपन्यास में राही ने विभाजन से पहले भारतीय मुसलमानों की कांग्रेस और गांधी से नाराज़गी के कारणों को भी रेखांकित किया है। मुसलमान बहुत नाखुश थे क्योंकि उनका मानना था कि कांग्रेस ने ही नीची जाति के लोगों को बढ़ावा दिया और अब वे

ऊँची जातियों की बराबरी के बन बैठे हैं। उपन्यास का एक पात्र परसूराम जब एम. एल. ए. बन जाता है तो वह भी गाँव के ऊँचे लोगों के लिए आसानी से निगल जानेवाली बात न थी। जिन लोगों को घर में प्रवेश करने की भी मनाही थी, बराबर में बैठने की बात दिवास्वप्न जैसी थी, उन्हीं लोगों के आँगन में स्वाधीनता के बाद बैठकें लगने लगीं। उनकी कोठियां बन गईं और दरवाजे पर मोटर भी आ लगी जिसे सैयदों को बर्दाश्त करना पड़ा। जो उनके लिए देखने के बावज़ूद मक्खी निगलने के समान था। राही इस मामले में नीची जातियों के साथ थे क्योंकि उनका मानना था कि प्रजातन्त्र और सामंती व्यवस्था एक साथ नहीं हो सकते। इस संबंध में डॉ कुँवरपाल सिंह कहते हैं- " राही जमींदारों के साथ नहीं है। जमींदारी टूटने को वह ऐतिहासिक परिवर्तन मानते हैं। वे संकेत देते हैं कि सदियों से सताये गये पीड़ित लोग ही अब समाज के नियन्ता होंगे। राही का समय की नब्ज पहचानने का अद्भुत सलीका है। अपने समय के होने वाले परिवर्तनों की पहचान के कारण ही राही एक बड़े रचनाकार के रूप में साहित्य में अपना स्थान बनाते हैं।"[6] जिस रचनाकार में समय की नब्ज को पहचानने की क्षमता होगी वही आनेवाले समय के परिवर्तनों को भी पहचान सकता है और उससे अपने पाठकों को भी अवगत करा सकता है। गोर्की, तॉलस्टाय, प्रेमचंद, शरतचंद्र, रवीन्द्रनाथ आदि रचनाकार इन्हीं कारणों से बड़े रचनाकार हैं और राही में भी ये गुण दिखाई पड़ते हैं।

देश में सांप्रदायिकता की समस्या से लड़ना इसलिए भी मुश्किल हो गया था क्योंकि पढ़े-लिखे मुस्लिम नौजवानों ने भी पाकिस्तान निर्माण को जायज माना था और खुलकर उसका समर्थन भी किया। आज भी इस सोच में कोई परिवर्तन नहीं आया है। हाँलाकि इस अंध श्रद्धा के कारण कई बुनियादी सवालों का या तो उनके पास जवाब ही न था या फिर जो जवाब और तर्क उनके पास थे वे अत्यंत हास्यास्पद थे जबकि ग्रामीण लोगों के पास पाकिस्तान बनने या न बनने के जो तर्क थे वे अधिक पुष्ट, अधिक रैशनल थे।

अलीगढ़ से आये अनवारुलहसन राक़ी के बेटे फ़ारुक़ से फुन्नन मियाँ के संवाद को देखा जा सकता है-

" काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का हाल है ?"

" वह तो बन रहा है।"

" काहे न बनिहे, भैया। तूँ कहि रइयो तो जरूर बनिये। बाक़ी ई गंगौली पाकिस्तान में जईहे कि हिन्दुस्तान में रईहे ?"

" ई तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में तो सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध और बंगाल होगा। और कोशिश कर रहें हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाय।"

" गंगौली के वास्ते ना न करिह्यो कोशिश ?"

" गंगौली का क्या सवाल है ?"

" सवाल न है त हमें पाकिस्तान बनने न बनने से का ?"

" एक इस्लामी हकूमत बन जायेगी।"

" कहीं इस्लामु है कि हुकूमतै बन जहिए। ऐ भाई, बाप-दादा की क़बर हियाँ है, चौक इमामबाड़ा हियाँ है, खेत-बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जायँ !"

" अंग्रजों के जाने के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा !"

" हाँ-हाँ, त हुये बा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो जैसे हिन्दुवा सब भुकाऊँ हैं कि काट लीहयन। अरे, ठाकुर कुँवरपाल सिंह त हिन्दूए रहे। झिंगुरियो हिन्दू है। ए भाई, ओ परसरमुवा हिन्दुए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरमज़दगी कीहन कि हम हज़रत अली का ताबूत न उठे देंगे, काहे को कि ऊ में शीआ लोग तबर्रा पढ़त हएँ त

परसरमुवा ऊधम मचा दीहन कि ई ताबूत उट्ठी और ऊ ताबूत उठा। तोरे जिन्ना साहब ताबूत उठवाये न आये !"[7]

फुन्नन मियाँ की यह तक़रीर ध्यान देने लायक है कि जब पुर्खे यहीं जन्में और मरे तो हिन्दुस्तान से कैसा बैर। कई हिंदू ऐसे थे जिन्होंने अपनी जान की परवाह किये बगैर मुसलमानों का साथ दिया, उनके पर्व-त्योहारों में शरीक हुए तो अब अचानक हिंदू दुश्मन कैसे बन गये। क्यों इस जमीं पर, जहाँ सदियों से मुसलमान हिंदुओं के साथ रहते आ रहे हैं, मुसलमानों का दम घुटने लगा। जिन्ना जिन्होंने इस्लाम की किसी बंदिश या नियम को नहीं माना मुसलमानों का मसीहा बन गये, सच्चे मुसलमान बन गये, अल्ला के भेजे हुए नुमाइंदे बन गये। साथ ही उपन्यास में वर्णित मुस्लिम लीग की यह तकरीर कितनी हास्यास्पद थी कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय को भी पाकिस्तान में किसी तरह शामिल किया जाय और पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी पाकिस्तान जाने के लिए भारत से गुजरता हुआ एक 'सेफ कॉरिडोर' भी दिया जाय। ऐसा बिल्कुल भी नहीं है कि केवल पढ़े-लिखे मुसलमान ही विभाजन के पक्षधर थे। कई पढ़े-लिखे हिंदुओं ने अपनी नासमझी से मुसलमानों को खुद से अलग होने का अहसास करा दिया जिस कारण मुसलमानों में यह बात गहरे जाकर बैठ गई कि इस देश के हिंदू उन्हें पसंद नहीं करते और आज़ादी के बाद उनकी स्थिति बद से बदतर हो जाने वाली है देश के बहुसंख्यक अपने व्यवहार के कारण अल्पसंख्यकों को यह विश्वास दिलाने में असफल रहे हैं कि वे भी इस देश के नागरिक है, समान अधिकार के हकदार हैं।

उपन्यास के पात्र मास्टर साहब के सांप्रदायिक विचार कहीं न कहीं इस ओर ही इंगित करते हैं कि जब शिक्षक ही ऐसी सोच रखेगा तो उसके छात्रों में मानवीय गुणों की स्थापना कैसे करेगा। स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज की यह एक बड़ी विडंबना थी कि शिक्षित जनसमुदाय भी सांप्रदायिक विचारों से ग्रस्त हो गया था। शिक्षक जो समाज को तैयार करता

है, आनेवाली नस्लों को तैयार करता है, देश का भविष्य निर्माण करता है, वही अगर सांप्रदायिक विचारों से ग्रस्त हो तो उनके छात्र प्रगतिशील विचारों और मानवतावादी मूल्यों के पक्षधर कैसे होंगे ? इसीलिए छिकुरिया भी यह तय करता है कि वह अपने बेटे को शहर के स्कूल में नहीं पढ़ायेगा। उपन्यासकार टिप्पणी करते हुए कहता है- " मगर मास्टर साहब से बात करके उसका दिल खट्टा हो गया। क्या शहर के स्कूल में यही अण्ट-शण्ट पढ़ाया जाता है ? उस दिन पीपल के पेड़ के नीचे विराजमान शिवजी के सामने देर तक बैठा-बैठा उनसे पूछता रहा कि मास्टर साहब को ये झूठी-सच्ची बातें किसने बतायी...।"[8] राही यह उभारते हैं कि शिक्षा का तात्पर्य घृणा और अनुदारता है तो ऐसी शिक्षा न ही मिले तो बेहतर। आज सांप्रदायिकता का जो तांडव गाहे-बगाहे रह-रहकर अपनी लीला दिखाता है उसके पीछे इसी घृणा और गैरजिम्मेदाराना शिक्षा-व्यवस्था का बड़ा योगदान है। चाहे हिन्दूत्ववादी हों या मुस्लिम लीगी भले ही ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी रहे हों लेकिन दोनों ने ही सांप्रदायिक विचारों का प्रसार किया और समाज के विभाजित करने में एक-दूसरे की सहायता ही की। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ कहते हैं- " राही मासूम रजा दोनों अतिवादी साम्प्रदायिक तत्वों को एक-दूसरे का सहयोगी और पूरक मानते रहे हैं। गोलवलकर और बुखारी अलग-अलग तेवर दिखाने के बावज़ूद एक-दूसरे को मजबूत ही करते हैं। आजादी मिलने के आसपास देश में हिन्दू साम्प्रदायिकता के उभार और उसके गांवों में भी जड़ ज़माने को 'आधा गांव' में चिन्ता के साथ देखा गया है।"[9] डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ के उपरोक्त कथन में देखा जा सकता है कि चाहे हिंदुत्ववादियों ने मुसलमानों का विरोध किया हो या फिर मुस्लिम कट्टरपन्थियों ने हिंदुओं का विरोध किया हो, कहीं न कहीं इससे सांप्रदायिक विचारधारा को ही फैलने का मौका मिला। इसी के कारण उदार हिंदुओं और मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग धीरे-धीरे सांप्रदायिक विचारधारा से ग्रसित होने लगा।

जब श्रद्धा अंधी हो जाती है तो वह भला-बुरा कुछ भी नहीं देख पाती। कुछ ऐसा ही विभाजन के पहले का माहौल था। भारतीय मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग यह मान बैठा था कि उनकी कौम का भला पाकिस्तान के बनने में ही है। पाकिस्तान निर्माताओं ने भी बड़े-बड़े ख़्वाब भारतीय मुसलमानों को दिखाये। जिनमें उन्हें 'हवाई जहाज द्वारा सीधे पाकिस्तान ले जाने' जैसी बातें भी थीं। कई लोग ऐसे भी थे जो पाकिस्तान निर्माण के कारणों को जानते भी न थे फिर भी उन्होंने वोट तो मुस्लिम लीग को ही दिये क्योंकि इससे उनके स्वार्थ सधते थे। हकीम साहब और तन्नू के आपस के वार्तालाप से यह देखा जा सकता है। हकीम साहब के यह पूछने पर कि क्या पाकिस्तान बनेगा या नहीं, तन्नू जवाब देता है-

" मैं लड़ने गया था, बाक़ी लग त ऐसा ही रहा कि पाकिस्तान बन जइहे।"

" त बन के का करिहे ?"

" ई बात त शायद जिनाँ साहब को भी नहीं मालूम है।" तन्नू ने कहा," आप किसको वोट दीजिएगा ?"

" वोट त मुसलिम लीगे को देवे को पड़िहे ?"

" क्यों ?"

" हादी और सद्दन की तरक्की का सवाल है। हादी सन् बयालीस में सरकार के साथ रहिन त माशाअल्लाह कलक्टर हो गये। खुदा चहिहे त सद्दनो कलक्टर हो जइहे।"[10]

हकीम साहब की उपरोक्त तकरीर से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वे स्वयं नहीं जानते कि आखिर पाकिस्तान के निर्माण की आवश्यकता क्या है ? पाकिस्तान बनेगा भी या नहीं ? लेकिन फिर भी वे मुस्लिम लीग को ही अपना वोट देंगे क्योंकि इससे उनके बेटों की तरक्की का मार्ग प्रशस्त होगा। यह हाल केवल हकीम साहब का ही नहीं था। कमोबेश हर पाकिस्तान के समर्थक का था जिनमें मुख्य रूप से उच्च वर्ग से ताल्लुक रखने वाले मुसलमानों

की संख्या अधिक थी। उच्चवर्गीय मुसलमानों के कुछ स्वार्थ जरूर थे जिनमें राजनैतिक एवं आर्थिक कारण प्रमुख थे। धर्म का तो सहारा लिया गया था। मुस्लिम समाज की इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए आलोचक मधुरेश कहते हैं- " देश की जातीय और धार्मिक अस्मिता का उभार, जो वस्तुत: ब्रिटिश कूटनीति का ही परिणाम थी, और हिंदू साम्प्रदायिकता बेशक इसके लिए जिम्मेदार थीं। लेकिन आगे चलकर ऐसे कारण भी पैदा होते गए कि जो मुसलमान पाकिस्तान नहीं मांग रहे थे वे भी इस मांग में शामिल हो गए। कांग्रेस की प्रांतीय सरकार ने सन्' **37** में, जब बंटाईदार कानून पास किया, तो कई मुस्लिम जमींदारों को यह लगा कि उनके हाथों से जमीन जाती रहेगी। और वे विभाजन के समर्थक हो गए। फिर दूसरे विश्वयुद्ध के आस-पास मुसलमान उद्योगपतियों को लगा कि वे बिरला और टाटा नहीं हो सकते और वे भी विभाजन के पक्ष में बोलने लगे। 'आधा गाँव' में राही मासूम रज़ा ने गंगोली के मुसलमान जमींदारों के इस मानसिक द्वन्द्व का अंकन बहुत प्रामाणिक रूप में किया है। क्रमश: बढ़ती हुई बदहाली में भी एक ओर उनके जीवन का ठस्सा और शान उन्हें चीजों से समझौता करने से रोक रही थी, दूसरी ओर परिवर्तित स्थितियों में गाँव में रह पाना उनके लिए कठिन हो रहा था।"[11] पाकिस्तान के बनने में सभ्रांत मुस्लिम परिवारों को अपना फायदा नजर आ रहा था जबकि पाकिस्तान के बनने-न बनने से किसानों और मजदूरों को कोई फर्क नहीं पड़ता था और इसके उदाहरण इस उपन्यास में कई स्थलों पर देखने को मिलते हैं। जब अलीगढ़ से आये हुए नौजवान कम्मो से पाकिस्तान निर्माण के पक्ष में दलील देते हुए यह कहते हैं कि आज़ादी के बाद जब हिन्दू उसकी माँ-बहन को निकाल ले जायेंगे तब क्या होगा तो कम्मो पास से गुजर रहे चमार को बुलाकर कहता है- " ई लोग अलीगढ़ से हमें ई बताये आये हैं की जब हिन्दुस्तान आज़ाद हो जईहे त तूँ लोग हमारे लोगन की माँ-बहिन निकाल ले जइहो।" इस बात पर चमार घबराते हुए कहता है- " आप लोग त लिक्खल-पढ़ल

बुझाताड़ी। तनी सोची की हमनी के जीयत कोउ मियाँ लोगन की बहिन-मतारी तरफ़ देख सकेला ?" इस पर कम्मो नौजवानों से मुखातिब होते हुए कहता है- " आप लोगन से अच्छा त हमरा ई चमरवे है। जो माँ-बहिन के निकाल लिए जाने की बात सुनकर राम-राम करने लगा।"[12] राही ने इस प्रसंग को उठाया है कि पाकिस्तान निर्माण के लिए जिन्ना और मुस्लिम लीग जिन तर्कों को गढ़ रहे थे वे इस कदर बेबुनियाद थे कि व्यवहारिक बातों के थपेड़ों के सामने वे तर्क भर-भराकर गिर पड़ते थे। कभी वे इस्लाम के अस्तित्व के खतरे की बात कहते हैं तो कभी बहन-बेटियों की इज्जत-आवरू की। पाकिस्तान पाने की चाहत में लोगों में दहशत का माहौल बनाने की लगातार कोशिश की गई। सांप्रदायिक विचारों का प्रचार किया गया। धर्म के नाम पर लोगों को भड़काया गया मगर विवेकवान और सच्चे धार्मिक लोगों के सामने उनकी दाल गल न सकी। जब अलीगढ़ के नौजवान हाजी साहब से यह कहते हैं कि नमाज़ के बचाव के लिए पाकिस्तान की जरूरत है तो हाजी साहब साफ तौर पर कहते हैं- " नाहीं मियाँ। हम त अनपढ़ गँवार हैं। बाक़ी हमारे ख़याल में निमाज खातिर पाकिस्तान-आकिस्तान की तनिको जरूरत ना है। निमाज के वास्ते खाली ईमान की ज़रूरत है। खुदाबन ताला साफ़-साफ़ फ़रमा दिहिस है की ऐ मेरे पैगम्बर कह द ई लोग से की हम इमानवालन के साथ हैं। अउरी कानी कउन त कहत रहा कि आप लोगन के जउन जिन्ना हैं ऊ निमाजो ना पढ़ते।"[13] हाजी साहब की इन बातों के सामने उन लड़कों की एक न चली और हार मानकर वे आगे चल देते हैं। मगर हाजी साहब की यह तकरीर कई बातें कह जाती हैं और साधारण ग्रामीण मुसलमान की पाकिस्तान संबंधी विचारों को भी देखने का मौका मिल जाता है। हाजी साहब का यह तर्क भी बड़ा जोरदार है कि क्या पाकिस्तान बन जाने पर मियाँ लोग जुलाहों के साथ रिश्ते-नाते रखने लगेंगे। क्या सचमुच ऐसा हुआ ? और अगर ऐसा नहीं हुआ है तो फिर पाकिस्तान बनाने की सार्थकता क्या रही ? तन्नू भी अलीगढ़ के नौजवानों की बातों का

विरोध करते हुए कहता है- "...गंगौली मेरा गाँव है। मक्का मेरा शहर नहीं है। यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियाँ का। खुदा को अगर अपने घर से प्यार है तो क्या वह माज़ल्ला यह नहीं समझ सकता कि हमें अपने घर से उतना ही प्यार हो सकता है। ... मैं कब कहता हूँ कि वह काबा नहीं है ? लेकिन लाहौर तो काबा नहीं है ना ?...नफ़रत और खौफ़ की बुनियादी पर बननेवाली कोई चीज़ मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिन्दुस्तान में रहेगा और गंगौली भी फिर गंगौली है। तब अगर गयवा अहीर, लखना चमार और छिकुरिया भर ने आपसे पूछा कि उन्होंने तो आपसे कभी दुश्मनी नहीं की थी, फिर आपने पाकिस्तान को वोट क्यों दिया तो आप इस सवाल का क्या जवाब देंगे ?"[14] तन्नू का यह सवाल बड़ा गंभीर था क्योंकि विभाजन के पहले भी भारतीय गाँवों और छोटे शहरों में हिंदू और मुसलमान के बीच खाई मौजूद न थी। साथ ही यह भी देखा गया है कि दंगों के दौरान कई हिंदुओं ने साहस दिखाते हुए मुसलमान परिवारों को अपने घरों में पनाह दी और कई मुसलमानों ने हिंदुओं के परिवारों को अपने घरों में पनाह दी।

ऐसा ही एक मौका उपन्यास में देखने को मिलता है जब बारिखपुर के जुलाहों, हज्जामों और कुछ पठानों पर स्वामी जी के भड़काने पर हिंदुओं का एक दल हमला करता है तो ठाकुर जयपाल सिंह अपने लोगों के साथ उन मुसलमानों की सुरक्षा के के लिए खड़े हो जाते हैं। ठाकुर साहब उस भीड़ को ललकारते हुए कहते हैं- " खैरियत ए ही में बाय की चल जा लोग ! का नवाखाली हई, बफ़तिया अउरी हई, दिलदरवा अउरी हई, कलुआ हिन्दू इसत्रियन के ख़राब किहले बाये ! बड़ बहादुर हव्वा लोग अउर हिन्दू मरियादा के ढ़ेर ख़याल बाये तूहरे लोगन के, त कलकत्ते लोहउर जाये के चाही। हियाँ का धरल बाय, की चढ़ अइला हौ लोग ?"[15] वह गाँव के मुसलमानों को भी गाँव छोड़कर जाने की बात कहने पर डाँट पिलाता है। वह साफ कहता है कि उसके रहते गाँव के मियाँ लोगों को कोई हाथ भी नहीं

लगा सकता। बलवा कहीं और हो और उसके कारण पुराने खुशगवार दिनों को भुलाकर अपने ही संगी-साथियों को मौत के घाट उतार दिया जाय। राही उस मिश्रित संस्कृति के पक्षधर थे जिस मिश्रित संस्कृति का उल्लेख दिनकर अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में करते हैं। यह वह संस्कृति थी जिसके निर्माण में कई युग बीत गये और कई जातियों का इसमें योगदान रहा। राही के संस्कृति संबंधी चिंतन पर प्रकाश डालते हुए डॉ कुँवरपाल सिंह कहते हैं- " राही राष्ट्रीय संस्कृति से धर्म को अलग रखते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि धर्म और जाति से राष्ट्र सर्वोपरि होता है। भारत जैसे राष्ट्र के लिए तो और भी यह बात प्रासंगिक जान पड़ती है। हिन्दुस्तान के निर्माण में बहुत सी जातियों, धर्मों और नस्लों तथा सम्प्रदायों का योगदान है। इसीलिए वे हिन्दुस्तानी समाज की एक धर्म अथवा संस्कृति पर आधारित किसी चीज की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।"[16] **'आधा गाँव'** में राही ने जिस समाज का चित्रण किया है वह इसी मिश्रित संस्कृति के ताने-बाने से बुना हुआ है। उन्होंने चित्रित किया है कि जहाँ एक ब्राह्मणी मोहर्रम के ताजिये की मन्नत मानती है वहीं मुसलमान परिवार में मान्यता है कि चेचक की बीमारी पर 'माता' आती हैं। जिस समाज में एक हिंदू के यहां मुसलमानों के पर्व-त्योहारों के प्रति इतनी श्रद्धा और मुसलमान के यहां हिंदू धर्म के प्रति इतनी भक्ति हो क्या उस समाज में हिंदू और मुसलमान के बीच भेद था या कुछ मौकापरस्त लोगों की आकांक्षाओं की भेंट भारत और पाकिस्तान के हजारों-लाखों लोग चढ़ा दिये गये ? यह सवाल बड़ा ही अहम है जिस पर हिन्दुओं और मुसलमानों को सोचना होगा।

उपन्यास के बीच में लेखक भूमिका देता है जिसे देखकर पाठक चौंक जाता है क्योंकि अबतक जितने भी उपन्यास लिखे गये हैं अमूमन उनमें भूमिका या तो होती ही नहीं या अगर होती है तो उपन्यास के प्रारंभ में होती है। राही ने उपन्यास के बीच में भूमिका देने के कारण का उल्लेख करते हुए कहा है कि विभाजन के बाद गंगौली में अब जिस स्थिति को

वे देख रहे हैं उस स्थिति को बयाँ कर पाना उनके लिए कठिन होता जा रहा है। साथ ही विभाजन भारत के लिए एक निर्णायक समय था, वह रेखा थी जिसने केवल देश को ही नहीं, समय को ही नहीं, बल्कि युग को भी बाँट दिया था। लेखक यह मानता है कि हर युग एक भूमिका की माँग करता है। विभाजन के बाद यह कहा गया कि अब जबकि पाकिस्तान अस्तित्व में आ चुका है और घोषित रूप से एक इस्लामी राष्ट्र बन चुका है तो ऐसी स्थिति में भारत में मुसलमानों के लिए कोई स्थान नहीं। ऐसे में राही जवाब देते हुए कहते हैं- " जनसंघ कहता है कि मुसलमान यहाँ के नहीं हैं। मेरी क्या मजाल कि मैं उसे झुठलाऊँ। मगर यह कहना ही पड़ता है कि मैं गाजीपुर का हूँ। गंगौली से मेरा सम्बन्ध अटूट है। वह एक गाँव ही नहीं है। वह मेरा घर भी है।"[17] यह तकरीर सिर्फ राही की नहीं थी बल्कि गाँव के ही फुन्नन मियाँ की थी, हम्माद मियाँ की थी, विभाजन के बाद हिंदुस्तान को ही अपना वतन माननेवाले लाखों मुसलमानों की थी।

विभाजन के बाद भारत में रहनेवाले मुसलमानों को यह अहसास हो गया कि पाकिस्तान का समर्थन करना उनकी सबसे बड़ी भूल थी। स्वयं जिन्ना विभाजन के बाद जब पाकिस्तान गये तो भारत में रहनेवाले तमाम मुसलमानों को उनकी तक़दीर के भरोसे छोड़ कर चले गये। उन्हें यह पैगाम दिया कि अब हिंदुस्तान ही उनका वतन है और इसके मुस्तकबिल के निर्माण में उन्हें भी सहयोग करना चाहिए। इससे वे भारतीय मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान निर्माण का समर्थन किया था, यह समझ नहीं पा रहे थे कि अब उनका भविष्य क्या होगा। न वे पाकिस्तान बनने की खुशियाँ मना पा रहे थे और न ही हिन्दुस्तान की आजादी के जश्न में शरीक हो पा रहे थे। इस मोहभंग का चित्रण करते हुए राही ने एक प्रसंग रचा है जहाँ हकीम साहब, शब्बर मियाँ, अग्गू मियाँ, जवाद मियाँ, फुस्सू मियाँ, अब्बू मियाँ आदि के बीच वार्ता-लाप चल रहा है। कम्मो का एक छोटा सा सवाल कई और सवाल खड़े कर देता है-

" ए साहब, सब हिन्दुओ पाकिस्तान को ओट दे देते तब ई जिन्ना साहब का करते !" यह सवाल कम्मों ने शब्बर मियाँ से किया।"[18]

यह ऐसा सवाल है जिसका जवाब विभाजन के किसी भी पक्षधर के पास न था।बहरहाल विभाजन हो ही गया और इस विभाजन ने दिलों में फाँक जरूर पैदा कर दी। विभाजन 'तनहाई' के अलावा और कुछ न ला सका।चारो ओर गम का माहौल और ख़ामोशी के सिवा कुछ भी नहीं था।यह तनहाई भारत की सामासिक संस्कृति को भुला देने के कारण उत्पन्न हुई थी।इस संबंध मे डॉ. पारूकान्त देसाई कहते हैं- " उपन्यास के आरम्भ में ही विभाजन की काली छाया का मंडराते जाने का संकेत लेखक ने दिया है।और ज्यों-ज्यों उपन्यास आगे बढ़ता जाता है, यह काली छाया फैलती जाती है और अन्ततोगत्वा वह गंगौली को(समूचे देश को)निगल लेती है।यह विभाजन देश के नक्शे पर खींची गयी भारत-पाकिस्तान की विभाजक रेखा ही नहीं, बल्कि वह रेखा है जो पहले कागज पर, फिर जमीन पर और अन्तत: पूरे देश के जीवन पर खिंच गयी ओर जिसने हिन्दुओं को अधिक हिन्दू और मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया।जिसने माँ-बाप से बेटे, बहनों से भाई, पत्नियों से पति ही अलग नहीं किये, बल्कि इंसान को जमीन से तोड़ दिया, इंसान को इंसान से तोड़ दिया।यह तन्नू, सद्दन, मिग्गे, दिलशाद जैसे गुब्बारों की कथा है जिनकी डोर वतन के हाथों से खिसक गयी और जो एक दोगली जिंदगी जीने के लिए विवश हैं।"[19] जीवन में एक अधूरापन आ गया और मुसलमानों की स्थिति तो और भी बुरी हो गयी।जमींदारियां छिन गईं और जीविका के लिए उन्हें वह सब करना पड़ा जो कल तक या तो गुनाह था या उस कार्य से उनकी साख़ पर बट्टा लगता था।कुछ ने परिस्थितियों के साथ समझौता कर लिया तो कुछ अपनी ज़मींदारी के रूआब से बाहर न आ सके।मगर अन्तत: उन्हें भी समझौता करना ही पड़ता है।इस तरह इस उपन्यास की कथा अन्त तक आते-आते मुसलमानों की दुर्दशा की

करुण गाथा में परिणत हो जाती है। इसी बीच हकीम साहब सद्दन की याद में तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। यहीं फुस्सू मियाँ को खबर मिलती है कि सय्यदा को बेटा हुआ है। एक अजीब सी स्थिति है। एक ओर मृत्यु तो दूसरी ओर जीवन। एक ओर दु:ख तो दूसरी ओर हर्ष, उल्लास। ऐसे में क्या किया जाय ? जीवन की खुशियाँ मनायी जाये या फिर मौत का मातम। मौत तब खूबसूरत हो जाती है जब पीछे कोई दर्द, पीड़ा या चिन्ता न हो मगर हकीम साहब के गुजर जाने के बाद सद्दन की पत्नी उसके बच्चों और उसकी विधवा बहन और बच्चों का क्या होगा ? यह सवाल सबके सामने है। केवल गंगौली के लोगों और हकीम साहब से जुड़े लोगों के सामने ही नहीं बल्कि पाठकों के सामने भी। क्या सद्दन पाकिस्तान से आकर उन्हें ले जायेगा ? या फिर उसकी पत्नी और बहन को भी कोई अपने घर में डाल लेगा ? फुस्सू मियाँ जब हकीम साहब के घर से बाहर निकलते हैं तो सामने गाँव के स्वाभाविक जीवन का बड़ा खूबसूरत नज़ारा है। फुस्सू मियाँ भी उसे देख रहे हैं लेकिन शायद यह सवाल उसके मन में भी चल रहा है। यहीं एक सवाल और भी उठता है कि आखिर इस स्थिति के लिए दोषी कौन है ? इसी सवाल के साथ उपन्यास का अंत हो जाता है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता हैं कि राही ने अपने उपन्यास मे विभाजन के पहले से लेकर विभाजन के बाद तक के भारतीय गांवों में पैर फैलाते सांप्रदायिक समस्या का चित्रण किया है। यह उपन्यास और भी कई समस्याओं को अपने साथ लेकर चलता है। गंगौली में सैयद मुसलमानों की समस्याओं को भी दिखलाया गया है। यह ऐसा गांव है जिसमें कई प्रकार की कुरीतियां मौजूद हैं। जमींदारी प्रथा है उसी से जुड़ा शोषण का चक्र भी है। गांव में अहीर है, चमार हैं, राकी है। गजालत के बीच सौंदर्य है और सौंदर्य के बीच गजालत, मगर उपन्यासकार को इन सभी से प्रेम है। अपने गांव से, गांव के लोगों से। मगर उपन्यासकार उन सभी कुप्रथाओं पर भी प्रहार करता चलता है जो समाज के लिए घातक हैं। पहले तो

अब्बू मियाँ द्वारा अपनी बेटी सईदा को अलीगढ़ पढ़ने के लिए भेजना और बाद में नौकरी करने देना सचमुच अपूर्व साहस की बात है। अगर सईदा ऐसे समाज से आयी होती जो वैचारिक रूप से उदार हो तो शायद कोई बड़ी बात न होती लेकिन उस समाज के लिए जिसमें औरत घर से बाहर अपनी डोली के बगैर निकलती भी नहीं उस समाज से बाहर निकलकर नौकरी करना क्रांतिकारी कदम था। वैसे ही मिगदाद का भी सैफुनिया से विवाह करना क्रांतिकारी कदम था। उपन्यास का अंत ऐसे मोड़ पर होता है जो भारतीय इतिहास का निर्णायक मोड़ था। अत्यंत ही सांकेतिक ढ़ंग से उपन्यास का अंत होता है। एक ओर नये बालक का जन्म नये युग के प्रारंभ होने का संकेत देता है तो दूसरी ओर हक़ीम साहब की मृत्यु एक युग की समाप्ति की ओर इंगित करती है। उपन्यासकार के शब्दों में कहें तो हर युग एक नयी भूमिका की माँग करता है और साथ ही अतीत की ओर देखते हुए कुछ प्रश्न छोड़ जाता है। वे प्रश्न हैं कि क्या नफरत की जिस बुनियाद पर भारत और पाकिस्तान बने, वे अपने अस्तित्व की सुरक्षा कर पायेंगे ? क्या इस देश से सांप्रदायिकता का खात्मा होगा ? जिन सवालों को राही अपने उपन्यास में उठाते हैं उनमें से कुछ का जवाब तो मिल चुका है। पाकिस्तान से अलग बांग्लादेश का निर्माण स्वयं यह सिद्ध करता है कि धार्मिक आधार पर किसी राष्ट्र का बंटवारा गलत है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि राही ने आलोच्य उपन्यास में पाकिस्तान निर्माण को गलत करार दिया क्योंकि जिन तर्कों के आधार पर पाकिस्तान खड़ा हुआ वे तर्क ही बेबुनियादी थे। साथ ही लेखक ने विभाजन के पश्चात मुस्लिम समाज के मन को परखने का सफल प्रयास किया है। विभाजन के बाद मुसलमानों के जीवन में आये हुए बदलावों को बड़ी ही कुशलता के साथ लेखक ने चित्रित किया है।

## 4.2. तमस

सांप्रदायिकता हमारे समाज के लिए वह कोढ़ है जिसने अंदर ही अंदर भारतीय समाज को रुग्ण बना दिया है। इसने दीमक की तरह समाज के मानवीय मूल्यों को चाट-चाटकर खोखला बना दिया है। हिंदी कथा साहित्य के इतिहास में भीष्म साहनी एक ऐसे कथाकार हैं जो समाज में सांप्रदायिकता के कारणों में केवल धार्मिक कारणों को ही नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारणों को भी वृहत परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं। कुछ कथाकार सांप्रदायिक दंगों और उनसे जुड़ी घटनाओं का चित्रण सुनी-सुनाई बातों के आधार पर करते हैं तो कुछ कथाकार ऐसे भी हैं जिन्होंने सांप्रदायिक दंगों को झेला, भोगा और उसके बाद उसे अभिव्यक्ति दी। भीष्म साहनी एक ऐसे ही कथाकार हैं जिन्हें सांप्रदायिक दंगों को बिल्कुल पास से देखने का अनुभव रहा है। भीष्म साहनी ने **'झरोखे'**, **'कड़ियाँ'**, **'तमस'**, **'बसन्ती'**, **'मय्यादास की माड़ी'**, **'कुन्ती'**, **'नीलू नीलिमा नीलोफ़र'** आदि उपन्यास लिखे हैं। सन् **1973** में भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' प्रकाशित हुआ। तमस शब्द का तात्पर्य है अंधकार। यह वह अंधकार है जो सबके दिलों में छाया हुआ है, जो भीतर ही भीतर मनुष्य के अंतःकरण पर अपना प्रभाव डाल कर उसकी समस्त मानवीयता को अपनी गिरफ्त में ले लेता है।

भारतीय मनीषा में अंधकार को असत् प्रवृत्ति का माना गया है। भीष्म साहनी के तमस उपन्यास को समझने की कुंजी इसी अंधकाररूपी असत् प्रवृत्ति में छिपी हुई है। उपन्यास का प्रारंभ ही यह संकेत देता है कि आनेवाले समय में कुछ गड़बड़ियां होनेवाली हैं। फ़िजा में ज़हर घुलना प्रारंभ हो गया है जिसकी झलक उपन्यास की प्रारंभिक पंक्तियों में देखी जा सकती है- " आले में रखे दिये ने फिर से झपकी ली। ऊपर, दीवार में, छत के पास से दो ईंटें निकली हुई थीं। जब-जब वहाँ से हवा का झोंका आता, दीये की बत्ती झपक जाती और कोठरी की दीवारों पर साये से डोल जाते। थोड़ी देर बाद बत्ती अपने-आप सीधी हो जाती

और उसमें से उठनेवाली धुएँ की लकीर आले को चाटती हुई फिर से ऊपर की ओर सीधे रुख जाने लगती। नत्थू का साँस धौंकनी की तरह चल रहा था और उसे लगा जैसे उसके साँस के कारण ही दीये की बत्ती झपकने लगी है।"[20] उपरोक्त उद्धरण में कोठरी की दीवारों पर जिन सायों की बात की गई है ये वही साये हैं जो शहर में गड़बड़ी फैलाना चाहते हैं। नत्थू का यह समझना कि उसकी साँस के कारण दीये की बत्ती झपक रही है, साफ तौर पर यह इंगित करता है कि इस कमरे के बाहर का वातावरण विषाक्त हो गया है। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा के लोग लगातार शहर में एक-दूसरे के खिलाफ़ विषवमन कर रहे हैं। कहीं-कहीं हिन्दू-मुसलमान-सिख के बीच आपसी भाईचारे की एक झीनी सी रोशनी बची है जो समय-समय पर सांप्रदायिक विचारों के थपेड़ों के कारण और भी मद्धिम हो जाती है। बस एक जोरदार हवा की जरूरत है और बची-खुची रोशनी भी बुझ जायेगी। इसे नत्थू भी जानता है लेकिन न तो उसे मुस्लिम लीग से कुछ लेना-देना है और न ही हिन्दू महासभा से। उसे तो बस जानवरों के चमड़े से लेना-देना है जो उसके जीवन-यापन का सहारा है और उसे तो डॉक्टर साहब के लिए सूअर मारना था जिसके लिए मुराद अली उसे पाँच रुपये देता है।

उपन्यासकार ने दर्शाया है कि ऐसे विषाक्त समय में कैसे वैमनस्य फैलाने वाले लोग कुचक्र रचते हैं जिसमें साधारण इंसान फँस जाता है। नत्थू ऐसा ही एक पात्र है जो मुराद अली की मंशा को भाँप नहीं पाता। वह तो सपने में भी सोच नहीं सकता कि मुराद अली सूअर को किसी और कार्य के लिए मरवा रहा है। मुराद अली जो मुसलमान है सूअर को मरवाकर मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवा देगा, यह तो कल्पना से परे की चीज है। दरअसल मुराद अली जैसे लोगों का न कोई धर्म है और न ही कोई जाति। वे तो बस अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने-करवाने को तैयार हो जाते हैं। मुराद अली अच्छी तरह जानता है कि सूअर को मारकर मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवाने का परिणाम क्या होगा। वह नत्थू को यह

कार्य आज ही करने का आदेश देता है तो दूसरी ओर यह भी कहता है-" इधर इलाका मुसलमानी है। किसी मुसलमान ने देख लिया तो लोग बिगड़ेंगे। तुम भी ध्यान रखना। हमें भी यह काम बहुत बुरा लगता है, मगर क्या करें, साहिब का हुक्म है, कैसे तोड़ दें।"[21] वह जानता है कि यह कार्य केवल किसी जानवर के प्राण लेने भर का नहीं बल्कि किसी की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाने का है। इस बात की किसी को भनक भी नहीं लग सकती कि सूअर किसी मुसलमान ने मरवाया-फिकवाया है। सबका शक हिंदुओं की ओर ही जायेगा। धर्म पर आये इस खतरे पर लोग भड़क उठेंगे और फिर वह सबकुछ होगा जो मानवीयता को शर्मसार करेगी। उपन्यास के अंत में मुरादअली शहर में अमन और शांति की अपील करनेवाली बस में सामने बैठकर माइक पर नारे लगाता भी देखा गया है। ऐसा नहीं है कि मुराद अली का हृदय-परिवर्तन हो गया है। सांप्रदायिक विचारों को फैलाने वाले लोग ऐसे ही मुखौटों में अपने असली चेहरे को छिपाकर रखते हैं। कभी धर्म के नाम पर, कभी अमन के नाम पर और कभी विकास के नाम पर लोगों के सामने आकर अपील करते हैं लेकिन भीतर ही भीतर लोगों को आपस में लड़ाना और आपसी भाईचारा समाप्त कर देना, ऐसे लोगों का प्रमुख ध्येय होता है ताकी वे अपने स्वार्थों की पूर्ति कर सकें।

भीष्म साहनी ने भारतीय समाज के उस दौर का चित्रण अपने उपन्यास में किया है जब मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच खाई बहुत गहरी हो गई थी। घोषित रूप से मुस्लिम लीग मुसलमानों की पार्टी बन चुकी थी और वह यह प्रचार कर रही थी कि कांग्रेस हिंदुओं की पार्टी है। इन दोनों के बीच अलगाव पैदा करने की कोशिश औपनिवेशिक शासकों द्वारा की जा रही थी। मगर अब भी कुछ मुसलमान ऐसे थे जो कांग्रेस के साथ थे लेकिन मुस्लिम लीग के समर्थक उन्हें मुसलमानों के दुश्मन के रूप में देखती थी। जो मुसलमान कांग्रेस के साथ थे उन्हें मुस्लिम लीग के समर्थक हिकारत की नज़र से देखते थे। यहां तक की मौलाना

अबुल कलाम आजाद को भी मुस्लिम लीगी हिंदुओं का कुत्ता समझते थे।इनके राजनीतिक संदर्भों को भीष्म साहनी ने इस प्रकार दिखलाने का प्रयास किया है-

> " हिन्दुस्तान की आजादी हिन्दुओं के लिए होगी, आजाद पाकिस्तान में ही मुसलमान आजाद होंगे। "[22]

स्वतंत्रतापूर्व के भारतीय समाज में अंग्रजों का सफलतापूर्वक अपना शासन चला पाने का मूलमंत्र भी यही था।अंग्रेज लगातार भारतीयों की एकता खत्म करने का प्रयास करते रहे और भारतीयों ने अपनी नासमझी का उदाहरण देकर अंग्रेजों के कुचक्रों को कामयाब होने में मदद की।औपनिवेशिक शासन एक नीति के तहत देश के लोगों को विभाजित कर रहा था।रिचर्ड, जो एक अंग्रेज हुक्मरान है और इतिहास का छात्र भी है, इस बात को अच्छी तरह जानता है कि भले ही हिन्दुस्तानियों के धर्म अलग-अलग हों लेकिन ये सब एक ही नस्ल के लोग हैं।रिचर्ड अपनी पत्नी लीजा को बताते हुए कहता है-" नहीं, नहीं, लीज़ा, यही बात लोग भूल जाते हैं।" रिचर्ड की आवाज में उत्तेजना आ गयी थी, मानो वह अपनी किसी खोज को प्रमाणित करने जा रहा हो।" जो लोग मध्य-एशिया से सबसे पहले यहाँ आये, शताब्दियों के बाद उन्हीं के नाती-पोते अन्य देशों से इधर आये।नस्ल सबकी एक ही थी।वे लोग जो आर्य कहलाते थे और लगभग एक हजार वर्ष पहले यहाँ पर आये-एक ही नस्ल के लोग थे।सभी एक ही मूल जाति के लोग थे।"[23] लीज़ा के पूछने पर कि यह बात तो हिन्दुस्तानी भी जानते होंगे रिचर्ड जवाब देता है- " यहाँ के लोग कुछ नहीं जानते।ये वही कुछ जानते हैं जो हम इन्हें बताते हैं।" फिर थोड़ी देर तक मौन रहकर बोला, " ये लोग अपने इतिहास को जानते नहीं हैं, ये केवल उसे जीते भर हैं।"[24] रिचर्ड की उपरोक्त बातों में देखा जा सकता हैं कि अंग्रेजों ने इतिहास का जो पाठ भारतीयों को पढ़ाया उसे आज तक भारतीय ढो रहे हैं जिसका परिणाम यह हुआ है कि सांप्रदायिक समस्या घटने की जगह और

भी बढ़ती गयी है। धर्म आधारित इतिहास को भारतीयों ने भारत का इतिहास मान लिया। नवीन खोजों और तथ्यों को न तो शामिल किया और न ही उनका प्रचार किया। शासक वर्ग के लिए इससे अच्छी कोई और बात हो ही नहीं सकती। आज भी जिन हाथों में भारत का मुस्तकबिल है, वे भी इतिहास संबंधी नवीन खोजों और आविष्कारों को शिक्षा के क्षेत्र में शामिल नहीं करना चाहते क्योंकि इन्हीं के आधार पर समाज बँटा हुआ है जिसपर शासक वर्ग अपनी राजनीतिक रोटियां सेंक पाता है।

रिचर्ड की हिन्दुस्तानियों के संबंध में कुछ बंधी-बंधायी मान्यताएँ हैं। वह मानता है कि हिन्दुस्तानी चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं, छोटी-छोटी बातों पर भड़क उठते हैं, धर्म के नाम पर मरने-मारने के लिए तैयार हो जाते हैं। रिचर्ड इस बात को बखूबी समझ पा रहा है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में तनातनी बढ़ रही है जिसके कारण कभी भी गड़बड़ी फैल सकती है लेकिन वह यह भी जानता है कि इससे उसे कोई खतरा नहीं है। लीजा के साथ उसके वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि एक प्रशासक होकर भी वह हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ने से रोकना नहीं चाहता-

" क्या गड़बड़ होगी ? फिर जंग होगी ?"

" नहीं, मगर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच तनातनी बढ़ रही है, शायद फसाद होंगे।"

" ये लोग आपस में लड़ेंगे ? लन्दन में तो तुम कहते थे कि ये लोग तुम्हारे खिलाफ लड़ रहे हैं।"

" हमारे खिलाफ भी लड़ रहे हैं और आपस में भी लड़ रहे हैं।"

" कैसी बातें कर रहे हो ? क्या तुम फिर मजाक करने लगे ?"

" धर्म के नाम पर आपस में लड़ते हैं, देश के नाम पर हमारे साथ लड़ते हैं।" रिचर्ड ने मुस्कुराकर कहा।

" बहुत चालाक न बनो, रिचर्ड।मैं सब जानती हूँ।देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं, और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो।क्यों, ठीक कहा ना ?"

" हम नहीं लड़ाते, लीजा, ये खुद लड़ते हैं।"

" तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो।आखिर हैं तो ये एक ही जाति के लोग।"

रिचर्ड को अपनी पत्नी का भोलापन प्यारा लगाउसने झुककर लीजा का गाल चूम लिया। फिर बोला :

" डार्लिंग, हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उसकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।"[25]

रिचर्ड की उपरोक्त बातों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह भले ही एक इतिहासवेत्ता के रूप में यह जानता हो कि हिन्दुस्तानियों में धर्म के अलावा और किसी चीज के कारण असमानता नहीं है लेकिन एक प्रशासक और ब्रिटिश शासन के नुमाइंदे के तौर पर वह यही चाहता है कि हिन्दुस्तानियों में आपस में झगड़े होते रहें जिसका लाभ वे समय-समय पर लेते रहेंगे या फिर मूक दर्शक बनकर नज़ारों का मज़ा लेंगे।आज भी कमोबेश यही अवस्था बनी हुई है।जॉन की जगह सेवक शासन चला रहा है लेकिन नीतियाँ वही हैं।रिचर्ड लीज़ा से कह भी देता है- " मैं उनसे कहूँगा तुम्हारे धर्म के मामले तुम्हारे निजी मामले हैं, इन्हें तुम्हें खुद सुलझाने चाहिए।सरकार तुम्हारी मदद के लिए पूरी तरह से तैयार है।"[26] मगर जब

शहर में अमन और चैन कायम करनेवाले लोगों का दल रिचर्ड से मिलने के लिए आता है और यह दरख़्वास्त करता है कि सरकार की तरफ से फौरन ऐसी कार्रवाई की जानी चाहिए जिससे स्थिति काबू में आ सके, शहर में फौज की चौकियाँ बैठा दी जायें, पुलिस गश्त करने लगे और कुछ नहीं तो हवाई जहाज शहर के ऊपर से उड़ जाये तो भी हालात काबू में आ सकते हैं, रिचर्ड सभी बातों पर अपनी असमर्थता की बात कह देता है। दरअसल भीतर से वह चाहता है कि हालात बेकाबू हों, लोग आपस में लड़ें-मरें, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई और भी गहरा जाय, फिर कोई कार्रवाही की जायेगी। इससे ब्रिटिश शासन को लोगों की निष्पक्षता का भी पता चल जायेगा और इसी बहाने लोगों की सहानुभूति भी मिल जायेगी। उपन्यास में लीजा की उपस्थिति बड़ी ही अर्थपूर्ण है और उपन्यासकार के ध्येय को पूरा करने में मदद देती है। लीजा के लिए हिन्दुस्तानियों में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख आदि को पहचान पाना अत्यंत कठिन है। वह रिचर्ड द्वारा बताये गये पहचान चिन्हों के द्वारा लोगों के धर्म को जानने की कोशिश करती है लेकिन वह सफल नहीं हो पाती। साथ ही कई बार वह रिचर्ड से जब दंगों को रोकने के लिए कहती है तो रिचर्ड के जवाब से उसके और अंग्रजी हुकूमत की मंशा भी उजागर हो जाती है। लीजा रिचर्ड से खुलकर कहती है कि वह हिन्दुस्तानियों को लड़ने से रोकने के बज़ाय उन्हें लड़ाता है। रिचर्ड की इस नौकरी के कारण ही लीजा और रिचर्ड के संबंधों के बीच दरार पैदा हो गई है। शहर में हो रहे दंगों से वह तनिक भी विचलित नहीं होती। उसके लिए यह जीवन बोरियत से भरा है और लोगों की मदद करना उसके लिए एक 'एक्साइटमेंट' से ज्यादा कुछ भी नहीं।

उपन्यास में कुछ ऐसे भी पात्र हैं जो अंग्रेजों के इन कुचक्रों को समझ पा रहे थे लेकिन यह दौर ऐसा था और लोगों के दिमाग पर पागलपन का भूत कुछ इस प्रकार सवार था कि इनकी बातों को सुनकर भी अनसुना कर दिया गया। ये क्षण ही ऐसे होते हैं जब

विवेकवान व्यक्ति भी अपने होशोहवास खो बैठता है। चारों ओर मार-काट, हिंसा, आगजनी देखकर मनुष्य का दिमागी संतुलन भी बिगड़ जाता है। उपन्यास का पात्र जरनैल भले ही मानसिक रूप से अस्वस्थ हो लेकिन विचारों से स्वस्थ है। शायद उसकी मानसिक अस्वस्थता ही उसके विचारों के स्वस्थ होने का कारण है। अपनी बातों को खुलकर कहने में उसे कोई हर्ज नहीं। इसका परिणाम भी उसे अपनी जान गँवाकर भुगतना पड़ता है। जरनैल की हत्या उन मानवतावादी मूल्यों की हत्या है जिनका समाज में कोई स्थान नहीं रह गया है। दरअसल उपन्यासकार जरनैल जैसे लोगों के माध्यम से यह दिखाना चाहता है कि सांप्रदायिक विचारों से लोहा लेने के लिए भी एक सनक की आवश्यकता है। सनक की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि आज विवेकवान व्यक्ति ऐसे समय पर चुप्पी साधना ही बेहतर मानता है। उसका विवेक ऐसी परिस्थितियों का मुकाबला करने के बजाय स्वयं को इसमें ढ़ाल लेने के लिए प्रेरित करता है। ऐसे विषाक्त वातावरण में स्वस्थ मानसिकता के लोग भी या तो चुप्पी साधने में अपना हित समझते हैं या फिर सांप्रदायिक विचारों से ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसे माहौल में जरनैल जैसे लोग ही बाहर निकलकर कौमी एकता फैलाने, शासकों के कुचक्रों से लोगों को अवगत कराने का साहस दिखा सकते हैं। शासन ऐसे लोगों को पसन्द नहीं करता इसलिए ऐसे इक्का-दुक्का लोगों को अपने प्राण गँवाने ही होंगे लेकिन अगर ऐसे लोगों की एक बड़ी जमात हो तो शायद शासन के भी पैर उखड़ जायें। मगर सवाल उठता है कि यह साहस करेगा कौन ? डॉ कुँवरपाल सिंह कहते हैं- “ भीष्म साहनी एक जागरूक लेखक हैं। वे साम्प्रदायिकता की राजनीति का विश्लेषण करते हुए इसके लिए शोषक-शासक वर्ग को जिम्मेदार मानते हैं, जो अपने सत्ता-लाभ के लिए लोगों को जाति, धर्म और सम्प्रदायों में बाँट देते हैं। अफसोस की बात तो यह है कि आजादी के कई दशकों के बाद भी हमारे देश और समाज में यह काली छाया बराबर छाई हुई है और इसके घटाटोप में लोगों का जीवन जीना

दुश्वार हो रहा है। ...कथाकार भीष्म साहनी अपनी कहानियों के माध्यम से यह संदेश देते हैं कि साम्प्रदायिकता से मुकाबला करने के लिए जन-संघर्षों का होना तो लाजिमी है ही, कला और साहित्य का हस्तक्षेप भी आवश्यक है।"[27] कला और साहित्य भी जनमानस में चेतना फैलाने में अहम भूमिका अदा करते हैं इसलिए यह आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के माध्यमों का उपयोग करते हुए और खतरे मोल लेते हुए जनमानस को संघर्ष की ओर मोड़ें तभी सांप्रदायिकता की समस्या का निवारण संभव है और तभी कलाकारों और साहित्यकारों की जनपक्षधरता भी प्रमाणित होगी। केवल मौखिक रूप से अपनी जनपक्षधरता का डंका पीटने से कुछ भी हासिल नहीं होगा।

इन स्थितियों के लिए भीष्म साहनी केवल मुसलमानों और अंग्रजों को ही दोषी नहीं मानते। वे हिन्दुओं को भी इसके लिए दोषी मानते हैं, खासकर उग्र हिन्दुत्ववादियों को। उपन्यास में वानप्रस्थजी जैसे चरित्र भी हैं जो वैसे तो पुण्यात्मा बने फिरते हैं लेकिन भीतर ही भीतर हिन्दुओं को अपने भड़काऊ भाषणों के द्वारा उकसाते हैं। वानप्रस्थजी देवव्रत जैसे युवकों का दल बनाकर तथाकथित मुसलमान शत्रुओं से मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार करते हैं। यह सब उनकी देख-रेख में ही संपन्न होता है। इसके साथ ही वे शहर के लोगों को दुश्मनों का मुकाबला करने के लिए भी तैयार रहने की नसीहत देते हैं- " सबसे पहले अपनी रक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सभी सदस्य अपने-अपने घर में एक-एक कनस्तर कड़वे तेल का रखें, एक-एक बोरी कच्चा या पक्का कोयला रखें। उबलता तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अंगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं..."[28] मगर यही वानप्रस्थजी शहर के अन्य सज्जनों के साथ डिप्टी-कमिश्नर के पास शहर में अमन-शांति की बहाली के लिए नहीं जाते क्योंकि " ...आध्यात्मिक उपदेश देनेवाले, और सफेद बाना पहननेवाले वानप्रस्थी का यह काम नहीं है कि दुनियावी बखेड़ों में गृहस्थियों के साथ घिसटते फिरें।"[29] दरअसल ऐसे

लोग चाहते ही नहीं कि अमन और शांति फैले, क्योंकि अगर ऐसा हुआ तो उनके पास न तो अंधे अनुयायी होंगे और न ही उनके मठ और मंदिर की दुकानें चल पायेंगी। कुल मिलाकर यदि कहा जाय तो यह कहना गलत न होगा कि विभाजन के लिए तत्कालीन शासन तंत्र तथा हिंदू और मुसलमान तीनों ही दोषी हैं। इस स्थिति पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. मुफ़ख़्ख़र एहतिशाम जुबैरी कहते हैं- "शिक्षा और राजनैतिक चेतना के अभाव में भारतीय मुसलमान प्रगति-पथ पर हिन्दुओं से पीछे रह गये थे। कांग्रेस के हिन्दू सदस्यों की अधिकता के कारण अधिकांश अधिकार हिन्दुओं को ही प्राप्त हुए थे। प्रतिक्रिया स्वरूप प्रबुद्ध मुसलमानों में भी अपनी जाति को संगठित करने की भावना का जागरण हुआ। मुस्लिम लीग का उदय उनकी आकांक्षाओं के प्रस्फुटन का ही परिणाम था। अंग्रेजों एवं कांग्रेस दोनों द्वारा ही आकांक्षापूर्ति न हो सकने के कारण मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग पाकिस्तान का समर्थक बनता गया। हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थानवादी संगठनों ने भी साम्प्रदायिकता के विष-वृक्ष को और भी मजबूत बनाने वाले परिवेश, निर्माण में सक्रिय भूमिका निभायी और धीरे-धीरे साम्प्रदायिक विद्वेष अत्यन्त तीखे तेवर और आक्रामक मुद्रा में मुखरित हुआ।"[30] तत्कालीन समय में अपने पिछड़ेपन का कारण मुस्लिम समाज ने हिन्दुओं और शासक वर्ग को मान लिया जबकि स्वयं की परंपरागत सोच को बदलने की कोशिश नहीं की। दूसरी ओर हिंदुत्ववादी शक्तियों के व्यवहार ने मुसलमानों की इस सोच को और भी पुख्ता किया। ऐसे में सांप्रदायिक विचारों को जन्म लेने का अनुकूल माहौल मिला जिसने कालान्तर में विभाजन तक की यात्रा की। यह यात्रा विभाजन की दहलीज पर आकर खत्म न हुई बल्कि उसके बाद अनवरत चलती रही।

वानप्रस्थजी जैसे लोगों से ही शिक्षा पाकर मास्टर देवदत्त जैसे लोग समाज में दूसरी कौम के लोगों के प्रति मिथ्या तथ्यों का प्रचार करते हैं। मास्टर देवदत्त का शिष्य इन विचारों के कारण ही मुसलमानों के प्रति अपने मन में घृणा का भाव रखता है। " मास्टरजी के

ही मुँह सेउसने सुना था कि वेद में सब लिखा है, विमान बनाने का ढंग, बम बनाने का ढंग। उन्हीं के मुँह से योगशक्ति की महिमा भी सुनी थी।" जिस मनुष्य में योगशक्ति है वह सबकुछ कर सकता है। हिमालय की तलहटी पर एक योगीराज योग साधना कर रहे थे। उन्हें सिद्धि प्राप्त थी। एक दिन जब वह समाधि में थे तो एक मलेच्छ उनकी समाधि भंग करने के लिए वहाँ जा पहुँचा। मलेच्छ तो गन्दे लोग होते हैं, मलेच्छ नहाते नहीं, पखाना करके हाथ नहीं धोते, एक-दूसरे का झूठा खा लेते हैं, समय पर शौच नहीं जाते, तो वह गन्दा मलेच्छ योगीजी के सामने खड़ा उन्हें घूरता रहा। उसकी कलुषित छाया पड़ने की देर थी कि योगी-जी ने अपने नेत्र खोले, आँखों में से ऐसी दैवी ज्योति निकली कि मलेच्छ वहीं खड़ा-खड़ा भस्म हो गया। ..."[31] इस प्रकार मुसलमानों के खिलाफ विषवमन किया गया जिससे रणवीर जैसे युवकों के मन में मुसलमानों के लिए घृणा के अलावा कुछ भी नहीं बचता। रणवीर दीक्षा लेने के लिए जिस रूप से मुर्गी की हत्या करता है वह बड़ा ही घृणित है। वही रणवीर हलवाई पर चाकू चलाता है जिसका उसे कोई मलाल नहीं, यह वही रणवीर है जो दीक्षा लेने के पहले मुर्गी को मारते वक्त काँपता है, उल्टी कर देता है।

इन दंगों का असर उन लोगों पर भी पड़ा है जो थोड़े-बहुत मानवीय मूल्यों से भरे हुए हैं। शाहनवाज एक ऐसा ही पात्र है जो इन दंगों के समय शहर में मुस्लिम बहुल इलाकों में रहनेवाले अपने हिन्दू दोस्तों को आनेवाली मुसीबतों से बचाता है और सुरक्षित स्थल पर ले जाता है। अपने मित्र रघुनाथ के प्रति मित्रता का सच्चा फर्ज वह अदा करता है। रघुनाथ की पत्नी शाहनवाज के सामने बिना घूँघट के आती है। रघुनाथ के सभी मित्रों में केवल शहनवाज ही ऐसा मित्र है जिसके सामने उसकी पत्नी बिना घूँघट के आ जाती है। रघुनाथ को भी इस बात पर गर्व है कि उसका सबसे अच्छा मित्र एक मुसलमान है लेकिन शहर में मुसलमानों के खिलाफ हो रहे कुकृत्यों ने शहनवाज के मन में एक टीस पैदा कर दी

है। इसी कारण वह रघुनाथ के नौकर मिलखी को पीछे से लात मारकर लगभग मृतप्राय कर देता है। मगर रघुनाथ के लिए उसके मन में कोई बैर नहीं है। वह रघुनाथ के ससुरालवालों को भी हिफाजत के साथ सुरक्षित स्थल पर पहुँचा देता है और अपने लड़कों से उनके घर की रखवाली करने को कह जाता है।

उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इन दंगों में उन लोगों का कुछ भी नहीं बिगड़ता जो धनाढ्य हैं। सर्वाधिक क्षति उन लोगों की होती है जिन्हें दो वक्त की रोटी का जुगाड़ करने के लिए घर से बाहर निकलना पड़ता है। ऐसे लोग ही दंगों की चपेट में बड़ी ही जल्दी आ जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि ऐसे ही लोग 'सॉफ्ट टार्गेट' होते हैं तो गलत न होगा। नानकू, मिलखी, गुरखा आदि ऐसे ही पात्र हैं जिनके मकान मालिक अपनी जान बचाने के लिए सुरक्षित स्थलों के लिए चले जाते हैं और घर की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने नौकरों को सौंप जाते हैं। इन नौकरों के प्राणों का क्या ? ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इन लोगों के प्राण ही नहीं होते या फिर ये इंसान ही नहीं हैं। आलोचक गोपाल राय इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- " इस लड़ाई के शिकार हिन्दू और मुसलमान नेता नहीं होते, फतहचन्द की टाल पर काम करनेवाला मजदूर कश्मीरी हत्तो होता है, गली-गली दूध बेचने वाला मियाँ होता है, बूढ़ा हरभजन सिंह होता है, इकबाल सिंह होता है और सैदपुर जैसे गाँवों के लोग होते हैं, जहाँ पुरुष मारे जाते हैं और औरतें बच्चों को लेकर कुएँ में कूद जाती हैं।"[32] उपन्यासकार ने मुसलमान इत्रफरोश की हत्या का बड़ा ही हृदय विदारक चित्र उपन्यास में खींचा है। इत्रफरोश हिन्दू महासभा के सदस्य इन्द्र के हाथों मारा जाता है जब इन्द्र घात लगाकर गली के मुसलमान परिवार के लोगों पर हमला करने की फिराक में होता है। इत्रफरोश यह समझ कर कि ऐसे समय में एक बच्चा घर से बाहर आ गया है और भयभीत हो गया है, इन्द्र को हिफ़ाज़त के साथ ले जाता है लेकिन अचानक जब इन्द्र वार करता है तो

इत्रफरोश हक्का-बक्का रह जाता है। तत्काल उसकी मृत्यु हो जाती है। उपन्यासकार कहता है- " इत्रफरोश इतना घबरा गया था कि उसके मुँह से बोल नहीं फूट रहा था। वह कमर में लगे जख्म से इतना नहीं मर रहा था जितना त्रास और भय से और भोले बालक द्वारा किये गये हमले से।"[33] एक क्षण के लिए पाठकों को भी गहरा धक्का लगता है जब इत्रफरोश मारा जाता है। इसी प्रकार स्कूल का चपरासी भी मारा जाता है और भिश्ती भी जो शेख के प्यास से बिलबिलाते बच्चों के लिए पानी लाने के क्रम में मारा जाता है। ये सभी पात्र उपन्यास मे ईमानदारी और मनवीयता से भरे पात्र है लेकिन इन्हें अपनी जान दंगों में गँवानी पड़ती है। इनका पाकिस्तान बनने न बनने से कोई लेना-देना न था लेकिन ऐसे ही लोग दंगाइयों के 'प्राइम' या 'सॉफ्ट टार्गेट' हुआ करते हैं।

उपन्यास के दूसरे भाग में हरनामसिंह और उसके परिवार की कथा सांप्रदायिक दंगों के विभत्स चेहरे को उजागर करती है। एक ओर हरनामसिंह के जीवन में तेजी से बदलाव आ जाता है " कितनी जल्दी सबकुछ बदल गया था। बीस साल तक एक जगह में रहने के बाद पलक मारते वे परदेसी और बेघर हो गये थे।"[34] वहीं दूसरी ओर उसकी बेटी को कुएँ में कूदकर अपनी जान देनी पड़ती है। तीसरी तरफ उसके बेटे इकबाल सिंह को शेख इकबाल अहमद बना दिया जाता है। इकबाल सिंह से इकबाल अहमद बनने की यात्रा भी दर्द नाक है और एक भयावक अनुभव भी। इस दौरान जिस अमानवीय ढंग से इकबाल सिंह को शेख इकबाल अहमद बनाया जाता है, बार-बार यह बात मानस में कौंधती है कि क्या यही धर्म है ? और अगर नहीं तो ऐसा कृत्य करनेवाले धार्मिक, सच्चे धार्मिक कैसे कहे जा सकते हैं ? उपन्यास में सोहनसिंह और मिगदाद ऐसे पात्र है जो इन दंगों के पीछे मौजूद कारकों को जानते हैं और अपनी ओर से भरसक प्रयास करते हैं कि किसी तरह दोनों धर्मों के लोगों को

समझाया जा सके और एकता स्थापित की जा सके लेकिन उनकी कोई भी नहीं सुनता और अन्ततः उन्हें भी अपने प्राण गँवाने पड़ते हैं।

जब दंगे हो रहे हैं और हिन्दू-सिख मुसलमानों को ललकार रहे हैं तभी अचानक आकाश पर एक हवाई जहाज उड़ता हुआ नज़र आता है। दंगे खत्म हो जाते हैं। उपन्यासकार कहता है- " जिस-जिस गाँव पर से हवाई जहाज उड़ता गया, वहीं पर ढोल बजने बन्द हो गये, नारे लगाये जाने बन्द हो गये। आगजनी और लूटपाट बन्द हो गयी। "[35] मगर एक सवाल जरूर रह जाता है कि आखिर यह पहले क्यों न हुआ ? दंगों में जिनकों जान-माल की क्षति हुई क्या इसे रोका नहीं जा सकता था। बहरहाल दंगे खत्म हुए और फिर शुरुवात हुई रिलीफ की। बाहर रिश्ते टूट चुके थे मगर भीतर ही भीतर बहुत कुछ टूट चुका था। इन दंगों ने सचमुच इंसान को पत्थर बना दिया था। दंगों के दौरान विस्थापित लोगों के लिए सबसे बड़ी समस्या थी अपना घर-परिवार फिर से बसाना, रोटी-कपड़ा ओर मकान की व्यवस्था करना लेकिन यह हो भी तो कैसे ? रुपये थे नहीं, अगर होते तो यह हालत ही क्यों होती। इसलिए अब शर्म-हया और इंसानियत को त्याग कर लोग उन इलाकों में जाना चाहते थे जहाँ उनके परिवार वाले मारे गये थे ताकि परिवारवालों की लाशों पर से जवाहरात वगैरह लेकर किसी तरह गुजर-बसर हो सके। रिलीफ कमेटी के बाबू से एक सरदारजी इसी बात पर जिरह कर बैठता है- " यह तुम मुझ पर छोड़ दो वीरजी, मैं कड़े देखकर ही पहचान लूँगा। पाँच-पाँच तोले का एक कड़ा है। गले में सोने की जंजीरी है। अब घरवाली डूब मरी, जो सबके साथ हुई है, वह मेरे साथ भी हुई है, पर ये कड़े और जंजीरी मैं कैसे छोड़ दूँ ? क्यों वीरजी ?"[36] अगर लाश फूल गई हो तो कड़े हाथों से निकालने के लिए वह धन्ना-हथौड़ी भी साथ ले जाना चाहता है। इससे यह साफ पता चलता है कि अब लोगों के दिलों में भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। रहा है तो बस अपने अस्तित्व का ख़याल। इसी कारण

विजेन्द्र नारायण सिंह कहते हैं- " तमस कहाँ नहीं है ? बाबू को केवल आँकड़े चाहिए, उसे दर्द में कोई दिलचस्पी नहीं है। सरदार जी को पत्नी के डूबने का गम नहीं है, गम है तो पाँच-पाँच तोले के कड़ों का साथ चले जाने का। अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर को कुएँ में डूबी औरतों में कोई दिलचस्पी नहीं है, दिलचस्पी केवल कुँए के पास के लार्क पक्षी में है। यह सौंदर्यबोध की अमानुषिकता है। तमस कहाँ नहीं है ? उनकी रचनात्मकता का स्त्रोत इसी तमस की तलाश में निहित है। उनका रचनाकार यह महसूस करता है कि अंधकार चतुर्दिक है। उपनिवेश में रहनेवाले देशी लोगों के हृदय में तमस है। उपनिवेशवादियों का तमस और देशी लोगों का तमस मिलकर एकाकार हो जाता है। ...अन्धकार केवल यूरोपीय ही नहीं वरन गैर-यूरोपीय भी है।"[37] यह बात साफ जाती है कि अब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सुलह का कोई रास्ता न रह गया था। इसलिए शहरों में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेजी से फैलने लग गयी। मुसलमान, मुसलमानों के इलाकों में रहने लगे और हिन्दू, हिन्दू बहुल इलाकों में। बाबू पृथ्वीचंद से मुंशीराम यही तकरीर करता है- " क्या बात करते हो बाबूजी, अब यह ख्याल ही दिमाग से निकाल दो। अब हिन्दुओं के मुहल्ले में न तो कोई मुसलमान रहेगा और न मुसलमानों के मुहल्ले में कोई हिन्दू। इसे पत्थर की लकीर समझो। पाकिस्तान बने या न बने, अब मुहल्ले अलग-अलग होंगे, साफ बात है।"[38] जो अंदेशा भीष्म जी ने सन् **1973** में लगाया था आज वास्तविकता में तब्दील हो चुका है। तमाम शहरों में ऐसे इलाके देखें जा सकते हैं जहाँ मुसलमान एक निश्चित सीमा के अंदर रहते हैं। कई शहरों में ऐसे इलाकों को 'पाकिस्तान' या 'मिनि पाकिस्तान' की भी संज्ञा दी गई है। **2002** के गुजरात दंगों के बाद अहमदाबाद में रहनेवाले मुसलमान अपने ही इलाके के तंग मकानों में रहना पसंद कर रहे हैं। म.न.रे.गा के तहत बने उन मकानों में वे नहीं जाना चाहते हैं जो हिन्दू बहुल इलाकों में हैं। इससे यह बात सत्य प्रमाणित हो जाती है जिसे भीष्म साहनी अपने उपन्यास में कहते हैं।

उपन्यास में मानवीयता की एक झीनी रेखा जरूर बनी रहती है। उपन्यासकार ने कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो ऐसे माहौल में भी इंसानियत का फर्ज अदा करना नहीं भूलते। राजो और एहसानअली ऐसे ही पात्र हैं जो खतरा मोल लेते हुए हरनामसिंह और बन्तो को अपने घर में पनाह देते हैं। एहसानअली हरनामसिंह की दुकान लूटकर आता है लेकिन जब हरनामसिंह को अपने घर में देखता है तो उसपर घड़ों पानी गिर पड़ता है। वह हरनामसिंह को चाहकर भी नहीं मार पाता। इधर राजो हरनामसिंह के घर से लूटकर लाये गये बक्स में रखे गहनों की पोटली बन्तो को दे देती है क्योंकि वह जानती है कि ऐसे समय में धन ही काम आता है। उपन्यास का अंत शांति कमेटी के नारों ओर रिचर्ड एवं लीजा के संवादों के साथ होता है।

परन्तु कहीं न कहीं इस उपन्यास से गुजरने के बाद यह जरूर खटकने लगता है कि भीष्म साहनी ने सांप्रदायिकता की समस्या का चित्रण एक फार्मूला के रूप में प्रस्तुत किया है। जो कुछ इस प्रकार का कहा जा सकता है - सांप्रदायिकता (अल्पसंख्यक + बहुसंख्यक) + कुचक्र (राजनीतिक + प्रशासनिक) + मानवीय पात्र + अमानवीय घटनाऐं + शांति स्थापन = तमस उपन्यास। जिस वृहत फलक पर रखकर यशपाल **'झूठा-सच'** जैसा उपन्यास लिखते हैं या महुआ माजी **'मैं बोरिशाइल्ला'** उपन्यास लिखती हैं, देश विभाजन का वह वृहत परिदृश्य तमस में देखने को नहीं मिलता। सांप्रदायिक समस्या इस उपन्यास में केवल धार्मिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक समस्या भर बनकर रह जाती है जबकि इसके और भी कारण रहे हैं। सांप्रदायिक समस्या पर लिखे जाने के कारण इसका विजन एक सीमा में बँधा हुआ लगता है। फिर भी विभाजन के समय के केवल पाँच दिनों की कथा को उपन्यास में जिस रूप से प्रस्तुत किया है, कहीं न कहीं सांप्रदायिक दंगों के कारण स्वाभाविक जीवन को अस्वभाविक बनानेवाले तत्वों के नकाब हटाने में सफल जरूर हैं। इस उपन्यास के संबंध में

मधुरेश ठीक ही कहते हैं- " दरअसल आदमी की सद्प्रवृतियों और सद्भाव पर छा जाने वाला यह अंधेरा ही इस पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। वह शुरू से लेकर आखिर तक, एक छोर से दूसरे छोर तक, पूरे उपन्यास में तना हुआ है। लेखक का सारा कौशल इसी में निहित है कि एक ओर जहां उसने इस अंधेरे में छिपे चेहरों की वास्तविकता को उद्घाटित किया है, वहीं दूसरी ओर इन चेहरों के परस्पर क्रियाकलाप द्वारा घने होते अंधेरे के इस स्वरूप को भी स्पष्ट कर सका है।"[39] यह अंधकार केवल उपन्यास के एक छोर से दूसरे छोर तक ही नहीं फैला है बल्कि अब यह अंधकार पिछले **200-300** वर्षों पर फैल चुका है और आज एक आम हिन्दुस्तानी अपनी प्राचीन समन्वयवादी परम्परा को भुलाकर असहिष्णु, कट्टर और संकीर्ण बन गया है। इसी असिहष्णुता और अमानवीयता की रचनात्मक अभिव्यक्ति है **'तमस'** जो चारों ओर फैला हुआ है। हालांकि उपन्यास में कुछ ऐसे पात्र भी हैं जिनमें थोड़ी-बहुत मानवीयता बची हुई है जिनमें पाठकों को आशा की किरणें नज़र आती हैं। इसे लेखक की मनुष्यता में आस्था के रूप में देखा जा सकता है।

## 4. 3. झीनी झीनी बीनी चदरिया

हिंदी के कथाकारों में अब्दुल बिस्मिल्लाह विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'**, **'समर शेष है'**, **'जहरबाद'**, **'दन्तकथा'**, **'मुखड़ा क्या देखे'** आदि उपन्यास लिखे। सन् **1986** ई. में अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** प्रकाशित हुआ। हिन्दी उपन्यास के इतिहास में पहली बार वाराणसी (बनारस) के बुनकर समुदाय को लेकर यह उपन्यास लिखा गया था। यह समुदाय सदियों से बुनकरी का ही कार्य करता आया है। यहीं से बनी 'बनारसी साड़ी' पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। एक से बढ़कर एक रंगों में और एक से बढ़कर एक डिज़ाइनों में साड़ियाँ सदियों से यह समुदाय बनाता आ रहा है मगर शायद ही कोई रंग ऐसा है इनके अपने जीवन में हो। शायद ही कोई इनके बदरंग जीवन को जान पाता

अगर अब्दुल बिस्मिल्लाह ने इन गलियों में हिन्दी साहित्य के पाठकों को ले जाने का दुस्साहस न किया होता। यूँ तो जुलाहे हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी जिनकी जिंदगी दोज़ख़ बनी हुई है लेकिन संख्या मुसलमानों की ही अधिक है। इस बुनकर समाज में प्रमुख भी हैं जिन्हें हम महाजन कह सकते हैं। **'गोदान'** उपन्यास में जमींदार साहब महाजन थे लेकिन स्वाधीन भारत में ज़मींदारी हाथ से चले जाने के बाद इन महाजनों के चेहरों में परिवर्तन आ चुका था मगर नीयत में नहीं। अब इनके नाखून और भी तेज हो चुके थे और शिकंजा और भी कसा हुआ था।

आलोच्य उपन्यास में भी ऐसे महाजन मौजूद हैं जो बिना कारण मीन-मेख निकालकर बुनी हुई साड़ियों का कम दाम देते हैं या फिर जुलाहों के फर्जी दस्तख़त करके सहकारी समितियां बनाकर सरकार से मिलने वाली सहायता राशि हड़प लेते हैं। उन्हें इससे कोई लेना-देना नहीं है कि जिन्हें वे लूट-खसोट रहे हैं वे हिन्दू हैं या मुसलमान। मुख्य रूप से उपन्यास में जुलाहों की बद्तर होती स्थिति का चित्रण उपन्यासकार ने किया है जिसके लिए अगर महाजनों का शोषण-चक्र जिम्मेदार है तो स्वयं जुलाहों का अपना समुदाय भी कम जिम्मेदार नहीं है जो अपनी परंपरावादी और सड़ी-गली मान्यताओं के प्रति आसक्त है। इसी बीच उपन्यासकार को सांप्रदायिक समस्या पर भी विचार करने का अवसर मिल गया है।

उपन्यास तीन खंडों में लिखा गया है ताना, बाना और क्षेपक। ताना खंड पूरी तरह से बुनकरों की दोजख होती स्थिति को ही चित्रित करता है। उपन्यास के प्रारंभ में ही उपन्यासकार यह बता देता है कि बनारस का यह बुनकर समुदाय स्वयं कई खण्डों में विभाजित है, वे संगठित नहीं हैं- " एक समाज दुनिया का है। एक समाज भारत का है। एक समाज हिन्दुओं का है। एक समाज मुसलमानों का है। और एक समाज बनारस के जुलाहों का है। यह समाज दुनिया के हर समाज से अलग है। इस समाज के कई खण्ड हैं। पाँचों हैं, चौदहों

हैं, बाइसी और बावनों हैं। अब एक नयी बाइसी भी बन गयी है। हर खण्ड का अपना सरदार है, अपना महतो है। ...फिर यहाँ कुछ लोग बनरसिया हैं, कुछ लोग मऊवाले हैं। मऊवाले वे लोग हैं जो आजमगढ़ जिले के मऊनाथभंजन से आकर बस गये हैं। पढ़े-लिखे लड़के उन्हें 'एम ग्रुप' कहते हैं। जवाब में उधर के पढ़े-लिखे लड़के इन्हें 'बी ग्रुप' कहते हें। 'एम ग्रुप' और 'बी ग्रुप' में नोंक-झोंक चलती ही रहती है। ...फिर अलईपुरिया अलग है और मदनपुरिया अलग। खण्ड में से खण्ड। जैसे रेशम की अधरंगी पिण्डी में से कई-कई धागे निकल आ रहे हों। हर धागा दूसरे धागे से थोड़ा अलग दिखता है, पर ऐसा है नहीं। चाहे बनरसिया हों या मऊवाले, अलईपुरिया हो या मदनपुरिया, हैं सब एक।"[40] यहाँ देखा जा सकता हैं कि पूरे बनारस का बुनकर समुदाय विभाजित हो चुका था और यह विभाजन केवल धर्म के नाम पर ही नहीं था बल्कि क्षेत्र के नाम पर भी मौजूद था। उपन्यास में वर्णित यह समाज कई परतों, कई स्तरों में विभक्त था।

लेखक ने बड़ी ही बेबाकी के साथ पूरे उपन्यास में मुस्लिम समाज में मौजूद सड़ी-गली मान्यताओं, कुरीतियों, बदबूदार और लगभग घृणित जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों का चित्रण किया है। लेखक ने खुले तौर पर यह कहा है कि मुस्लिम समाज की दुरावस्था का कारण स्वयं उनके बीच मौजूद है। सबसे मुख्य बात जो रह-रहकर पूरे उपन्यास में उभर कर आती है वह यह है कि भारतीय मुस्लिम समाज ने स्वयं को एक दायरे में बाँध रखा है। आज़ादी के बाद से ही या यूँ कहें कि आजादी के कुछ समय पहले से ही इसने स्वयं को अलग-थलग रखना आरंभ कर दिया था जो आज भी बदस्तूर जारी है। भारतीय मुस्लिम समाज आज भी अन्य समुदायों की भाँति भारतीय समाज में घुल नहीं सका है। उसे इस बात का भय है कि ऐसा करने से उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। मुस्लिम समाज के इस व्यवहार ने भी अन्य समुदायों में घृणा का संचार करने में मदद की है जिसका परिणाम यह

हुआ है कि अब अन्य समुदाय के लोग भी मुस्लिम समाज के प्रति असहिष्णु बन चुके हैं। इसका फायदा राजनीतिज्ञों ने हमेशा ही उठाया है और इसमें कोई शक नहीं कि आगे भी उठाते रहेंगे। मुस्लिम समाज की इस मानसिकता के कारण ही वह अपनी समस्याओं के लिए आज भी पाकिस्तान या अरब देशों की ओर ही देखता है। पाकिस्तान के लिए अब भी उनका यह मानना है कि वह इस्लामी राष्ट्र है जबकि तथ्य यह है कि भारत से गये हुए मुसलमान पाकिस्तान में 'मुहाज़िर' हैं, पाकिस्तान से ही अलग होकर बांग्लादेश राष्ट्र अस्तित्व में आया और भारत के मुसलमानों को संविधान द्वारा भारतीय नागरिक की स्वीकृति मिली हुई है और एक आम नागरिक की तरह ही तमाम सुविधाओं को पाने का अधिकार एक मुसलमान को भी है लेकिन अब भी ऐसे मुसलमान मौजूद हैं जिनमें पाकिस्तान के प्रति लगभग अंधभक्ति है।

पाकिस्तान के प्रति इस अंधश्रद्धा का ही परिणाम है कि मुस्लिम समाज भारतीय समाज की मुख्यधारा से कट गया। भारत में रहने के बावज़ूद आज भी ऐसे मुहल्ले हैं जिनमें भारत की कामयाबी पर मातम रहता है और पाकिस्तान की कामयाबी पर जश्न सा माहौल होता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह ऐसे मुस्लिम मानस को उभारकर इस उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं। इस स्थिति का एक चित्रण यहाँ देखा जा सकता है- " हालाँकि बढ़िया ताड़ी तो सुबह ही मिल सकती है- एक़दम पेवर नीरा, पर वह जवानों के लिए होती है; जिनके लिए गुनाह करना कोई गुनाह नहीं है। लेकिन जो लोग गुनाह को गुनाह की तरह नहीं करना चाहते वे शाम के झुटपुटे में इन बगीचों की ओर आते हैं। लुंगी पहने, एक हाथ से उसका टोंका उठाये, टोपी लगाये, अल्ला-रसूल की बातों में मशगूल, पाकिस्तान की तारीफ़ करते हुए और हिन्दुस्तान को गालियाँ बकते हुए ऐसे लोग शाम होते ही सारसों की तरह इस क्षेत्र में मँडराने लगते हैं।"[41] यह केवल बुजुर्गों का ही हाल नहीं है बल्कि यह नफरत बच्चों के मन में भी अपना स्थान जमा चुकी है। लतीफ का बेटा जब अन्य बच्चों के साथ क्रिकेट खेल रहा है तो

वहाँ स्पष्ट रूप से दो दल हैं एक हिन्दुस्तान और दूसरा पाकिस्तान। खेल-खेल में बात इस नौबत तक आ जाती है कि दोनों ही दलों में झगड़ा हो जाता है। लेखक इस पर टिप्पणी करते हुए कहता है- " इस बीच लड़का किसी के हाथ से बैट छीन लेता है और शुरू हो जाता है युद्ध ! छीना-झपटी, मार-पीट। देखते ही देखते हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में बुरी तरह भिड़न्त हो जाती है।"[42]

इन लोगों को इस बात की बड़ी फिक्र है कि भारत और पाकिस्तान के बीच चलनेवाले क्रिकेट के मैच में पाकिस्तान के किस खिलाड़ी ने कितने रन बनाये और किस खिलाड़ी ने कितने विकेट लिये। उपन्यास का ही एक पात्र लतीफ पाकिस्तान की जीत को लेकर सुनिश्चित है हालांकि अंग्रेजी में चलने वाली कॉमेंट्री से वह कुछ भी समझ नहीं पाता लेकिन तालियों की गड़गड़ाहट से वह यह समझ लेता है कि पाकिस्तान के जीतने के आसार कितने ज्यादा हैं। पिच होती क्या है और उसका खेल से क्या लेना-देना है इस बात से उनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है लेकिन वह यह मानता हैं कि पाकिस्तान ही जीतेगा। मुहल्ले में 'किक्की पानवाले' की दुकान भी है जो पाकिस्तान की जीत पर मुफ्त में पान बाँटता है और पाकिस्तान के हारने की ख़बर सुनते ही अपनी दुकान बन्द कर देता है। लतीफ भी इस मौके का फायदा उठाता है और किक्की से एक पान हासिल कर लेता है। भारतीय मुसलमानों की इस स्थिति पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. मुहम्मद फिरोज खान कहते हैं- " भारत देश तीन टुकड़ों में-हिन्दुस्तान, पकिस्तान, बांगलादेश के नाम पर बंट गया था। भारत पाकिस्तान का बैर कहीं किसी बिन्दु पर भी आज तक समाप्त होता नहीं दिखाई पड़ रहा था। आज भी मनुष्य अपनी मानसिकता से बंटा हुआ है। भारत ओर पाकिस्तान के बीच होने वाला खेल भी आत्मसम्मान का विषय बन जाता है। हिन्दुओं का बड़ा वर्ग मुसलमानों पर पाकिस्तान को लेकर फब्तियाँ कसता है ऐसे में अपने देश के प्रति प्रेम एवं संवेदना रखने वाला मुसलमान

अपनी चाह अपने विचार और देशभक्ति को भीतर ही भीतर समेटकर रह जाता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में भारत और पाकिस्तान के बीच हो रहे खेल के समय का जो बिम्ब खड़ा किया है। वह उपर्युक्त मानसिकता को यथार्थ के धरातल पर स्पष्ट कर देता है।"[43] ऐसा देखा गया है कि यदि कोई मुसलमान भारत का समर्थक हो तो भी उसे शक की निगाह से देखने की प्रवृत्ति रही है। ऐसे में मुसलमानों को यही बेहतर लगने लगता है कि जब देशद्रोही होने का तमगा उसके सीने पर लगना ही है तो फिर वह पाकिस्तान का ही समर्थन करे। इस बात को बड़ी ही आसानी से आलोच्य उपन्यास में देखा जा सकता है कि बनारस के बुनकर समाज के मुस्लिम समुदाय में भारतीय समाज से अलग एक सांप्रदायिक सोच मौजूद थी जिसके कारण रह-रहकर सांप्रदायिक दंगों की समस्या खड़ी हो जाती थी।

हबीबुल्ला जैसे पात्र जो हज करके लौटे हैं वे भी यह नहीं समझना नहीं चाहते कि मुसलमान होने के बावज़ूद केवल भारत से आये हैं इसलिए मक्का में हिन्दुस्तानी मुसलमानों से सब चिढ़ते क्यों हैं ? इसे बड़े ही स्वाभाविक रूप से लोग ले लेते हैं लेकिन यह सवाल बड़ा ही गंभीर है। क्यों हिन्दुस्तान से गये मुसलमानों को पाकिस्तान में आज भी बराबरी का दर्जा नहीं मिल पाया ? क्या वे मुसलमान नहीं हैं ? क्या वे इस्लाम को नहीं मानते ? क्या वे नमाज़ नहीं अदा करते ? और अगर यह सब करने के बावज़ूद वे बराबरी का दर्जा एक इस्लामी मुल्क में नहीं पाते तो इसका कारण क्या है ? और यह सवाल भी साथ ही साथ उठता है कि इन परिस्थितियों को देखने और समझने के बावज़ूद क्यों भारतीय मुसलमानों का एक हिस्सा पाकिस्तान का हिमायती बना फिरता है। भारतीय संविधान ने भारत के सभी नागरिकों को समान दर्जा दिया है लेकिन फिर भी क्यों भारतीय मुसलमानों का एक हिस्सा स्वयं को मुख्यधारा से अलग रखता है ?

इसका कारण यह है कि भारतीय मुसलमानों के एक बड़े हिस्से ने स्वयं को लगभग ज़िद के स्तर तक आधुनिक विचारों से दूर रखा। जिसके कारण धर्म, राष्ट्र जैसे शब्दों के बदलती हुई समझ से कट गये और मध्ययुगीन विचारों को लंबे समय तक वे ढ़ोते रहे। हालाँकि मध्ययुगीन विचार हर धर्म के अनुयायी में मौजूद हैं लेकिन अपेक्षाकृत मुस्लिम मानस में मध्ययुगीन विचार अधिक मज़बूती से अपने पैर जमाकर मौजूद है। जब से धर्म और राजनीति का आपसी घाल-मेल भारतीय राजनीति में बढ़ गया है तब से आधुनिक विचारों और मानवतावादी मूल्यों का लगातार क्षरण होता जा रहा है। हाजी अमीरुल्ला यह चाहता है कि किसी तरह शरफुद्दीन को एम.एल.ए का टिकट मिल जाये। वह यह चाहता है कि घर का कोई लड़का सरकार में जरूर होना चाहिए। लड़के की जीत को सुनिश्चित करने के लिए वे अल्ताफुर्रहमान को भी पटाने की तरकीब सोच लेते हैं। उसे यकीन है कि अल्ताफुर्रहमान को कौमी एकता के नाम पर अपनी ओर खींचा जा सकता है और शरफुद्दीन का प्रचार करवाया जा सकता है। कामता प्रसाद से मिलकर शरफुद्दीन भी यह सोचता है कि चुनाव कैसे जीता जाय। वहीं बंगाली बाबू जो 'दादा' के नाम से प्रसिद्ध हैं, सांकेतिक भाषा में यह समझा देते हैं कि 'अगर चुनाव जीतना है तो कुछ करना होगा। 'कुछ' का मतलब ऐसा कुछ जिससे जनता का विश्वास बटोरा जा सके।'[44] और वे वोट जो उनके खिलाफ पड़नेवाले हैं उन्हें भी अपनी ओर मोड़ा जा सके।

बहरहाल वह 'कुछ' यूँ घटा कि मदनपुरा की मुस्लिम बहुल गलियों से हिन्दू दुर्गा की प्रतिमा ले जाना चाहते हैं और मुसलमान ऐसा होने देना नहीं चाहते क्योंकि ऐसा होने से उनका धर्म खतरे में पड़ता है। दूसरी ओर हिन्दू बहुल इलाके में एक इमाम चौक बना हुआ है जहाँ मुसलमान ताज़िया बैठाते हैं और हिन्दू ऐसा होने देना नहीं चाहते क्योंकि इससे उनकी आस्था को चोट पहुँचती है। मस्जिद में नमाज अदा हो जाने के बाद इमाम साहब यह तकरीर

करते हैं कि गली में दुर्गा की प्रतिमा नहीं आ पाये। लेकिन दुर्गा की प्रतिमा गली में आ जाती है। इस स्थिति का चित्रण उपन्यास में इस तरह हुआ है- " आगे-आगे दुर्गा की प्रतिमा और पीछे-पीछे शोर मचाती भीड़। एक ऐसा शोर जिसका आध्यात्म से कोई मतलब नहीं। ठीक इसी तरह का शोर उस वक़्त भी होता है जब ताज़िए का जूलूस निकलता है। धर्म दोनों ही अवसरों पर सड़कछाप हो जाता है। वह सरेआम सिर के बल खड़ा हो जाता है। लेकिन फिर भी लोग कहते हैं कि यह सत्य है और सिर्फ यही सत्य है। इस सत्य के लिए लोग कट मरते हैं !"[45] उपरोक्त अंश में उपन्यासकार ने यह बात कूट-कूटकर भर दी है कि किस प्रकार धर्म अपने मूल मर्म से विचलित होता जा रहा है। बहरहाल जुलूस आगे बढ़ता है और मुस्लिम बहुल गली में प्रवेश कर जाता है। छतों से पत्थरों, ईंट के टुकड़ों और खाली बोतलों की बारिश होने लगती है और फिर पिसी हुई मिर्च और तेज़ाब फेंका जाने लगता है। जवाबी कार्रवाही भी होती है। छुरे निकल आते हैं, बन्दुकें चलने लगतीं हैं, दुकानों में आग लगा दी जाती है और सड़क पर जो भी दिखाई देता है उसे मार दिया जाता है। पुलिस भी हिन्दुओं का साथ देती है और मुसलमानों को मारने देती है। कर्फ्यू लग जाता है लोग घरों में दुबक कर रहने को मजबूर हो जाते हैं। जिन जुलाहों की गुजर बसर एक-एक साड़ी बनाकर बेचने से चलती है, उनकी हालत अब और बिगड़ने लगती है। न खरिदार, न रुपया और न घर में अनाज, अब दिन फाकों में गुजारने की नौबत आ जाती है।

दंगों के बाद राहत का कार्य आरंभ होता है और स्थानीय नेताओं को अपनी मार्केट वेल्यू बढ़ाने का भी मौका मिल जाता है। राहत कार्य के नाम पर प्रसिद्धि हासिल करने की होड़ मच जाती है और नेताओं को इस बात की फिक्र सताने लगती है कि विरोधी दल ज्यादा प्रसिद्धि हासिल न कर ले। अल्ताफुर्रहमान शरफुद्दीन की होड़ में 'कौमी एकता' का धाँसू एडिटोरियल लिखता है, कभी इस्लाम का वसीला देता है, कभी जेहाद की अहमीयत

समझता है तो कभी जनसंघ और आर.एस.एस की बख़िया उधेड़ता है।कभी वह मुसलमानों के जातीय उत्साह को जगाता है।इधर शरफुद्दीन भी कम नहीं है।" वह कामता नेता को लेकर दूने जोश से काम करने लगता है और हिन्दू मुहल्लों में अकेले जाकर उन्हें दिलासा देता है।सुनने में आया है कि इस कठिन घड़ी में कल्लू गुण्डा भी अपनी जीप में कुछ इलाकों का दौरा कर रहा है।लोग कल्लू गुण्डा का नाम उसी आदर के साथ लेते हैं जैसे किसी ज़माने में सुल्ताना डाकू का लिया जाता था।"[46] यहाँ ध्यान देनेवाली बात यह है कि किस प्रकार समाज के असामाजिक तत्व भी दंगों के दौरान सामाजिक स्वीकृति पा जाते हैं और श्रद्धा भरी निगाहों से देखे जाते हैं एवं पूरे समुदाय के तारनहार बन जाते हैं।

कर्फ्यू में अभी ढ़ील दी ही जाती है कि फिर से हत्याओं का दौर शुरू हो जाता है।कहीं किसी मुसलमान ने किसी हिन्दू को छुरा मार दिया और कहीं यह पता चलता है कि चौकवाले मजार में किसी हिन्दू ने आग लगा दी और मजार जलकर राख हो गयी।एक ओर से 'हर-हर महादेव !' के नारे लगते हैं तो दूसरी ओर 'नार-ए-तकबीर, अल्ला हो अकबर !' का नारा लगाया जाता है।कभी डर के कारण नारे लगाये जाते हैं तो कभी डराने के लिए नारे लगाये जाते हैं।लोग बलवाइयों से निपटने की तरकीबें लगाते फिरते हैं और इसी बीच यह खबर भी मिल जाती है कि इस साल न तो नाटी इमली का भरत-मिलाप होगा और न ही चेतगंज की नककटइया निकालेगी।इस खबर से एक ओर मुसलमान खुश होते हैं तो दूसरी ओर हिन्दुओं का एक वर्ग भड़क उठता है।उनका मानना है कि इस मामले में जरूर किसी मुसलमान का हाथ है और फिर से छुरे चलने लगते हैं, आगजनी होने लगती है और उपन्यासकार कहता है- "लगा कि यह बनारस अब बनारस नहीं रह पायेगा।"[47]

यह एक विडंबना है कि शहर के बिगड़ते माहौल को सुधारने के लिए मुशायरे का आयोजन किया जाता है।मतीन का बेटा इकबाल यही सोचता है कि ग़ज़लों और नज़्मों

से हिन्दू और मुसलमान के बीच एकता कैसे कायम हो सकती है। यहाँ भी धर्म के खोखलापन उभरकर सामने आता है। मुशायरे में बड़े-बड़े, नामी-गिरामी शायर आते हैं। इस्लाम में शराब को हाथ लगाना गुनाह माना गया है लेकिन इन शायरों के लिए 'व्हिस्की' का इंतजाम किया जाता है। इस्लाम कहता है कि तस्वीर खिंचाना भी गुनाह है लेकिन हज पर जाने से पहले पासपोर्ट बनवाते वक्त तस्वीर खिंचवानी ही पड़ती है। क्या यह सब इस्लाम के खिलाफ नहीं है ? अगर है तो हज कैसे हो ? खुदा से माफी कैसे माँगी जाए ? दरअसल इसे गुनाह नहीं कहा जा सकता। बस ये गुनाह इसी कारण बन गये हैं कि धर्म तो उसी मध्ययुग में पड़ा हुआ है, जबकि आधुनिक समय में अमुमन हर चीज की परिभाषा बदल चुकी है। जरूरी है कि युगीन बदलावों के साथ धर्म के स्वरूप में भी बदलाव आयें। अगर धर्म ऐसा नहीं करता तो वह सड़ जायेगा, बेकार हो जायेगा, जिसकी कोई भी प्रासंगिकता समाज में नहीं रह जायेगी। अब्दुल बिस्मिल्लाह धर्म की वर्तमान अवस्था एवं भविष्य में धर्म की आवश्यकता पर अपने विचार उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यास के लगभग सभी पात्र अंधविश्वासी प्रवृत्ति के हैं। मतीन और इकबाल ही इस अंधधार्मिकता के शिकंजों से बचे हुए लगते हैं। मतीन जहाँ इकबाल को अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाने का साहस दिखाता है वहीं बड़ा होकर इकबाल समाज की और खासकर मुस्लिम समाज की दुरावस्था को बदलने के लिए स्त्री शिक्षा का पुरजोर समर्थन करता है। स्वयं उपन्यासकार इकबाल के संबंध में कहता है-" कुछ बरस पहले मतीन के नेतृत्व में लतीफ, अल्ताफ, बशीर, रऊफ चचा आदि लोगों ने अपनी खुशहाली के लिए एक कानूनी योजना बनायी थी, जिसमें वे असफल रहे थे। आज दूसरी पीढ़ी के लोग फिर एकजुट होकर बैठे हैं ओर अपने शत्रुओं से निपटने के लिए विचार-विमर्श कर रहे हैं।"[48] यह जरूरी है कि मध्ययुगीन एवं सामंतीय मानसिकता से संघर्ष पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहना चाहिए। मतीन भी

यही करता है।पहले स्वयं महाजनों के चंगुल से बचने का प्रयास करता है और बाद में जब इकबाल यह प्रयास करता है तो मतीन उसे कभी नहीं रोकता।डॉ. रामचन्द्र तिवारी इस पर विचार करते हुए कहते हैं- " सबसे बड़ी बात यह है कि उपन्यास हमें जिन्दगी की मजबूरियों के बीच ले जाकर निराशा के गर्त में ढकेल नहीं देता, वरन् अपने हक के लिए निरन्तर संघर्ष जारी रखने की प्रेरणा भी देता है।इकबाल के हृदय में उठने वाली विद्रोह की चेतना इस उपन्यास को एक सार्थक परिणति प्रदान करती है।"[49] कहते हैं कि लगातार अगर चोट की जाय तो मजबूत से मजबूत दीवार भी ढ़ह जाती है।इसलिए जरूरी है कि लगातार प्रहार हो तो एक दिन ऐसा आयेगा जब तस्वीर जरूर बदलेगी।

आलोच्य उपन्यास में एक प्रसंग ऐसा भी आया है जब एक ही धर्म के अनुयायियों के बीच भी कलह उत्पन्न हो जाता है।इस्लाम के ही अन्तर्गत देसीपुरा के शिया और सुन्नियों के बीच भी जमीन के मुद्दे को लेकर विवाद लंबे समय से चला आ रहा है।लंबे समय तक यह मामला कोर्ट में चला और फैसला शिया लोगों के पक्ष में गया।" शिया खुश हैं कि सुन्नियों की कब्रें उखड़ेंगी और सुन्नी दुखी हैं कि उनके आत्मीयों की रूहें तड़पेंगी; जबकि हाजी अमीरुल्लाह इसलिए दुखी हैं कि इतनी जमीन पर अब उनका कब्जा नहीं रहेगा और सिब्ते हसन इसलिए खुश हैं कि इतनी जमीन उन्हें अब जाकर मिली, जिसके लिए कई पीढ़ियों की प्रतिष्ठा दाँव पर लग चुकी है।"[50] गौर करने लायक बात यह है कि भले ही शिया और सुन्नियों के लिए यह मामला धार्मिक है लेकिन हाजी अमीरुल्लाह और सिब्ते हसन के लिए यह मसला धार्मिक नहीं है, मसला ज़मीन का है।दूसरे शब्दों में कहें तो यह मसला आर्थिक है।

मुस्लिम समुदाय की मध्ययुगीन सोच स्त्रियों के प्रसंग में भी चित्रित की गई है। उपन्यास में कई ऐसे स्त्री पात्र हैं जिनको उनके शौहरों ने तलाक दे दिया है।इस्लाम में तलाक

देना भी बड़ा ही आसान काम है। तलाक जैसी चीज मुस्लिम समाज के लिए बड़ी ही साधारण बात है। अलीमुन जब मतीन को यह खबर सुनाती है कि लतीफ ने कमरुन को तलाक दे दिया तो मतीन पर इस घटना का कोई असर नहीं होता। लेखक टिप्पणी करते हुए कहता है- " तलाक तो बिरादरी में आम बात हो गयी है। औरत जात की आख़िर हैसियत ही क्या है ? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो ! औरत का और इस्तेमाल ही क्या है ? कतान फेरे, हाँड़ी-चूली करे, साथ में सोये, बच्चे जने और पाँव दबाये। इनमें से अगर किसी भी काम में हीला-हवाली करे तो कानून-इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तलाक ! तलाक ! तलाक ! बिरादारी में तो 'महर' का भी झंझट भी नहीं है। "[51] लतीफ दूसरा विवाह भी कर लेता है लेकिन वह कमरुन को भुला नहीं पाता। कमरुन को वापस घर लाना चाहता है लेकिन धर्म इसकी इजाजत नहीं देता। कमरुन को वापस लाने के लिए उसका विवाह किसी और से हो और कम से कम एक दिन के लिए वह उस व्यक्ति की पत्नी बने तभी फिर तलाक देकर उससे निकाह लतीफ कर सकता है, ऐसा धर्म का कहना है लेकिन न तो लतीफ इसके लिए तैयार है और न ही कमरुन। अंततः धर्म और समाज को एक ताक पर धरकर लतीफ कमरुन को घर में ले आता है। पंचायत लगती है और सरदार साहब पंचों की बात मानने के लिए लतीफ को हुक्म देते हैं लेकिन रऊफ चचा और मतीन की तकरीरों के सामने पस्त होकर अंततः पंचायत खत्म हो जाती है और सरदार साहब यह कहते हुए खड़े हो जाते हैं कि अब जमाना बदल गया है। पुराना मज़हब अब नहीं चल सकता। यदि पंचों के हुक्म को सभी चुपचाप मान लेते तो यह मान लेना पड़ता कि धर्म के सामने सभी लोग लाचार हैं लेकिन जब रऊफ चचा और मतीन के सार्थक हस्तक्षेप के बाद लतीफ का घर फिर एकबार बस जाता है तो यह आशा जरूर बँध जाती है कि कुछ बदलाव जरूर लाये जा सकते हैं बस जरूरत है एक सार्थक पहल की।

हिन्दुत्ववादियों ने अक्सर यह प्रचार किया है कि मुसलमान शासक औरंगजेब हिन्दू विरोधी थे। उसने कई हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त कर वहाँ मस्जिद बनवाई थी। तथ्य और प्रमाण कहते हैं कि औरंगजेब ने ऐसे दो ही मंदिरों को ध्वस्त किया था जिनमें से एक काशी विश्वनाथ का मंदिर था। मंदिर हिंदुओं का था इसलिए नहीं तोड़ा गया बल्कि इसलिए तोड़ा गया क्योंकि यहाँ मौजूद पंडे मंदिर में पूजा करने आनेवाली स्त्रियों का अपहरण कर अपनी हवश का शिकार बनाते थे। शायद इस तथ्य को उजागर करने के लिए ही उपन्यासकार इस प्रसंग का जिक्र उपन्यास में करते हैं। रऊफ चचा इन किस्सों को लोगो को सुनाया करते थे। उपन्यासकार इस पूरे प्रसंग को उपन्यास में उठाते हैं।[52] जरूरी है कि ये समस्त तथ्य साधारण जनमानस तक पहुँचे तभी सांप्रदायिकता की समस्या को कम किया जा सकता है।

इस तरह उपन्यासकार ने बड़ी ही बेबाकी से मुस्लिम समाज का चित्रण किया है। लेखक ने उपन्यास में कई स्थलों पर मुस्लिम समाज की दुखती रगों पर हाथ रखने का रचनात्मक दुस्साहस किया है। यही एक लेखक और बुद्धिजीवी से अपेक्षित भी है कि वह समाज के कोढ़ को भले ही समाप्त न कर पाये लेकिन इसे उजागर करने का प्रयास जरूर करे। आलोचक गोपाल राय लेखक की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए कहते हैं- " अब्दुल बिस्मिल्लाह ने झीनी झीनी बीनी चदरिया में धार्मिक संकीर्णता और सम्प्रदायवाद का जमकर विरोध किया है। उन्होंने जहाँ कहीं भी अनुभव किया है, मुसलमानों की राष्ट्रीय मुख्यधारा से बिलगाव की प्रवृत्ति पर प्रहार किया है और इस्लाम की रूढ़िवादी मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। यद्यपि झीनी झीनी बीनी चदरिया में यह विषय गौण रूप में ही आया है, पर इससे उपन्यासकार की संवेदनशील मानसिकता का पता चलता है।"[53] उपन्यास में कई स्थल ऐसे आये हैं जब लेखक इस्लाम की दुहाई देनेवालों पर और उसकी छदम् बुद्धिजीविता पर निर्ममता के साथ जोरदार प्रहार भी करता हुआ दिखायी पड़ता है।

मस्जिद के निर्माण में वे लोग जिनके लिए घर चलाना मुश्किल हो रहा है, वे भी अपनी औकात से ज्यादा धन देकर सहयोग करना चाहते हैं। एक ओर घर में बीवी और बच्चे ज़हालत की जिंदगी जी रहे हैं उसकी कोई फिक्र नहीं है और वहीं दूसरी ओर मस्जिद निर्माण में सहयोग देकर आत्मिक शांति का अनुभव होता है।

यह कैसा धर्म है जो मनुष्य को उसके कर्तव्यों से विमुख कर ड़ालता है ? अब्दुल बिस्मिल्लाह इन सब पर गहरी चोट करते हैं। यहीं अब्दुल बिस्मिल्लाह उपन्यासकार के रूप में राही से बीस पड़ते हैं। राही भी अपने उपन्यास **'आधा गांव'** में मुस्लिम समाज का चित्रण करते है मगर राही के उपन्यास को पढ़ते हुए यह महसूस होता है कि राही का मुस्लिम समाज की रीतियों-कुरीतियों के प्रति भी एक मोह बना हुआ है। वे कहीं भी मुस्लिम समाज के कुसंस्कारों, अंधविश्वासों पर प्रहार करते हुए नज़र नहीं आते जबकि अब्दुल बिस्मिल्लाह हर स्थल पर कुसंस्कारों एवं अंधविश्वासों पर प्रहार करते हुए भी चलते हैं। यह बात भी गौर करने लायक है कि **'आधा गांव'** उपन्यास में राही मिगदाद जैसे पात्र की रचना करते हैं जो सैयद होने के बावज़ूद नाइन सैफुनिया से विवाह कर लेता है मगर उपन्यास का कोई भी ऐसा पात्र नहीं है जो मिगदाद के समर्थन में खड़ा हो। वहीं **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** में यह देखा जा सकता है कि लतीफ अपनी तालाकशुदा पत्नी को वापस घर ले आता है, बिना इस्लाम की रिवायतों को माने, जिसपर पंचायत भी होती है और पंच उन्हें अपना फैसला मानने के लिए बाध्य करते हैं, ऐसे समय में रऊफ चचा और मतीन तथा उसी समुदाय के कुछ और लोग भी लतीफ और कमरुन के समर्थन में खड़े हो जाते हैं। वस्तुत: धर्म मनुष्य के लिए बना है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं बना। वह धर्म किसी काम का नहीं जो एक इंसान को दूसरे इंसान से अलगा दे। इस प्रकार अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास से यह आशा जगती है कि वह दिन

अब दूर नहीं जब मृतप्राय धर्म को या तो समय के अनुसार बदलना होगा या फिर लोग धर्म का चोला उतारकर फेंक देंगे।

## 4. 4. सूखा बरगद

सन् 1986 में कथाकार मंजूर ऐहतेशाम का उपन्यास **'सूखा बरगद'** प्रकाशित हुआ। इसके अलावा इन्होंने **'कुछ दिन और'** एवं **'दास्तान-ए-लापता'** जैसे उपन्यास भी लिखे। सन् 2012 में इनका **'मरदसा'** नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। 1986 में ही अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** भी प्रकाशित हुआ था। यह एक संयोग ही कहा जा सकता है कि दोनों कथाकारों ने मुस्लिम परिवारों को अपनी कथा के केन्द्र में रखा, मुस्लिम समाज में मौजूद कठमुल्लेपन को उजागर किया, मुस्लिम समाज की दुरावस्था के कारणों की तलाश की, इसी बहाने सांप्रदायिकता की समस्या पर भी विचार किया और यह भी एक संयोग ही है कि दोनों ही रचनाकार मुस्लिम समाज से ही आते हैं। इस कारण मुस्लिम समाज की दुरावस्था के जिन कारणों का उल्लेख दोनों रचनाकार करते हैं वे कहीं न कहीं उसी समाज में मौजूद हैं और इन कारणों की तलाश और उसके समाधान की एक सार्थक रचनात्मक कोशिश दोनों ही उपन्यासकारों ने की है। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अगर बनारस के मुस्लिम बुनकर समुदाय का चित्रण किया है जो निम्नवर्गीय या निम्नमध्यवर्गीय समाज है तो मंजूर ऐहतेशाम ने भोपाल शहर के एक मध्य मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से उस मुस्लिम समाज का चित्रण किया है जिसका ताल्लुक मध्य मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय समाज के हिस्से से है। भले ही दोनों उपन्यासकारों ने अलग-अलग परिवेश का चुनाव उपन्यास के लिए किया है लेकिन समस्याएं कमोबेश एक ही हैं। हिंदी कथा-साहित्य की यह बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिए कि मुस्लिम कथाकारों ने भी सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर रचनाएं लिखीं एवं अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करायी है।

आलोच्य उपन्यास में पात्रों का एक बड़ा जमावड़ा है लेकिन पूरा उपन्यास कुछेक पात्रों के ही इर्द-गिर्द घूमता रहता है। रशीदा इस उपन्यास की मुख्य पात्र भी है और नेरेटर भी। उपन्यास के तमाम पात्रों को पाठक रशीदा की नज़रों से ही देखता है। रशीदा के परिवार में अब्बू, अम्मी और उसका भाई सुहेल है। परिवार में रशीदा और उसके अब्बू प्रगतिशील मानव दृष्टि से भरे हुए हैं और हर इंसान को सबसे पहले एक इंसान की तरह देखने के हिमायती हैं। अब्बू के लिए न तो उस व्यक्ति का धर्म कोई मायने रखता है और न ही स्वयं उनका धर्म इस काम में आड़े आ पाता है। अब्बू बँटवारे के बाद पाकिस्तान नहीं जाते और हिन्दुस्तान को ही अपना मुल्क मानते हैं। अब्बू का यह मानना था कि पाकिस्तान का निर्माण एक निरर्थक सोच है। पेशे से अब्बू वकील थे। अब्बू के खानदान के सभी लोग उनके इस फैसले के विरोधी थे। इस्लाम के अनुसार वकील की कमाई हराम की होती है क्योंकि वकील सच को झूठ और झूठ को सच बनाकर पेश करता है। यह कैसी विडंबना है कि एक ओर अब्बू के वकील बनने पर खानदान के सभी लोग उनके विरोधी बन जाते हैं और दूसरी तरफ एक और वकील मुहम्मद अली जिन्ना इस्लाम का सबसे बड़ा नुमाइंदा और मुसलमानों का रहनुमा माना जाता है जिसने  सबसे बड़े सच को झूठ बना दिया कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई समानता मौजूद नहीं है और सबसे बड़े झूठ को सच बना दिया कि इस देश में मुसलमानों का बच पाना संभव नहीं है और अगर मुसलमानों को कहीं समान अधिकार मिल सकता है तो केवल एक अलग इस्लामी राष्ट्र में ही। अम्मी अल्ला से ड़रने वाली महिला है लेकिन अपने शौहर के साथ होना और उसके नक्शे कदम पर चलना वह अपना धर्म मानती है, यह जानते हुए भी कि उसका शौहर न तो अल्ला को मानता है और न ही इस्लाम में कही गयी बातों को ही अक्षरश: मानकर चलता है। उपन्यास में सुहेल एक ऐसा पात्र है जो कभी अपने अब्बा के विचारों से प्रभावित होता है तो कभी वह अन्य लोगों के विचारों से प्रभावित

होकर सांप्रदायिक विचारों से ग्रस्त हो जाता है।सुहेल की स्थिति त्रिशंकु की भांति है।एक और पात्र है विजय जो सुहेल का मित्र है लेकिन सुहेल की तरह उसके विचार समय-समय पर बदलते नहीं रहते।वह सुहेल के अब्बा-अम्मी को अपने मम्मी-डैडी की तरह ही सम्मान देता है।बीच-बीच में सुहेल और विजय के बीच जोरदार बहस होती है।एक दिन यह बहस हिंदी और उर्दू के लेखकों को लेकर भी हो जाती है।सुहेल कहता है कि प्रेमचन्द, कृष्णचंदर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि रचनाकार उर्दू के हैं और हिंदी वालों के पास अपना कोई लेखक ही नहीं है।उपन्यास के प्रारंभ में ही रशीदा पाठकों को सूचित करती है कि परवेज पाकिस्तान से लौटना चाहता है।कहीं न कहीं यह बात एक पूर्वाभास देती है जिसकी सूचना रशीदा और रशीदा के माध्यम से उपन्यासकार देता है कि उपन्यास में क्या घटने वाला है, लेकिन परवेज का पाकिस्तान से लौटना ही उपन्यास का कथ्य नहीं है बल्कि और भी कई बातें हैं जिनसे पाठक उपन्यास में आगे चलकर रू-ब-रू होता है।

उपन्यास के प्रारंभ में ही रशीदा देश के मध्यवर्गीय परिवारों की छद्म बुद्धिजीविता को उदघाटित करती है।परवेज पाकिस्तान जाने के पहले सुहेल से हुई मुलाकात में ही मार्क्स के सिद्धान्तों पर विचार करते हुए कहता है- " मार्क्स को पूरी तरह पढ़कर बात कीजिए।वह है दुनिया को निजात दिलानेवाला, सही मानों में जमाने का आखिरी और सच्चा पैगंबर।"[54] जिसपर सुहेल चिढ़ जाता है कि सोच भी रखी तो कठमुल्लों वाली ही।मार्क्स जैसे व्यक्ति के साथ पैगंबर, निजात जैसे शब्दों को जोड़ना क्या मार्क्स की सही समझ है ? भारतवासीयों की स्थिति भी अजीब हैं जो हर उस व्यक्ति को जिसने लीक से हटकर सोचा और किया उसे भगवान का दर्जा दे दिया।आजीवन जिस कबीर ने मूर्तिपूजा का खंडन किया उसी के अनुयायियों ने कबीर की मृत्यु के पश्चात कबीर की मूरत बनाकर उसे पूजना प्रारम्भ कर दिया।भारतीयों के दिमाग ही कुछ इस प्रकार के बने हैं कि पैगंबर, खुदा, ईश्वर के आगे

और कुछ विचार ही नहीं सकते। उपन्यास में ऐसी ही एक पात्र है फफू जो अल्ला से ड़रती है, बच्चों को कुरान शरीफ़ पढ़ाती है और हर उस चीज से घृणा करती है जिसे इस्लाम में गुनाह माना गया है मसलन तस्वीरें खिंचवाना, फिल्में देखना आदि। सुहेल और रशीदा भी अपनी अम्मी की मर्जी के अनुसार फफू के पास पढ़ने जाते हैं। फफू इस बात का पूरा खयाल रखती है कि मस्जिद को पाक बनाये रखा जाय। मगर सुहेल के बाल मन के एक छोटे से सवाल के सामने फफू की सारी बातें तब धरी की धरी रह जातीं हैं जब फफू से वह पूछ बैठता है- " हम सबसे तो आप मस्जिद के बाहर जूते उतरवा देती हैं और खुद जूते पहने-पहने जाती हैं ?"[55] सुहेल के इस सवाल पर फफू बिफर उठती है और रशीदा को यह ताकीद करती है कि घर पर जाकर अपनी अम्मी से सुहेल की शिकायत करे कि वह पढ़ता- लिखता कुछ नहीं बस इधर-उधर के ऊल-जलूल सवाल करता है। फफू की एक दिली ख्वाहिश है कि वह मक्का शरीफ हज के लिए जा सके लेकिन हज पर जाने के लिए पासपोर्ट बनवाना होगा और पासपोर्ट बनवाने के लिए फोटो खिंचवाना होगा और इस्लाम के अनुसार फोटो खिंचवाना तो गुनाह है। फफू ऐसे में क्या करेगी ? और हज पर जानेवाले सभी लोग जिन्होंने फोटो खिंचवाया है क्या वे सभी गुनाहगार हैं ? ऐसा ही सवाल अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** में भी देखने को मिलता हैं। बहरहाल, फफू सुहेल से नाराज हो जाती है लेकिन एक दिन सुहेल देखता है कि वही फफू जो तस्वीर खिंचवाना गुनाह मानती है, किसी व्यक्ति की तस्वीर सीने से लगाये फूट-फूटकर रो रही है। सुहेल को देखकर वह घबरा जाती है और यह बहाना बनाती है कि कोई मरदूद उसे गुनाहगार बनाने के लिए वह तस्वीर वहाँ फेंक गया है। यही फफू कुछ दिनों के बाद अपना मकान किसी सिंधी के हाथों सिर्फ इसलिए बेच देती है कि उसे ज्यादा पैसे मिलेंगे। मगर फफू का मकान तो मकान था ही नहीं, वह तो मस्जिद थी और एक मस्जिद सिंधी को बेच दी गयी ? वह भी ज्यादा पैसे मिलने

के कारण। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पैसे के सामने धर्म का कोई अस्तित्व नहीं या फिर अब तक फफू ने जो बातें कहीं वह सिर्फ एक ढ़ोंग था और कुछ भी नहीं।

इसी बीच शहर में एक घटना घट जाती है जब रमजान के दिनों में होली पड़ जाती है। अचानक दंगे शुरू हो जाते हैं और देखते ही देखते शहर का वातावरण बिल्कुल ही बदल जाता है। यह वही शहर है जहाँ भारत विभाजन के समय भी दंगा नहीं हुआ था। बुजुर्गों का कहना है कि हिंदू और मुसलमान भाई-भाई की तरह रहते थे। पुराने लोगों में ऐसे हिंदू और मुसलमान थे जो नवाब साहब के लिए जान दे सकते थे। कुछ ऐसे भी लोग थे जो नवाब साहब से नफरत करते थे लेकिन फिर भी उस शहर में दंगा नहीं हुआ था। मगर दंगा हो ही गया। ऐसी स्थिति में अब्बू बहुत ही बेचैन हो उठते हैं क्योंकि गुस्से और बेचैनी के अलावा ऐसी स्थितियों में और किया ही क्या जा सकता है। वहीं रशीदा के मन में उठे एक सवाल के माध्यम से उपन्यासकार सबके सम्मुख यह प्रश्न रखता है- " हमारे जैसे मुहल्ले में जहाँ नब्बे प्रतिशत के लगभग मुसलमान रहते है, दस प्रतिशत हिंदुओं के दिल पर क्या गुजर रही होगी ? और आखिर ऐसा क्यों है कि जिसकी खाल पर होली का रंग लग जाएगा, वह जहन्नुम में जायेगा ? शादियों में जो हम लोग उबटन खेलते हैं, वह भी तो लगभग होली जैसा ही होता है। और अगर कुछ लोग बुरा मानते हैं, नहीं खेलना चाहते रंग, तो लोग उन्हें क्यों नहीं छोड़ देते ? हर एक पर रंग डालना क्या जरूरी है ?"[56] होली खेलना या न खेलना किसी का निजी मामला हो सकता है। अपने पर्व-त्योहार मनाने के क्रम में लोग यह भी भूल जाते हैं कि इससे किसी दूसरे व्यक्ति को परेशानी न हो। मगर इस बात की परवाह ही कौन करता है। ऐसे समय में ही धर्म बिल्कुल सड़कछाप हो जाता है। यह धर्म का उन्मादी स्वरूप है जो लोगों को आपस में लड़ा रहा है। अगर यही धर्म का स्वरूप है तो ऐसे किसी भी धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रगतिशील सोच से लैस अब्बू अपने विचारों को अपने बच्चों में भी कूट-कूटकर भर देते हैं। प्रारंभ में अब्बू के विचारों का सुहेल पर गहरा असर पड़ता है। सुहेल को उसके अब्बू का एक मित्र असगर बताता है कि उसके पिता ने सूअर खाया है। अब्बू सुहेल को यह समझाते हैं कि हमारे यहाँ जिस रूप में सूअर दिखते हैं वे बड़े ही गंदे लगते हैं लेकिन दूसरे देशों में सूअर इस तरह पाले जाते हैं जैसे दूध देनेवाले जानवर। मगर सुहेल को यह खटकता इसलिए है कि इस्लाम इसकी इजाजत नहीं देता। यहाँ अब्बू सुहेल को समझाते हुए कहते हैं कि अगर बात मज़हब, हलाल और हराम की ठहरी तो उसमें सूअर को गंदा कहने का क्या मतलब है। अगर मज़हब इसकी इजाजत देता तो सूअर जरूर खाया जा सकता। दरअसल सुहेल का अबोध मन यह मानता है कि इस देश में मुसलमानों को सूअर खाने के लिए मजबूर किया जाता है। मगर सुहेल को अब्बू समझाते हैं कि क्या आज तक किसी ने उसे सूअर खाने के लिए मजबूर किया है। यहीं अब्बू सुहेल को समझते हैं कि यह गाय और सूअर का मसला सामाजिक कम और राजनीतिक ज्यादा है जो सन् **1857** के समय से चला आ रहा है। अब्बू कहते हैं- " किसी मुसलमान में यह कौम-परस्ती अच्छी मान ली जाय, तो फिर इसी तरह का जज्बा, किसी हिन्दू में बुराई की नजर से क्यों देखा जाए ? जितने अच्छे मुसलमान असगर साहब हैं उतना ही अपने भाइयों की हिमायती में मुसलमानों को कत्ल करनेवाला हिंदू अच्छा हुआ ? अच्छा हिंदू, अच्छा मुसलमान, रहा इंसान तो वह भाड़ में जाए, उससे असगर साहब को क्या लेना !"[57] यही सवाल हिंदुओं पर भी लागू होते हैं। अब्बू सुहेल और रशीदा को तफसील से यह समझाते हैं कि कैसे हिंदू और मुसलमान को लड़ाने की साजिश की जा रही है। कभी मुसलमानों के खिलाफ षड़यंत्र की बात को उछाला जाता है तो कभी इस बात की दुहाई दी जाती है कि यह देश मुसलमानों का नहीं है। चीजें इतनी सीधी, सपाट और इकहरी नहीं होतीं, उसके पीछे और भी कई बातें होतीं हैं जिन्हें समझना जरूरी

है। बात केवल धार्मिक नहीं है बल्कि उसके पीछे आर्थिक और राजनीतिक प्रपंच भी हैं जिन्हें साधारण व्यक्ति समझ नहीं पाता और सांप्रदायिक सोच का शिकार हो जाता है। अब्बू सुहेल को यह भी समझते हैं कि अपना ज़मीर अगर जिंदा है तो सही और गलत का निर्णय करना आसान होता है " लेकिन जहाँ जमीर को जुजदानों में लपेटकर रख दिया गया हो और रिवायतों को मज़हब का नाम मिल गया हो वहाँ हिंदू या मुसलमान को इंसान बनाना, नामुमकिन न सही, खासा मुश्किल जरूर है।"[58] जरूरत है कि आज लोग हिंदू या मुसलमान बनकर न सोचने के बजाय इंसान बनकर सोचें तभी किसी समस्या का हल मिल सकता है।

अब्बू का शुमार हिंदुस्तान की उस पीढ़ी में है जिसने भारत और पाकिस्तान के विभाजन को अपनी आँखों से देखा था और उससे उत्पन्न होनेवाले परिणामों से भी वे अच्छी तरह वाकिफ थे। इतना ही नहीं वे इस दौरान अंग्रजों द्वारा रचे जा रहे कुचक्रों को भी समझ रहे थे। वे सुहेल और रशीदा को समझाते हुए कहते हैं- " अंग्रेज बहादुर की अदालत में एक मुकदमा-हिंदू और मुसलमान के बीच-अपनी आखिरी स्टेज में पहुँचे हुआ था। दोनों ही कौमें मुकदमा जीतने के लिए बड़े-से-बड़ा गुनाह करने पर आमादा थी। यही सब पढ़े-लिखे बड़े-बड़े लोग, जिनकी तस्वीरें तुम हिस्ट्री की किताबों और कैलेंडरों पर छपी देखते हो, कैसी ओछी और घटिया हरकतों पर उतर आए थे-अच्छा है जो तुमने अपने सामने सबकुछ नहीं देखा। ऐसे-ऐसे, जो साल-हा-साल से हम-प्याला, हम-निवाला थे, एक-दूसरे के खिलाफ बड़ी-से-बड़ी झूठी गवाही देने पर तैयार थे। मज़हब जो कल तक चारदिवारी के अंदर का मसला था, एकदम सड़क पर निकल आया था। सारे मुल्क से इंसान गायब, हिंदू था या मुसलमान। और वह मुकदमा था, जिसे हर सूरत में जीता जाना था। हुआ क्या ? वही जिसका सबसे ज्यादा खतरा था ! अंग्रेज बहादुर का फैसला इतना हकीकत-पसंद था कि दोनों ही कौमें जीत गईं। मुसलमान ने फतह पा ली, हिंदू विजयी हो गया। गाँधी जी का सपना, कि

मुल्क में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आपस में मिलकर रहें भी एक तरह से पूरा हो गया और जिन्नाह साहब का ख्वाब कि मुसलमानों के लिए एक अलग मुल्क हो, भी ताबीर पा गया। सिर्फ एक चीज इस मुकदमे में ऐसी थी, जो मजाक बनी तो बिल्कुल आखिर तक मजाक ही बनी रही। नतीजा यह निकला कि जिन्हें एक अलग मुल्क चाहिए था, वह मुसलमान चाँद-तारे के परचम के साए में पाकिस्तान चले गए, कुछ जो नहीं जाना चाहते थे, फसादों में हलाक हुए। इसी तरह जो हिंदू अपना घर-बार छोड़कर एकदम से बना दी गई एक सरहद के पार किसी सूरत जाने पर राजी न था, उसे मार-मारकर अपना घर छोड़ने पर मजबूर किया गया।"[59] अब्बू को भी लोगों ने कहा कि वे भी पाकिस्तान चलें जाएें लेकिन अब्बू का कहना है कि वे वहाँ अजनबियों के बीच क्यों जायें ? अब्बू वैचारिक संघर्ष कर रहे थे और उनका विचार में यह देश मुसलमानों का भी उतना ही है जितना हिन्दुओं का। अब्बू और उनके परिवार के वैचारिक लड़ाई की प्रशंसा करते हुए डॉ. रामचन्द्र तिवारी कहते हैं- " सूखा बरगद में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर सुलझी हुई प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया गया है। उपन्यास के केन्द्र में 'रसीदा' उसके पिता 'अब्बू' और 'सुहैल' है। अब्बू धार्मिक कट्टरता से दूर एक उदार इनसान है। वे देश का बँटवारा होने पर पाकिस्तान नहीं जाते। वे पाकिस्तानियों को अजनबी मानते हैं। आजीवन उन्हें संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले लोगों से जूझना पड़ता है। इस लड़ाई में वे जीत नहीं पाते। लेकिन जिस बहादुरी और निष्ठा से वे यह लड़ाई लड़ते हैं, वह बेजोड़ है। उपन्यास में सबकुछ गहरी संवेदना के स्तर पर घटित होता है। केवल वैचारिक बहस नहीं करायी गयी है। निश्चय ही यह उपन्यास मानवीय संवेदना और प्रगतिशील सोच के स्तर पर श्रेष्ठ कृति है।"[60] अब्बू अपने बच्चों के मन में यह भावना कूट-कूटकर भरते हैं कि एक इंसान को इंसान की तरह देखना चाहिए न कि उसके धर्म को प्रमुखता देनी चाहिए। अब्बू यह भी समझाते हैं कि एक लखनऊ का हिंदू भोपाल में रहनेवाले

लोगों से ज्यादा अच्छी उर्दू बोल सकता है। अब्बू का यह कहना बिल्कुल सत्य है क्योंकि सांस्कृतिक स्तर पर बंगाली मुसलमान और बंगाली हिंदू में ज्यादा समानता होगी। इसी तरह पंजाब में रहने वाले हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख में भी समानता होगी। उत्तर प्रदेश में रहनेवाले हिंदू और मुसलमान में भी यह समानता मिलेगी। जबकि पंजाब और उत्तर प्रदेश में रहनेवाले मुसलमानों और बंगाली मुसलमान के बीच सांस्कृतिक स्तर पर कई असमानताएं देखी जा सकती हैं। यही बात हिंदुओं पर भी लागू होती है। यह बात मुंशी प्रेमचंद ने बहुत पहले ही आजादी की लड़ाई और पाकिस्तान की मांग को खारिज करते हुए रेखांकित की थी।

अब्बू के इन विचारों से जुड़कर रशीदा और सुहेल के विचारों में भी परिवर्तन आता है। दोनों का जिंदगी और स्थितियों को देखने का नज़रिया ही बदल जाता है। इसी बीच भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध हो जाता है और देखते ही देखते भारत में रहनेवाले मुसलमानों की स्थिति दुविधा में पड़ जाती है। भारतीय मुसलमानों की इस पशोपेश में पड़ी स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण उपन्यासकार ने किया है। जब भी भारत का युद्ध पाकिस्तान के साथ हुआ है उन्हें अपनी वफादारी का उदाहरण देना पड़ता है। चाहे वह **48** का युद्ध हो या फिर **65** का, **74** का या फिर कारगिल का। पिछले कुछ दिन से उग्र हिंदुत्ववाद के बढ़ते प्रभाव में आकर गाहे-ब-गाहे भारतीय मुसलमानों को अपनी वतनपरस्ती का प्रमाण देना पड़ता है। हिंदुओं को कभी भी वतनपरस्ती का प्रमाण नहीं देना पड़ता। विजय और सुहेल के बीच जबरदस्त बहस भी इस मुद्दे को लेकर होती है यहीं विजय कहता है- " वैसे सच-सच देखा जाए तो गलती इसमें मेजोरिटी कम्यूनिटी की भी है। लोगों को अगर लगे कि उनके साथ बराबरी का सलूक किया जा रहा है या कोई प्यार-मुहब्बत से समझाए तो वह क्यों नहीं समझेंगे।"[61] सांप्रदायिक सोच का निवारण सांप्रदायिक सोच से नहीं किया जा सकता। अगर सांप्रदायिकता को खत्म करना है तो सबसे पहले भारत की बहुसंख्यक जनता को इस देश की

अल्पसंख्यक जनता को यह विश्वास दिलाना होगा कि कि यह देश भी उतना ही उनका है जितना देश की बहुसंख्यक जनता का है, उनके भी इस देश में उतने ही अधिकार हैं जितना देश की बहुसंख्यक जनता के हैं। केवल संविधान में इसका उल्लेख मात्र करने से कुछ भी नहीं होगा। अपने व्यवहार से ही यह प्रमाणित किया जा सकता है। विभाजन के बाद भारतीय जनता के बहुसंख्यक वर्ग ने अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात का एहसास होने ही नहीं दिया कि वह भी इस देश का निवासी है।

अब्बू और विजय के साथ हुई बातों और बहसों से सुहेल के विचारों में परिवर्तन देखने को मिलते हैं वह अपने विचारों से दूसरों को सहमत करवाना भी चाहता है- " हम और हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ यहीं जिएँगी यहीं मरेंगी, सच सिर्फ इतना है। जब मरकर इसी मिट्टी में मिलना है तो जीते-जी यहाँ की जिंदगी से क्यों कटा जाए ? देश को एक मिली-जुली तहजीब की जरूरत है, एक मिली-जुली भाषा चाहिए, जिसे सब अपना समझ सकें। उसके लिए सबको थोड़ी-थोड़ी कुर्बानी देनी होगी।-बात हिंदू और मुसलमान की नहीं, वर्गों की है। अगर एक ही वर्ग में पाँच हिंदू, पाँच मुसलमान एक लाइन में खड़े कर दिए जाएँ तो देखकर उनका धर्म कौन बता सकता है ?- उर्दू ? उर्दू हमारी मातृ-भाषा है, लेकिन देवनागरी का विरोध किसलिए ? देवनागरी में तो केवल लिपि ही बदलती है, लेकिन उर्दू और पश्तो में क्या समानता थी जो हमारे बुजुर्ग उसे भूलने पर तैयार हो गए ? आज हममें से कितने लोग अपनी असली, अगर 'असली' या 'नकली' का इस संदर्भ में कुछ अर्थ निकलता है तो, मातृ-भाषा-पश्तो-जानते हैं ?"[62] यहां यह देखा जा सकता है कि सुहैल के विचार कहीं भी हीन भावना से ग्रस्त नज़र नहीं आते। उसके विचारों में तार्किकता देखी जा सकती है मगर सुहेल के विचारों में परिवर्तन तब आ जाते हैं जब उस लड़की का विवाह किसी और से हो जाता है जिससे वह प्रेम करता है। लड़की के पिता सुहेल को केवल इसलिए नकार देते हैं क्योंकि

सुहेल एक मुसलमान है। इसके बाद ही सुहेल के विचार बड़ी तेजी से सांप्रदायिक विचारों से ग्रस्त हो जाते हैं। सुहेल में आये इस परिवर्तन पर विचार करते हुए आलोचक गोपाल राय कहते हैं- “ इस उपन्यास में साम्प्रदायिक सम्बन्धों की समस्या को पात्रों की गहरी अनुभूति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मजहबी कट्टरता से उत्पन्न नफरत की मनोवैज्ञानिक जटिलता को भी उपन्यासकार बड़े सांकेतिक रूप में प्रस्तुत करता है। सुहैल के साम्प्रदायिक भटकाव को उपन्यासकार ने आम मुसलमान के भटकाव के रूप में प्रस्तुत किया है। आजादी के बाद भारत में मुसलमानों के अजनबी-बोध से ग्रस्त होने, विश्वास संकट से गुजरने, राष्ट्रीय जीवन-धारा से कट जाने तथा बहुसंख्यकों के लिए अविश्वसनीय हो जाने की दु:खद स्थिति का उपन्यासकार ने गहरी संवेदना के साथ अंकन किया है। पाकिस्तान में बसे मुहाजिरों के बँटे हुए व्यक्तित्व के चित्रण में भी उपन्यासकार ने गहरी समझ और संवेदनशीलता का परिचय दिया है। ”[63] यदि हिंदू और मुसलमान के बीच पारिवारिक रिश्ते कायम हो जाते तो निश्चित ही मजहबी कट्टरता खुद-ब-खुद कम हो जाती। वैवाहिक रिश्ते केवल दो व्यक्तियों को ही आपस में नहीं जोड़ते बल्कि दो परिवारों को भी आपस में जोड़ते हैं। कथाकार भीष्म साहनी का उपन्यास **‘नीलू नीलिमा निलोफर’** भी इसी समस्या को उजागर करता है।

इसी बीच बांग्लादेश में मुक्तिसंग्राम आरंभ हो जाता है। भारत इस संग्राम में बांग्लादेश की मदद करता है। इस युद्ध में पाकिस्तान के लगभग एक लाख सैनिक भारतीय सेना के सम्मुख आत्मसमर्पण करने को मजबूर हो गये थे। पूरे विश्व के इतिहास में इतनी बड़ी जीत कभी किसी भी राष्ट्र को हासिल न हुई थी। यह वह समय था जब हर भारतीय गर्वित महसूस कर रहा था लेकिन भारतीय मुसलमान फिर एक बार द्वंद्व की स्थिति में थे। एक ओर राष्ट्र था तो दूसरी ओर धर्म। वे इस पशोपेश में थे कि वे करें क्या ? भारत की जीत पर अन्य देशवासियों की तरह खुशियाँ मनाये या अपने मुसलमान भाइयों की शर्मनाक हार पर

शोक मनायें। दिल और दिमाग के बीच जबरदस्त जंग छीड़ चुकी थी। रशीदा की मानसिक दशा के चित्रण के माध्यम से कथाकार ने भारतीय मुसलमानों की इस दशा का चित्रण किया है- " बंगला देश बनवाने के पीछे, पाकिस्तान की कमर तोड़ने की, हिन्दुस्तान की साजिश ! सभी को अंदाजा था कि पूरबी पाकिस्तान को कभी-न-कभी पश्चिमी पाकिस्तान से अलहदा होना है। फिर अगर हिंदुस्तान ने दो में से किसी एक की मदद की तो उसका दु:ख क्यों ? थे तो दोनों तरफ मुसलमान ही ! और देखा जाए तो हिंदुस्तान ने उनका साथ दिया जिन पर जुल्म हुआ था, जिनकी मदद की जानी चाहिए थी। अगर कोई और बड़ी ताकत यह करती तो शायद आपको पाकिस्तान टूटने का इतना दु:ख भी न होता ! हिन्दुस्तान से मदद माँगनेवाला आधा काफिर तो वैसे ही हो गया ! तो फिर, आप खुद क्या कर रहे हैं इस 'दार-उल-हरब' या 'दार-उल-कफ्र' में ! सारे-के-सारे ही हिज्रत कर जाते तो शायद एक ज्यादा ताकतवर 'दार-उल-इस्लाम' की बुनियाद पड़ जाती ! 'दार-उल-इस्लाम'!"[64] दरअसल धर्म की जड़ें कहीं न कहीं आज भी मध्ययुग में मौजूद हैं जिस समय राष्ट्र और वतनपरस्ती की परिभाषाएं कुछ और थीं और आज के समय में राष्ट्र और वतनपरस्ती का मतलब कुछ और ही है। उल्लेखनीय है कि मध्ययुग में राष्ट्रवाद जैसी कोई चीज न थी जबकि आधुनिक काल में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद जैसी चीजों का भी उभार हुआ। मगर भारत में जिस रूप में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता का उभार हुआ है और दोनों को एक-दूसरे का पर्याय समझा जाता है, वहाँ भी यह समझ लेना आवश्यक है कि राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता में कोई समानता नहीं है।

विभाजन के समय एक ओर पाकिस्तान का समर्थन करनेवाले वे मुसलमान थे जिन्होंने पाकिस्तान और लीग का समर्थन किया था लेकिन पाकिस्तान में न जा सके थे। वे पशोपेश की स्थिति में थे। उनकी हालत त्रिशंकु की भांति थी। देखते ही देखते वे खुद को

ठगा हुआ महसूस कर रहे थे और देश की मुख्यधारा से कट जाने के कारण उनकी हालत और भी बुरी हो गयी। दूसरी ओर पाकिस्तान जानेवाले मुसलमानों को यह बात अच्छी तरह से समझ में आ चुकी थी कि पाकिस्तान आकर उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। परवेज ऐसे ही लोगों में था। भारत आकर वह वहाँ की स्थितियों का वर्णन करते हुए कहता है- " आप लोगों को अंदाजा नहीं, वहाँ क्या हालात हैं। मुझे तो यहाँ भी सोचकर कँपकँपी आने लगती है ! और कौन-सा, कहाँ का इस्लाम ? -निजामे-मुस्तफा ? क्या सरकारी नौकरों पर नमाज़ पढ़ने की पाबंदी लगाकर या उनमें जा-नमाजें बाँटकर निजामे-मुस्तफा लाया जा सकता है ? सारी रोज़े, ज़कात; सूद खत्म करो, इंशोरेंस कंपनियों पर ताले डालो-की बातों के बीच करप्शन हद तक बढ़ गया है। मामूली मिसाल है, आप टैक्सी करना चाहें तो टैक्सीवाला कहता है मैं तो इस तरफ जा रहा हूँ, चलना हो तो चलो, और इतने पैसे लूँगा, मीटर-वीटर गया भाड़ में ! ठीक है, मैं नहीं कहता कि भुट्टो कोई बहुत अच्छा आदमी है-जैसा कि यहाँ इंडिया में इंप्रेशन है, लेकिन यह ज़िया-मूँछे देखी हैं आप लोगों ने उसकी ? बिलकुल जैसे वालरस की मूँछे होती हैं ! इसका तो कमीनेपन में कोई जवाब ही नहीं है।"[65] परवेज के इन विचारों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि पाकिस्तान जानेवाले मुसलमानों का पाकिस्तान से मोहभंग हो चुका था लेकिन आज भी भारत में रहनेवाले कई मुसलमान हैं जिनका पाकिस्तान के प्रति मोह अब तक बना हुआ है। साथ ही परवेज भारत में रहनेवाला मुसलमानों के संबंध में यह भी कहता है कि उनकी स्थिति पाकिस्तान में रहनेवाले मुसलमानों से कहीं ज्यादा अच्छी है। जरूरत है कि भारतीय मुसलमान भी भारत को अपना वतन समझें और तद्नुरूप आचरण करें। कुछेक पहल इस ओर देखने को मिली है परन्तु इसे और भी व्यापक रूप देना आवश्यक है।

उपन्यास में बीच-बीच में सुहेल की डायरी के कुछ अंश आते हैं जिसके द्वारा सुहेल के आशंकित मन को देखा जा सकता है। आलोचक डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ पूरे

उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना 'डर' को मानते हैं। दरअसल अब्बू, रशीदा और विजय कहीं न कहीं उपन्यासकार के विचारों के संवाहक हैं जबकि सुहेल मध्यवर्गीय भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता है। डॉ. अमिताभ कहते हैं- " उपन्यास में इस 'डर' का भोक्ता सुहेल है, जिसे कोई एक 'विचार', एक 'भावना' या कोई एक संस्कृति सुरक्षा नहीं दे पाती है। सुहेल एक व्यक्ति नहीं, 'वर्गचरित्र' है, एक समुदाय का प्रतिनिधि है, जो अपनी संवेदनशीलता के फलस्वरूप बार-बार आहत हुआ है, और जिसका गुस्सा उपन्यास के अन्त में आकर एक न खत्म होनेवाले 'डर' में परिवर्तित हो गया है।"[66] उपन्यास के बिल्कुल अंतिम अनुच्छेद में सुहेल इस बात से चिंतित नज़र आता है कि जमशेदपुर में दंगे शुरू हो चुके हैं जिसमें चुन-चुनकर मुसलमानों को मारा जा रहा है। इन दंगों में वह लेखक भी कत्ल कर दिया गया है जो जिंदगी भर अपनी कहानियों में हिंदू-मुसलमानों को भाई-भाई के रूप में दिखाता रहा। उपन्यास एक निराशावादी स्वर के साथ समाप्त होता है।

सुहेल के डायरी के जिन अंशों की ऊपर चर्चा की गई है उसमें वह अंश भी शामिल है जब सुहेल एक स्वप्न देखता है। स्वप्न में वह उस बरगद को देखता है जो कभी उसके बचपन का गवाह था। यहाँ आकर भी सुहेल को अपनी थकान से छुटकारा नहीं मिल पाता। इस थकान को चाहें तो शारीरिक भी कहा जा सकता है और मानसिक भी। वह स्वप्न में यह देखता है कि वह विशालकाय बरगद अपनी जड़ों पर ही खड़े-खड़े सूख गया है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ कहते हैं- " भारतीय परम्परा में 'बरगद' संस्कृति का प्रतीक रहा है। उपन्यास में यह 'सांस्कृतिक आस्था' का प्रतीक भी हो सकता है। कभी लगता है कि इतिहास, आस्था, सकारात्मक मूल्यों से बनी हिन्दुस्तानी संस्कृति को लेकर ही मोहभंग और निराशा का भाव सुहेल के मन में है और आश्चर्य का भाव भी है- 'अपनी जड़ों पर खड़ा का खड़ा बरगद सूख कैसे सकता है ?' सपने में देखा गया 'सूखा बरगद'

सुहेल के असुरक्षा-भाव को उजागर करता है। एक शिक्षित भारतीय मुसलमान जिस भारतीय संस्कृति में अपनी समस्याओं के समाधान समझ रहा था, वह उसे निराश करती है। 'बरगद' को 'जनतन्त्र' का प्रतीक मान लें तब भी यही नतीजा सामने आता है और एक सम्प्रदाय-विशेष की असुरक्षाजन्य हताशा को ही जाहिर करता है।"[67] धीरे-धीरे जिस प्रकार मौकापरस्त राजनीतिक और आर्थिक तंत्र मनुष्य को लील रहा है और सांस्कृतिक सौहार्द जिस प्रकार समाप्त हो रहा है, भारतीय गंगा-जमुना जैसी संस्कृति सूख रही है उसे लेकर उपन्यासकार की चिंता स्पष्ट है। रंजना अरगड़े आलोच्य उपन्यास को भारतीयों के स्वप्नभंग के रूप में देखती हैं- " 'स्वप्नभंग' उपन्यास के लिए कोई नया थीम नहीं है। पर इस उपन्यास का स्वप्नभंग 'विचारधारा' के स्तर पर है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसका प्रधान चरित्र 'आयडियोलॉजिकल स्वप्नभंग' का शिकार है। मुझे अगर किसी बात ने इस उपन्यास में सबसे ज्यादा पकड़ा है, या बाँधा है तो इसमें प्रकट हुई, पिछली दो-तीन दशाब्दियों की हमारी वैचारिक टूटन, करूण पराजय और इस बात को अपने पूरे सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ लेखक ने कुछ चरित्रों द्वारा व्यक्त किया है। इस अर्थ में ये चरित्र केवल प्रतीक भर हैं। कभी-कभी तो इन चरित्रों में एक पूरी की पूरी एलिगोरी (रूपक) भी नज़र आने लगती है।"[68] उपन्यास में अंततः अब्बू के विचारों को हारते हुए दिखाया गया है। परन्तु आश्चर्यजनक ढंग से डॉ. मुहम्मद फ़ीरोज़ खान आलोच्य उपन्यास को हिंदू-मुस्लिम सम्प्रदाय के बन्धुत्व के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं- "विभाजन के पश्चात सोचने-विचारने, रहने-सहने तथा पारस्परिक सम्बन्धों में आये बदलाव के अन्तर्गत साम्प्रदायिकता की भावना का उभरना स्वाभाविक था और अधिकांश लोगों की आँखों पर साम्प्रदायिकता का चश्मा चढ़ चुका था पर कुछ ऐसी जगह भी थी जो विभाजन के पश्चात् भी घृणा की इस आंधी से बची रह गई थी, जहाँ दोनों सम्प्रदाय के लोग बन्धुत्व भावना से जुड़े थे। इस जुड़ाव के पीछे आर्थिक विपन्नता की अहम् भूमिका

थी। ऐसी ही भावना से ओतप्रोत रियासत को 'सूखा बरगद' उपन्यास में मन्जूर एहतेशाम ने चित्रित किया है।"[69] परन्तु यदि गौर किया जाय तो इस उपन्यास में अब्बू के विचारों की हार होती है, सुहेल का विवाह उसकी प्रेमिका से नहीं हो पाता जिसमें खलनायक की भूमिका धर्म ही निभाता है, कमोबेश यही स्थिति रशीदा और विजय के संबंध की भी होती है। वह शहर जो विभाजन के कठिन दौर में भी सांप्रदायिकता से दूर था, धीमे-धीमे विभाजित होने लगा। जिसके वातावरण में भी विभाजन महसूस किया जा सकता है वहां डॉ. मुहम्मद फ़ीरोज खान को बन्धुत्व की भावना नज़र आती है।

आलोच्य उपन्यास पाठकों के सामने कई प्रश्न खड़े कर जाता है। क्या आजादी के इतने वर्षों के बाद भी भारत के अल्पसंख्यक दोयम दरजे के नागरिक ही बने रहेंगे ? क्या केवल वोट देने का अधिकार दे देने से ही अल्पसंख्यक समुदाय को समान अधिकार मिल जाते हैं ? कब तक धर्म के नाम पर मासूम लोगों के मन में सांप्रदायिक विचारों को ठूसा जायेगा ? कब तक अब्बू जैसे प्रगतिशील विचारों वाले अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक समुदाय के लोगों की पराजय होगी ? और अन्ततः आलोच्य उपन्यास यह सवाल भी सबके सम्मुख खड़ा करता है कि कब तक मनुष्यता को धर्म के नाम पर बेइज्जत किया जायेगा ? अब वक्त आ गया है जब इन सवालों का जवाब हर धर्म के नुमांइदे को देना पड़ेगा।

## 4.5. कितने पाकिस्तान

सन् 2000 में कमलेश्वर का उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** प्रकाशित हुआ जो हिंदी साहित्य में केवल अपने रूप और शिल्प के कारण ही अलग स्थान नहीं रखता बल्कि अपने वैश्विक सरोकारों के कारण भी विशेष है। इस उपन्यास के अलावा कमलेश्वर ने **'डाकबँगला'**, **'लौटे हुए मुसाफिर'**, **'समुद्र में खोया हुआ आदमी'**, **'काली आँधी'**, **'आगामी अतीत'**, **'तीसरा आदमी'**, **'वही बात'**, **'सुबह... दोपहर... शाम'**, **'रेगीस्तान'** आदि उपन्यास हिंदी साहित्य

को दिये हैं। पर **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास के कारण कमलेश्वर को उपन्यास विधा में विशेष प्रसिद्धि मिली। हालांकि इससे बहुत पहले सन् 1961 में सांप्रदायिकता और भारत विभाजन को केन्द्र में रखकर कमलेश्वर **'लौटे हुए मुसाफिर'** उपन्यास लिख चुके थे परन्तु **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास का कथ्य इससे बहुत आगे का है। **'लौटे हुए मुसाफिर'** एवं **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास के बीच में सांप्रदायिकता को ध्यान में रखकर कमलेश्वर **'कितने पाकिस्तान'** नाम से ही एक कहानी भी लिखते हैं। यह कहानी कमलेश्वर ने सन् 1969 में लिखी। भले ही इस कहानी का विजन एक सीमित दायरे का है फिर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। **'कितने पाकिस्तान'** कहानी में विभाजन के बाद भारत में बन रहे छोटे-छोटे पाकिस्तानों पर लेखकीय चिंता जाहिर की गई है तो **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में लेखक ने प्राचीन काल से लेकर अब तक अर्थात् 1999 तक पूरे विश्व में बन रहे पाकिस्तानों पर अपनी चिंता व्यक्त की है।

यह उपन्यास कथाकार के लंबे चिंतन का प्रतिफलन है। वस्तुत: सन् 1969 से ही कमलेश्वर इस समस्या से जूझ रहे थे, जिसका प्रतिफलन **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास है। स्वयं कमलेश्वर ने भी उपन्यास की भूमिका में इसका उल्लेख करते हुए स्वीकारा है - " यह उपन्यास मन के भीतर लगातार चलने वाली एक जिरह का नतीजा है। दशकों तक सभी कुछ चलता रहा। मैं कहानियाँ और कॉलम लिखता रहा। नौकरियाँ करता और छोड़ता रहा। टीवी के लिए कश्मीर के आतंकवाद और अयोध्या की बाबरी मस्जिद विवाद पर दसियों फिल्में बनाता रहा। ...कई सभ्यताओं के इतिहास और विकास की कथाओं को पढ़ते-पढ़ते चश्मे का नम्बर बदला। एक-एक घंटे की 27 कड़ियों को लिखते-लिखते बार-बार दिमाग़ आदिकाल और आर्यों के आगमन को लेकर सोचता रहा। बुद्धि और मन का सच मोहनजोदड़ो-हड़प्पा सभ्यता और आर्यों के बीच स्थापित किए गए 'संघर्ष-सिद्धान्त' को

स्वीकार करने से विद्रोह करता रहा। ... इन और ऐसी तमाम रचनाओं, विचारों, इतिहास की सैकड़ों सर्जनात्मक दस्तकों और व्यवधानों के बीच रुक-रुक कर 'कितने पाकिस्तान' का लिखा जाना चलता रहा।उन तमाम विधाओं की तकनीकी सर्जनात्मक का लाभ भी मुझे मिलता रहा।"[70] यहाँ देखा जा सकता है कि किस प्रकार एक लंबे समय से कमलेश्वर चिंतन एवं अध्ययन कर रहे थे और उसी चिंतन, मनन और अध्ययन का परिणाम है **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास।पाकिस्तान किसी राष्ट्र के रूप में न तो कमलेश्वर की कहानी में अभिव्यक्त हुआ है और न ही उपन्यास में।पाकिस्तान एक सोच, एक चेतना के रूप में दोनों ही विधाओं में उपस्थित है।**'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास के कथ्य पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. सूरज पालीवाल अपने आलेख **'इतिहास में जातीय एकता की तलाश'** में कहते हैं- " पूरे विश्व में फैल रहे आतंक, घृणा, साम्प्रदायिकता, नस्लवाद, जातिवाद एवं रंगभेद के कारण रोज पाकिस्तान बनने की रूपरेखा तैयार हो रही है।पाकिस्तान को यहाँ प्रतीक रूप में लिया गया है, पाकिस्तान केवल एक देश नहीं है बल्कि वह साम्प्रदायिक आधार पर बँटे मानवीय इतिहास की त्रासद गाथा का जीता-जागता रूप है।इस बँटवारे के लिये केवल मुस्लिम लीग या जिन्ना को दोष देने से समस्या का सरलीकरण होता है और ऐसे बहुत लोग हैं जो अपने मन को समझाने के लिये इस प्रकार के सरलीकरण के आदी हैं।कमलेश्वर उन ऐतिहासिक कारणों की तलाश करते हैं, वे केवल पाकिस्तान बनने तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह भी देखना-बताना चाहते हें कि सत्ता अपने हितों के लिये जब धर्म को प्राथमिकता देती है तो उसके नतीजे कितने घातक निकलते हैं ?"[71]

आलोच्य उपन्यास में इतिहास प्रसिद्ध एवं कई चर्चित हस्तियों को अदीब की अदालत में पेश किया गया है जो प्रागैतिहासिक युग से लेकर बीसवीं सदी के दौर तक संबंध रखते हैं।ऐसे में उपन्यासकार के सम्मुख किसी को नायक बनाना भी मुश्किल था और

खलनायक भी। इसलिए कमलेश्वर ने समय को ही अपने उपन्यास का नायक-खलनायक बना डाला- " इसलिए मुझे समय को ही नायक-महानायक और खलनायक बनाना पड़ा। "[72] समय से बड़ा नायक-खलनायक कौन हो सकता है जो चुपचाप समस्त घटनाओं को देखता रहता है। समय से बड़ी और प्रामाणिक गवाही कौन दे सकता है। जिस प्रकार उपन्यास में ऐतिहासिक हस्तियों का आना-जाना लगा रहता है और जिस प्रकार समस्त घटनाओं की चीर-फाड़ लगी रहती है, केवल समय में ही यह क्षमता है जो सही गलत का फैसला कर सके। इसी कारण उपन्यास में एक स्थल पर स्वयं वक्त आकर अदीब की अदालत में चीखते हुए कहता है- " अदीबे आला ! वक्त न हिन्दू होता है न मुसलमान... इतिहास गवाह है कि राजवाड़ों और सल्तनतों के लोग हिन्दू या मुसलमान तो थे लेकिन इनके स्वार्थों और महत्वाकांक्षाओं ने ही इन लोगों को और ज्यादा हिन्दू या मुसलमान बनाया था। जब-जब ये अपनी ताकत से अपनी महत्वाकांक्षाओं को हासिल नहीं कर सके हैं, तब-तब ही इन्होंने धर्म का दामन थामा है ...नहीं तो मुझे बताइए कि कितने राणा-महाराणा और सूबेदार-शहंशाह हैं, जिन्होंने धर्म की ख़ातिर अपनी गद्दी का परित्याग किया हो ? सच्चाई यह है कि आज तक किसी शहंशाह ने अपनी आन्तरिक मज़हबी जरूरतों के लिए अपनी सल्तनत नहीं छोड़ी ! नहीं तो क्या वजह थी... वक्त चीख रहा था-कि औरंगज़ेब, जो पाक कुरान की आयतें लिखता रहा और टोपियाँ सिल-सिलकर अपने गुजारे का इन्तजाम करता रहा, अगर वह सचमुच दिल से मजहबपरस्त था, तो वह दिए गए आश्वासन के तहत मुराद को हिन्दोस्तान का शहंशाह बनाकर खुद हज पर क्यों नहीं चला गया और उसने अपनी बाकी ज़िन्दगी मक्का और मदीना में एक हाजी-दरवेश की तरह क्यों नहीं गुजारी ?...मैं फिर अपनी बात दोहराऊँगा कि अपने स्वार्थों के लिए सब मज़हब को मानते थे, लेकिन मज़हब की बात कोई नहीं मानता था !"[73] हर बार धर्म की आड़ में अपने राजनीतिक स्वार्थों को ही पूरा करने की कोशिश की

गई है चाहे वह मध्यकाल में हो या फिर आज़ादी के दौर में पाकिस्तान की माँग हो। सभी थोपे हुए इतिहास को जीने के लिए बाध्य हैं, वह इतिहास जिसे साम्राज्यवादी ताकतों ने भारतीयों को विभाजित रखने और अपना शासन चलाने के लिए गढ़ा और जबरन थोप दिया।

इस उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों का जमावड़ा होने के बावज़ूद यह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यास में काल का सीधे-सीधे वर्तमान के साथ वास्ता नहीं होता लेकिन **कितने पाकिस्तान** उपन्यास का एक पाँव यदि भूतकाल में है तो दूसरा पाँव वर्तमान में है। अदीब की अदालत में प्राचीन, मध्यकाल और आधुनिक काल के भी कुछ पात्र मौजूद हैं। रोहिणी अग्रवाल कहती हैं- " असल में क्या यह सारा रूपक इसलिए नहीं बांधा गया कि साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा रचे और महिमामंडित किए गए इतिहास को आज अदीब की संवेदनात्मक, संदेहात्मक, विश्लेषणात्मक और सृजनात्मक दृष्टि से देखे जाने की जरूरत आन खड़ी हुई है ? खासतौर पर तीसरी दुनिया के देशों के लिए हीनता-बोध से उबरने, अपनी जड़ों से जुड़ने, अपनी अस्मिता को तलाशने और अपनी पराजयों को खंगालने के आत्मविश्लेषणात्मक दौर में उस सारे इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक हो गया है जो साजिशों, उन्मादों, प्रतिशोधों, हवसों और वहशी जुनूनों के चलते इन्सानियत और तहज़ीब दोनों का अंग-भंग करता आया है; जो विजेताओं और विजितों को दो दुनियाओं में बांट कर विजेताओं के सच को अंतिम सच का दर्जा देता आया है। इसलिए 'कितने पाकिस्तान' ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, इतिहास-अध्ययन का उपन्यास है।"[74] इसी रूप में इस उपन्यास को देखना भी चाहिए क्योंकि यह उपन्यास मनुष्यता की पड़ताल जगह-जगह करता है और मनुष्य में इंसान बनने की तहज़ीब पैदा करता है।

एक ओर इतिहास चलता है तो वहीं दूसरी ओर उपन्यास में अदीब का निजी प्रेम संबंध भी चलता रहता है। उपन्यास का प्रारंभ अदीब और विद्या के प्रेम संबंध के साथ

चलता रहता है। दोनो साथ-साथ कानपुर तक जाते हैं और विद्या फतेहपुर जाने के लिए गाड़ी कानपुर से बदलती है ओर अदीब शिकोहाबाद जाने के लिए गाड़ी बदलता है। यह क्रम दो साल तक चलता रहा और एक दिन अचानक विद्या अदीब से कहती है कि अब शायद वह लौट नहीं सकेगी। जाने के क्रम में विद्या के हाथ से कानपुर स्टेशन पर रुमाल गिरता है मगर अदीब उसे उठा नहीं पाता। जब भी अदीब कानपुर स्टेशन से गुजरता है उसे वह रुमाल गिरता हुआ नज़र आता है। आखिरी दिन जब विद्या और अदीब लौट रहे थे माहौल कुछ अलग सा था क्योंकि भारत और पाकिस्तान का बँटवारा हो चुका था लोग पाकिस्तान जाना चाहते थे। कई बरसों बाद उसे एक पत्र मिलता है उसे लगता है कि शायद यह पत्र विद्या ने ही लिखा है लेकिन जिस नफासत के साथ उर्दू का प्रयोग ख़त में किया गया है वह यह विश्वास नहीं कर पाता कि यह ख़त विद्या का है। दरअसल विद्या कौमी दंगों का शिकार हो जाती है और एक मुस्लिम परिवार में उसे पनाह मिलती है जहाँ वह इस्लाम कबूल कर लेती है और उसका नाम रखा जाता है परी। वह अब परवीन सुलताना बन चुकी। उसे इस्लाम जबरन कबूल नहीं करना पड़ता है दरअसल वह इस परिवार में महफूज रह सके इसलिए ही उसे मुसलमान बनाया जाता है। परवीन सुलताना उर्फ विद्या अदीब को भूल नहीं पाती। उपन्यास के अंत में वह बरसों बाद अदीब से मिलने के लिए अस्पताल में आती है जहाँ फिर एक बार उसका रुमाल गिर जाता है मगर इस बार अदीब परवीन सुलताना उर्फ विद्या को यह बता देता है कि उसका रुमाल गिर गया। एक बार फिर अदीब वह रुमाल नहीं उठा पाता लेकिन यह घटना यह सिद्ध करती है कि वर्षों बाद भी विद्या और अदीब के संबंध खत्म नहीं हुए। कहीं न कहीं दोनों के ही हृदय में एक-दूसरे का प्रेम संचित है।

अदीब एक पत्रकार बन चुका है और उसे खबर मिलती है कि एक बार फिर पाकिस्तान ने कारगिल के रास्ते हमला कर दिया है। एक ओर पाकिस्तान दोस्ती का हाथ बढ़ा

रहा था वहीं दूसरी तरफ पीछे से छुरा घोंप रहा था। पाकिस्तान ने लाहौर के घोषणा पत्र का उल्लंघन किया। ऐसी राष्ट्रीय विपदा के समय में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी जगजीत-गुलजार के कैसेट का लोकार्पण करने में व्यस्त थे तो दूसरी ओर सूचना एवं प्रसारण मंत्री प्रमोद महाजन प्रसार भारती को समाप्त करने में मशगूल थे। विदेश मंत्री जसवंत सिंह मध्य एशिया के देशों के साथ मित्रता संबंध बनाने में लगे हुए थे तो रक्षामंत्री जार्ज फर्नांडिस योगोस्लाविया पर हो रहे नैटो-अमरीकी हमलों पर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन कर रहे थे। उन्हें इस बात से कोई मतलब न था कि देश के जवान सीमा पर गोलियाँ खा रहे हैं। तब भारत के नेता उत्सवों में शामिल हो रहें हैं। नैतिकता इस हद तक गिर चुकी है कि देश का प्रधानमंत्री जिसे देश की जनता ने चुना है, देश की जनता को इस हमले से अवगत भी नहीं कराता। जबकि इसी सरकार को पहले गिरा दिया गया तो दूसरे ही दिन प्रधानमंत्री दूरदर्शन पर संदेश देने के लिए मौजूद थे। क्या यह देश के सम्मान के साथ किया गया बलात्कार नहीं था ? सभी लोग यह अच्छी तरह से जानते थे कि इसमें पाकिस्तान का हाथ है लेकिन तत्कालीन रक्षामंत्री बड़े ही गैरजिम्मेदाराना ढंग से यह बयान दे देते हैं कि पाकिस्तान और उसकी सेना का इस कृत्य में कोई हाथ नहीं है। सवाल उठता है कि क्या ये घुसपैठिये आसमान से आ गिरे थे और अगर आसमान से आ भी गिरे हों तो भी बिना किसी राष्ट्र की अनुमति के उसकी सीमा में घुसना नामुमकिन है। दरअसल इन नेताओं को न तो देश के सम्मान से कुछ लेना-देना है और न ही उन जवानों से जिन्होंने सीमा पर देश की रक्षा करने में अपने प्राणों की आहुति दी है। युद्ध के समय में ही तो हैं अधिक से अधिक धन बटोर कर अपनी जेब भरी जा सकती है। हर युद्ध में यही होता आ रहा है।

इस घटना से अदीब बहुत परेशान हो उठता है और सोचता है "कि क्या एक के जीवित रहने के लिए दूसरे की मौत जरूरी है।"[75] कमलेश्वर इस विचार को नकारते हैं कि

पाकिस्तान सन् **1947** में बना। उनका यह मानना है कि पाकिस्तान पूरे विश्व में सदियों से बनते आ रहे हैं। अदीब के साथ है महमूद। यह महमूद जब चाहे, जिस युग में प्रवेश करना चाहता है, कर सकता है। हिन्दुत्ववादियों ने अक्सर धर्मांतरण को इस्लाम पर हमले का प्रमुख औजार बनाया है मगर एक लंबे समय तक अछूतों के साथ दुर्व्यवहार किया गया उस पर न किसी को शर्म है और न अफसोस। यह कार्य सतयुग से तब से होता चला आ रहा है जब सम्राट गिलगमेश ने मनुष्य के लिए अमरत्व लाने का प्रण लिया और देवताओं ने उसे समाप्त करने के लिए कुचक्र रचा। सतयुग में भी राजा रामचंद्र ने ब्राह्मम धर्म की रक्षा करने के लिए शुद्र शंबूक की हत्या की क्योंकि उसने वर्णाश्रम के नियमों का त्याग कर तप, साधना और धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया, ऋषि और तपस्वी बनने का दुस्साहस किया। रामराज्य में भी धर्म के नाम पर घोर अन्याय हो ही गया। यह क्रम तब से चलता आ रहा है। ब्राह्मणों ने सदियों से शुद्रों और स्त्री पर अत्याचार किया है। वेद का पाठ करनेवाली स्त्री के कान में पिघला हुआ शीशा ड़ालने की परम्परा मौजूद रही है। यह कार्य धरती पर ब्राह्मणों ने किया है और ऊपर देवताओं ने। देवताओं ने भी स्त्री को केवल भोग्या के रूप में ही देखा। अपनी वासना को तृप्त करने के लिए ही अप्सराओं को रखा। न कभी प्रेम किया और न कभी जीवनसाथी बनाने का प्रयास किया। यह पृथ्वी ही थी जिस पर मनुष्य ने प्रेम इजाद किया और स्त्री को केवल देह के रूप में नहीं देखा।

एक ओर अदीब की अदालत में किसी एक खास मसले पर गहन चिंतन चल रहा है वहीं अदालत के दरवाजे और खिड़कियों पर हर युग के सताये लोगों की दस्तक पड़ती रहती है। कभी देवताओं के सताये हुए लोगों की दस्तक पड़ती है तो कभी सर्बिया के कोसोवो प्रदेश की दस्तक दरवाजे पर पड़ती है। सर्बिया पर नाटो ने हमला किया है जिसमें कई मासूम जानें गयी हैं और कई लोगों को अपना घर-बार छोड़कर शरणार्थी बनना पड़ा है।

नाटो चाहते हैं कि स्वायत्तता संपन्न देश को विभाजित करके कोसोवो को अपने नियंत्रण में रखा जाय। अदीब यह सवाल करता है कि आखिर वे ऐसा क्यों चाहते हैं। इस पर वह दस्तक उत्तर देते हुए कहती है- " नियंत्रण द्वारा आत्माओं को तोड़ा जाता है...फिर उन्हें विभाजित किया जाता है...उनमें सांस्कृतिक प्रतिरोध की शक्ति विखंडित की जाती है और तब बाज़ारवादी जोंकें उस विभाजित कौम का सारा रक्त चूस लेती हैं। खंडित संस्कृति के श्मशानों में तब उत्सव के बाज़ार स्थापित होते हैं...धर्म और इतिहास शोषकों के हाथों में खिलौना बन कर नाचते-गाते, जश्न मनाते अपने ही विभाजित अंग के शत्रु और अपने विनाश का कारण बन जाते हैं...बड़ी सभ्यताओं को तोड़कर उन्हें बंदी बनाने के लिए विभाजन का यही रास्ता उन असभ्य संस्कृतियों ने चुना है...जिनके खेतों में सिर्फ बारूद और बन्दुकें उगती हैं...इसी के चलते कोसोवो अपनी लाखो सन्तानों की मृत्यु देख चुका है और लाखों-लाख लोगों के विस्थापन के कारण विरान हो चुका है।"[76] उपरोक्त उद्धरण यह सिद्ध करता है कि कमलेश्वर की चिंता स्थानीय न होकर वैश्विक है। कमलेश्वर ने विश्व की उन तमाम जातियों को, जो किसी न किसी कारण शरणार्थी बनने को बाध्य हुई हैं या फिर सांप्रदायिक कारणों से सतायी गई हैं, अपने उपन्यास में अदीब की अदालत में दस्तक के रूप में खड़ा करते हैं और उन तमाम लोगों को, जो कहीं न कहीं इसके लिए जिम्मेदार हैं, अदीब की अदालत में हाज़िर करते हैं।

इसी क्रम में मुहम्मद अली जिन्ना को भी अदीब की अदालत में बुलाया जाता है। यहीं वक्त करवट बदलकर पीछे चला जाता है जहाँ वायसराय माउंटबेटन अपनी पत्नी एडविना को समझता है कि जब से राजसत्ता खत्म हुई और लोकतंत्र प्रारम्भ हुआ तब से जनता के प्रतिनिधियों के सम्मुख सबसे बड़ी दुविधा यह हुई कि जनता के सामने कही गयी बातों को, उनके सामने किये गये वादों को पूरा करना पड़ा। जिन्ना भी इसी दुविधाजनक

स्थिति के शिकार हुए। एक बार जब उन्होंने सार्वजनिक रूप से मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र 'पाकिस्तान' की माँग रख दी तो फिर वे वापस न लौट सके। उनका मन इसके कारण बहुत पछताता रहा लेकिन वे वापस न लौट सके अगर लौट जाते तो फिर अपना नेतृत्व खो बैठते। यह भी एक बड़ा सत्य है कि एक लंबे समय तक जिन्ना स्वयं मुस्लिम लीग से दूरी बनाये हुए थे और पाकिस्तान जैसे किसी भी राष्ट्र के खिलाफ थे। वे स्वयं पक्के मुसलमान भी न थे। अंग्रेजी ढंग की जीवन शैली उन्हें प्रिय थी। वे नमाज भी नहीं पढ़ा करते थे। इससे यह पता चलता है कि पाकिस्तान किसी धार्मिक जरूरत से बनाया गया राष्ट्र नहीं था, वह पूरी तरह से कुछ लोगों की वैयक्तिक इच्छाओं और राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं का परिणाम था। इसलिए ही यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि जब भी वक्त को पीछे की ओर खींचा जायेगा एक और पाकिस्तान ही बनेगा। वक्त को खींचकर बाबर तक ले जाने से सांप्रदायिकता की समस्या का समाधान नहीं निकल सकता।

अदीब की अदालत में चीखते हुए एक त्रिशूलधारी यही कहता है कि बाबर को ही अदालत में पेश किया जाय। हिंदुत्ववादियों का यह तर्क है कि बाबर ने इस्लाम का प्रचार करने के लिए ही भारत पर आक्रमण किया था, अयोध्या में राम मंदिर को ध्वस्त करके बाबर ने ही बाबरी मस्जिद बनवाई, हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस लगाई। अतएव बाबर इंसानियत की अदालत का सबसे बड़ा गुनहगार है। बाबर पर यह इल्जाम अदीब की अदालत में लगाये जाते हैं जिसका उत्तर देते हुए बाबर कहता है-" हमला ! तो एक बादशाह और क्या करता ? जब फरगना और बुखारा की मेरी सल्तनत छिन गई तो मुझे दूसरी सल्तनत बनानी ही थी...मैंने हिन्दुस्तान पर कई हमले किए, लेकिन जीत नहीं पाया। आखिरी बार जब मैं जीता तो सच्चाई यह है कि हिन्द पर हमला करने और इसे जीतने के लिए मुझे सुल्तान इब्राहिम लोदी के चचा, पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ और रणथंभौर के हिन्दू राजपूत राणा

सांगा ने बुलाया था !"[77] आगे बाबर यह बताता है कि वह भारत खुद को फतह करने के लिए आया था न कि इस्लाम के लिए। यह भी एक तथ्य ही है कि राम अवतारी पुरुष के रूप में, भगवान के रूप में तुलसीदास द्वारा बनाया गया और तब घर-घर में राम पूजनीय बने। जब बाबर पानीपत का युद्ध जीत कर भारत आया और शासन की बागडोर संभाली तब तुलसीदास बच्चा रहा होगा। फिर बाबर पर यह आरोप लगाना कि वह राममंदिर का विध्वंसक है खुद-ब-खुद गलत साबित हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अगर बाबर हिन्दुओं के खिलाफत की मंशा रखता ही था तो उसने कृष्ण के जन्म स्थान मथुरा को क्यों नहीं तोड़ा जो आगरा के काफी करीब पड़ता है? कृष्ण तब तक अवतारी पुरुष के रूप में स्वीकारे जा चुके थे और घर-घर में पूजे जा रहे थे।

बाबर अदीब की अदालत में दलील पेश करते हुए कहता है कि उसने न तो राममंदिर का ध्वंश किया है और न ही बाबरी मस्जिद का निर्माण करवाया है। इस बात की ताकीद करवाने के लिए ब्रिटिश हुकूमत के आर्कियालॉजीकल सर्वे आफ इंडिया के डायरेक्टर जनरल ए. फ्यूहरर को अदालत में बुलाने की गुजारिश करता है। ए. फ्यूहरर अदीब की अदालत में हाजिर होता है। यह ए. फ्यूहरर वही व्यक्ति है जिसने बाबरी मस्जिद की शिलालेख को पढ़ा था। अदालत फ्यूहरर से यह पूछती है कि उस शिलालेख में क्या लिखा था जिसका जवाब देते हुए कहता है कि हिजरी **930** यानी करीब **17** सितंबर सन् **1523** में इब्राहिम लोदी ने उस मस्जिद की नींव रखवाई थी। साथ ही वह यह भी बताता है कि इस खुतबे को वक्त ने नहीं बल्कि उन लोगों ने बर्बाद किया है जो रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के मुद्दे को जिन्दा रखना चाहते हैं। इब्राहिम लोदी पर सिर्फ इसलिए मस्जिद की नींव रखने के लिए तोहमत नहीं मढ़ी जाती क्योंकि वहाँ मन्दिर था ही नहीं और दूसरी बात यह थी कि उसकी दादी एक हिन्दू थी। हिन्दू दादी का खून रगों में होने के कारण लोदी पर यह

तोहमत कैसे लगायी जा सकती। बाबर पर इसलिए यह तोहमत लगायी गयी क्योंकि वह विदेशी था और दूसरी बात यह थी कि उसकी रगों में किसी हिन्दू का खून नहीं था। **1857** के बाद अंग्रेजों की नीतियों में जब बदलाव आया तो सबसे पहले उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लड़ाने की नीति बनायी। इसीलिए बाबरी मस्जिद पर लगा इब्राहिम लोदी का शिलालेख मिटा दिया गया। मगर उस शिलालेख का अनुवाद आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ इंडिया की फाइलों में पड़ा रह गया। बाबरनामा के भी उन पन्नों को गायब किया गया जिसमें इस बात का उल्लेख है बाबर कभी अयोध्या गया ही नहीं उल्टा फैजाबाद गजेटियर तैयार कर उसमें यह दर्ज किया गया कि बाबर एक हफ्ते तक अयोध्या में ठहरा और राममंदिर को तुड़वाकर मस्जिद का निर्माण करवाया। साथ ही नफरत को लोगों के मानस में और भी गहरे उतारा जा सके इसलिए यह दुष्प्रचार भी किया गया कि बाबरी मस्जिद का गारा बाबर ने अयोध्या-फैजाबाद के **1, 74, 000** लोगों को मारकर उनके रक्त से बनवाया था। तथ्य यह कहते हैं कि सन् **1869** में फैजाबाद-अयोध्या की जनसंख्या **9, 949** थी और **1881** में बढ़कर **11, 643** थी अर्थात् कुल जमा **12** वर्षों में आबादी में केवल **2000** का ही इजाफा हुआ।[78] इससे यह अंदाज लगाया जा सकता है कि सन् **1528** में अयोध्या और उसके आस-पास के इलाकों को मिलाकर कुल आबादी कितनी रही होगी।

सांप्रदायिक विचारों को फैलानेवाले लोग तथ्यों को नज़रअन्दाज कर देते हैं जिसके कारण उनकी बातें भी बिना सिर-पैर की हो जाती हैं। जिसका न कोई ओर होता है और न कोई छोर। तथ्यों और वास्तविकता के सम्मुख सांप्रदायिक विचार खड़े रह ही नहीं सकते। वे रेत के महल की भाँति भरभराकर गिर पड़ते हैं। सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करनेवालों ने मुगल सल्तनत के जिन दो बादशाहों के खिलाफ सर्वाधिक विषवमन किया वे बाबर और औरंगजेब हैं। मगर सच्चाई यह है कि इन बादशाहों ने भी हिंदू मंदिरों के नाम

जागीरें लिखीं, कई मंदिरों को कर से मुक्त किया और माफिनामा भी दिया। ऐसा ही एक मंदिर है अयोध्या का दंतधावन कुंड, जिसे बाबर ने माफिनामा दिया था। हाल के वर्षों में कई ऐसे दस्तावेज़ प्राप्त हुए हैं जिनसे यह पता चलता है कि औरंगजेब ने भी कई मंदिरों को संरक्षण प्रदान किया था। मगर हिन्दुत्ववादी इन तथ्यों को न तो देखना चाहते हैं, न सुनना और न ही समझना। कूपमंडुक की भाँति उन्हीं विचारों की दुनिया में वे जीना चाहते हैं जिनमें वे जीते चले आ रहे हैं। उपन्यास में अदीब एक स्थल पर यह कहता है कि ब्राह्मणवाद हर सभ्यता के पतन का कारण बना है। मिस्त्र में भी यही हुआ और सुमेरियन सभ्यता में भी यही हुआ है। ये सभी सभ्यताऐं समाप्त हो गयीं केवल ब्राह्मणवाद के कारण। दूसरी ओर बेबीलोनियन सभ्यता ने मिली-जुली संस्कृति अपनायी और मालामाल हो उठी। धीमे-धीमे उसमें भी कुलीनतावाद स्थान लेने लगा और यह सभ्यता भी ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सकी। हर तरफ इंसान इसी कुलीनतावाद का शिकार होता जा रहा है। चाहे पाकिस्तान में हो, भारत में हो, लेबनान में हो, मोलदोवा में हो या बोसनिया में हो। आज अमेरिका भी इसी कुलीनतावाद को बनाये रखने के लिए कभी ईराक पर हमला कर रहा है तो कभी तीसरी दुनिया के देशों के दोहन और शोषण में लगा हुआ है।

एक ओर अदीब की अदालत चल रही है वहीं अदालत की इन चीखों और दस्तकों से परेशान होकर अदीब जब भी भागता है तो अदीब के निजी जीवन की कुछ झांकियां देखने को मिलती हैं। इस निजी जीवन का ही एक हिस्सा जुड़ा हुआ है विश्व साहित्य के रचनाकारों से। उपन्यास में कुछ मौके ऐसे भी आये हैं जब विश्व साहित्य के जाने-माने रचनाकार उपन्यास में खड़े नज़र आते हैं। राकेश, रेणु, दुष्यंत, राही, परसाई, अमृता प्रीतम, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, मंटो, कर्त्तारसिंह दुग्गल, अज्ञेय जैसे कथाकारों का जिक्र उपन्यास में आता है। ये सब वे कथाकार हैं जिन्होंने अपनी लेखनी द्वारा सांप्रदायिकता की समस्या से

लड़ने की कोशिश की। इन कथाकारों की चिंता इसी बात से जुड़ी हुई थी कि इस दुनिया को बेहतर कैसे बनाया जा सके। उपन्यास में एक अंश ऐसा भी है जब कथाकार राही के गंगौली में पहुँच जाता है। यह अंश राही के उपन्यास **'आधा गांव'** से लिया गया है। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि इन रचनाकारों को मनुष्यता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता निभाने के कारण ही सांप्रदायिकतावादियों के कोप का भाजन बनना पड़ा था मगर इन रचनाकारों ने कभी भी मानवीय सरोकारों से मुँह नहीं मोड़ा।

वहीं अदीब के निजी जीवन का दूसरा हिस्सा उपन्यास के कुछ अंशों में तब देखने को मिलता है जब अदीब और सलमा के प्रेम संबंध के क्षण उपन्यास में देखने को मिलते हैं। प्रेम जीवन का शाश्वत संबंध है। हर किसी के नसीब में प्रेम नहीं होता। यह भी एक सत्य है कि हर किसी के जीवन में एक न एक क्षण ऐसा अवश्य आता है जब उसे किसी से प्रेम हो जाता है लेकिन अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, पारिवारिक एवं सामाजिक बंदिशों के कारण यह देखा गया है कि प्रेम सफल नहीं हो पाता। कोई भी व्यक्तिगत संबंध तभी सफल हो सकता है जब वहाँ स्वार्थ से ऊपर उठकर देखा जाय। धर्म और समाज की बंदिशें हर जगह मौजूद हैं लेकिन व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध निजी मामला है और उसमें हस्तक्षेप करने का हक किसी का नहीं होता। ऐसा ही एक क्षण अदीब और सलमा के निजी जीवन में आता है जब नईम, जो सलमा के दिवंगत शौहर का भाई है, सलमा और अदीब के संबंधों पर आपत्ति जाहिर करता है। तब सलमा चीखते हुए कहती है- " आप इस वक्त मॉरिशस में अकेले हैं, आप मेरे फ़ौत फरमाये खाविंद सलमान हुसैन के कज़िन हैं...अगर मैं इस्लाम के नाम पर अदीब को छोड़कर अभी, इसी रात आपके साथ सो जाऊँ तो शरीयत, हदीस और पाक कुरआन शरीफ़ सब मेरा साथ देने लगेंगे...क्योंकि आप इन पाक उसालों को इन्सानी पहचान से अलग करके इस्लामी पहचान देकर अपने लिए महदूद कर लेना चाहते हैं ! इसलिए नईम

साहब ! आप मुझे मज़हब का वास्ता मत दीजिए...हर मज़हब में आप जैसे घटिया और कमीने लोग मौजूद हैं जो अपनी जिस्मानी ख्वाहिशों के लिए मज़हब का इस्तेमाल एक तमंचे की तरह करते हैं ! यह तमंचा आपकी पैंट के नेफ़े में कैद है और कुलबुलाता रहता है और इसकी जरूरत के मुताबिक आप जैसे लोग मज़हब का वास्ता देते रहते हैं !"[79] अक्सर देखा गया है कि यदि कोई हिंदू मर्द यदि किसी मुसलमान स्त्री से विवाह कर लेता है तो धर्म को कोई आपत्ति नहीं होती बल्कि उसे गर्व और मुसलमानों पर विजय समझा जाता है लेकिन यदि कोई हिंदू स्त्री किसी मुसलमान पुरुष के साथ विवाह कर लेती है तो धर्म की हानि होने लगती है, धर्म खतरे में पड़ जाता है। यही हाल मुसलमानों के यहाँ भी है। अर्न्तधार्मिक वैवाहिक संबंधों द्वारा ही सांप्रदायिकता की समस्या का समाधान संभंव है। यह पहले भी हुआ था और आज भी हो सकता है। राष्ट्रकवि दिनकर हिन्दू-मुसलमान की समस्या पर विचार करते हुए कुछ ऐसी ही बाते कहते हैं। पहले आर्यो और द्रविड़ो के बीच भी तनातनी मौजूद थी लेकिन जब आर्य एवं द्रविड़ों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित होने के कारण आर्य और द्रविड़ों के आराध्य, रीति-रिवाज़, परम्पराओं एवं पूजा-पद्यतियों का प्रवेश एक-दूसरे के दैनिक जीवन में होने लगा तो धीरे-धीरे समस्त असमानताएं मिटने लगीं और उसके स्थान पर जिस मिली-जुली संस्कृति ने स्थान लिया उसे हिंदू संस्कृति समझा जाने लगा। दिनकर कहते हैं- " यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया कि सारे देश में आर्य और द्रविड़ एक-से दिखायी देने लगे और उनका रस्म-रिवाज़, इतिहास-पुराण, साहित्य और संस्कृति, सब कुछ एक हो गया। आर्य बहुत मात्रा में द्रविड़ और द्रविड़ बहुत मात्रा में आर्य हो गये। और इन्हीं दोनों जातियों ने मिलकर उस संस्कृति, जाति या समाज का निर्माण किया, जिसे हम हिन्दू-समाज कहते हैं। "[80] इसी प्रकार जब हिंदू और मुसलमान के बीच वैवाहिक संबंधों को निर्विरोध स्वीकृति मिलने लगेगी तब सारी असमानताऐं खत्म हो जायेंगी और एक मिली-जुलि संस्कृति से जिस राष्ट्र का जन्म होगा

वह सच्चे अर्थों में भारत कहलायेगा जो अल्पसंख्यकों का भी उतना ही होगा जितना बहुसंख्यकों का। जैसे आज आर्य या द्रविड जैसा कोई विभाजन भारत में नहीं है उसी प्रकार हिंदू या मुसलमान जैसा कोई भी विभाजन समाज में नहीं रहेगा। इस्लाम भी एक उदार धर्म था जिसमें किसी प्रकार का विभाजन न था, सभी एक समान थे लेकिन भारतीय इस्लाम भी ब्राह्मणवाद का शिकार हो गया और जातिवाद का शिकार हो गया। केवल पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमानों के कारण ही पाकिस्तान बना यह कहना गलत है। भारतीय मुसलमानों के एक बड़े हिस्से ने पाकिस्तान का समर्थन किया था, विभाजन के बाद पाकिस्तान जाने पर उन्हें 'मुहाज़िर' कहा गया और आज भी वे वहाँ 'मुहाज़िर' ही हैं।

यह समझना बहुत जरूरी है कि हर देश में, हर काल में हर धर्म के अपने पनपने के कारण होते हैं। बौद्ध धर्म जिस रूप में भारत में पनपा उसी रूप में दूसरे देशों में नहीं पनप सकता था। जिस रूप में हिन्दू धर्म भारत में मौजूद है उसी रूप में हिन्दू धर्म भारत के बाहर मौजूद है यह नहीं कहा जा सकता। उसी तरह भारत में इस्लाम जिस रूप में मौजूद है भारत के बाहर ईरान या खाड़ी के देशों में इस्लाम का रूप वैसा नहीं है। इस्लाम भारत में बाबर लेकर नहीं आया बल्कि उससे बहुत पहले इस्लाम भारत में आ चुका था। भारत से अलग होकर जिस पाकिस्तान राष्ट्र का निर्माण इस्लाम के नाम पर हुआ वह आज भी कहीं न कहीं भारतीय संस्कृति की एक झलक जरूर देता है। यह वही संस्कृति है जो लगभग **400** वर्षों तक एक साथ रहने के कारण इस प्रकार आपस में घुल-मिल गयी कि दोनों को एक-दूसरे से अलग कर पाना मुश्किल हो गया। भारत से पाकिस्तान जानेवाला व्यक्ति या पाकिस्तान से भारत आनेवाला व्यक्ति कभी यह महसूस नहीं कर सकता कि वह किसी गैर मुल्क में आया हुआ है लेकिन धर्म के नाम पर विभाजन की पक्षधरता करनेवालों ने हमेशा लोगों को गलत राह दिखायी है। उपन्यासकार उपन्यास में अलग-अलग पात्रों के माध्यम से

यही बात कहने की कोशिश करते हैं। उपन्यास में निखिल चक्रवर्ती कहता है-" पाकिस्तान से पाकिस्तान ही पैदा होता है...यह छूत का एक रोग है ! जब तक धर्म, नस्ल, जाति और दुनिया की पहली शक्ति बनने का नशा नहीं टूटता, जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती तब तक धरती पर पाकिस्तान बनाए जाने की नृशंस परम्परा जारी रहेगी...।"[81]

उपन्यास में एक स्थल ऐसा भी आता है जब अदीब लगभग निर्णय की मुद्रा में यह कहता है कि बाबर को समझने में हमसे भूल हुई है। अदीब कहता है- "...मुझे लगता है कि बाबर और हुमायूँ के पश्चाताप और शोक का मूर्तिमान रूप था-अकबर ! और जहाँगीर तथा शाहजहाँ के पश्चाताप का नतीजा था-दाराशिकोह ! लेकिन मुश्किल यह है कि राजतंत्र की कोई धर्म, संस्था कोई मज़हबी तहरीक किसी शोक और पश्चाताप को मंजूर नहीं करती ...क्योंकि धर्म या मज़हब जिन्दगी की सच्चाइयों से हमेशा सदियों पिछड़ा रहता है ! और यही तमाम बेबुनियाद पाकिस्तानों की बुनियाद बनता है !...हजरत शिबली नोमानी जैसे लोग ही इन ग़ैर-कुदरती पाकिस्तानों की बुनियाद ड़ालते हैं...मिस्त्र, ट्यूनिसिया, तुर्की, अल्जीरिया, सोमालिया, लेबनान ओर ईराक में क्या हो रहा है ? वहाँ तो मुसलमान ही मुसलमान से लड़ रहा है, तो शिबली मोमानी साहब ! यह लड़ाई धर्म की नहीं, धर्म और धर्मान्धिता की है। इस्लाम जैसा धर्म ही खुद अपनी धर्मान्धिता से लड़ रहा है ! और शायद दुनिया के हर धर्म को अपनी धर्मान्धिता से लड़ना और उसे जीतना पड़ेगा !...आप अपने धर्मान्धितावादी तर्कों से पाकिस्तानों में से पाकिस्तान बनाएँगे, पर धर्मवादी दुनिया अपने धार्मिक विश्वासों को जीवित रखते हुए एक मनुष्यवादी धर्म के संविधान की परिकल्पना करेगी...यह किसी एक धर्म की दुनिया नहीं होगी, यह बहुधर्मी लोगों की एक धार्मिक दुनिया होगी ! अपने-अपने धर्म की धर्मान्धिता से लड़ते रहनेवाले धर्म-परस्त लोगों की दुनिया !"[82]

दरअसल सांप्रदायिकता का मूल कारण धर्म नहीं बल्कि धर्मान्धिता है। हर देश में, हर धर्म में,

हर युग में मनुष्यता को धर्मान्धिता से लड़ना पड़ा है। आगे भी मनुष्यता को जीवित रखने के लिए धर्मान्धिता से लड़ना होगा। मुल्ला-मौलवी, पंडितों ने हमेशा सत्ता के सामने दुम हिलायी है और जब जिस बादशाह या राजा-महाराजा ने चाहा, अपनी सुविधानुसार धर्म में जोड़-तोड़ कर दी। आज भी कुरान की आयतों, भगवद्गीता का हवाला देकर मुल्ला-मौलवी, संत-महात्मा, पंड़े-पुजारी लोगों को बरगलाते हैं, उन्हें उकसाते हैं, आपस में लड़ाते है।

उपन्यास में अदीब के सम्मुख ऐसा दृश्य खड़ा होता है जहाँ वह देखता है कि हिन्दुस्तान के रूप में जो मुल्क उसके सामने था उसके बाशिंदों की गर्दनों पर सिर नहीं थे। बाजार, मंदिर-मस्जिद सबकुछ था बस गर्दन के ऊपर सिर नहीं था। वे शरीर बातें कर रहे थे, चीजें खरीद रहे थे, मोल-भाव कर रहे थे लेकिन उनकी केवल आवाजें आ रहीं थीं, बात करते हुए होंठ, झपकती हुई पलकें नज़र नहीं आ रहीं थी। यह हालत पूरे मध्य एशिया से लेकर तुर्की तक फैली हुई थी। ये सिर कहाँ गायब हुए यह सोचना जरूरी है। तीसरी दुनिया के लोगों के जितने भी लोग हैं उन्होंने मौलिक चिंतन कभी किया ही नहीं। जो भी चिंतन किया वह कहीं न कहीं पश्चिम के विचारों से प्रभावित था। इस कारण वैचारिक स्तर पर वे शून्य हैं और किसी के बहकावे में आने में तीसरी दुनिया के लोगों को ज्यादा समय नहीं लगता। आज भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कार्यरत हैं और तीसरी दुनिया के लोगों पर अपने विचारों को थोप रहे हैं और उनका शोषण कर रहे हैं। इससे पहले की तीसरी दुनिया का कोई राष्ट्र महाशक्ति बनकर उभरे ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ जबरन उनपर युद्ध थोप कर या उसके पड़ोसी देशों को उकसा कर युद्ध थोप रहे हैं जिसके कारण वह देश विकसित नहीं हो पाता। एक सोची-समझी साजिश के तहत साम्राज्यवादी शक्तियों ने मध्य एशिया और दक्षिण एशिया तक के राष्ट्रों को आपस में लड़ाने का प्रयास किया है।

इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने पहले हिन्दुस्तान को बाज़ार के रूप में चुना जहाँ वे अपने उत्पाद बेच सकें और यहाँ से कच्चा माल ले जाकर उसे तैयार करने के बाद फिर हिन्दुस्तान में ही ऊँचे दाम पर बेचा। अब इनकी भूख और बढ़ चुकी है और अब उन्हें नये बाज़ारों की तलाश है। इसलिए अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अब इन शक्तियों ने दूसरी ओर रुख कर लिया है। अदीब इनका नकाब उतारते हुए कहता है- " इसलिए कि सौदागरों की जिस जमात ने अपना साम्राज्य स्थापित करके हिन्दुस्तान को जकड़ लिया है...वे ही उपनिवेशवादी फिरंगी अब चीन में बाज़ार बनाने के रास्ते तलाश रहे हैं इसलिए मुझे यहाँ आना पड़ा...और सुनो-बाज़ारों के लिए ही बनते हैं साम्राज्य ! और साम्राज्यों को जीवित रखने के लिए ही बनाए जाते हैं बाज़ार ! साम्राज्यों की नाभी बाजार से जुड़ी है। साम्राज्यों के रूप बदल सकते हैं...वे प्रजातांत्रिक आर्थिक साम्राज्य का रूप ले सकते हैं परन्तु, इन पूँजीवादी प्रजातन्त्रों को जीने के लिए मुनाफ़े के बाज़ारों की जरूरत है...बाज़ार! बाज़ार !! बाज़ार !!! यही है औद्योगिक क्रान्ति का सतत् जीवित रहने की मजबूरी भरा सिद्धांत ! यही है पूंजीवाद। इसी का दूसरा नाम है साम्राज्यवाद। तीसरा नाम है उपनिवेशवाद। और आज दस्तक देती हुई नई सदी में इसका नाम है बाज़ारवाद। यह व्यवस्था कच्चे माल की प्राप्ति और नित नए बाज़ारों के निर्माण के बिना जी नहीं सकती। यातना, विषमता और अवसाद के बीच यह देते हैं कृत्रिम उत्सव और उल्लास। सड़ती लाशों के अम्बार पर ये छिड़कते हैं क्रिश्चियन डियोर, शैनल और अमुआगे क्रिस्टल का इत्र। कटी हुई लहूलुहान गर्दनों में ये पहनाते हैं लानविन की नेकटाइयाँ और मेजोरिका के नेकलेस। टूटी हुई कलाइयों में ये बाँधते हैं राडो और रेमण्डवील की घड़ियाँ और चकनाचूर उँगलियों को ये पकड़ाते हैं मोंटब्लैंक और वाटरमैन के कलम।"[83] इस बाजारवाद के दौर में इंसान अंधी दौड़ में शामिल हो गया है। उसके अंदर की संवेदनाएं मरती जा रहीं हैं। इंसान का स्थान कृत्रिम साधन ले रहे हैं।

संसाधनों पर अधिकार जमाने के लिए होड़ मची हुई है। भारत में आज भी ऐसे स्थान हैं जहाँ पीने के लिए साफ पानी नहीं मिलता लेकिन पेप्सी और कोका कोला की पहुँच उन स्थानों तक बन चुकी है।

आलोच्य उपन्यास में सभ्यता चिंतन के साथ प्रेम संबंध भी चलते रहते हैं। लेखक ने बड़ी ही संजीदगी और एहतियात के साथ प्रेम संबंधों को बचाये रखा है। प्रेम प्रकृति का दिया हुआ वह वरदान है जिसे देवता इजाद न कर सके। मनुष्य ने इसे खोजा, उसके महत्व को जाना, उसका सम्मान किया। प्रेम के द्वारा ही मनुष्य जानवर से मनुष्य बन सका। मनुष्यता के गुण उसमें प्रेम के कारण ही उभरे। लेखक की आशा भी यहीं बंधी हुई है। इसी निश्छल प्रेम के कारण अदीब और सलमा के बीच संबंध बनते हैं और इसी निश्छल प्रेम के कारण विद्या एक लंबे अंतराल के बाद भी अदीब को भुला नहीं पाती और उससे मिलने के लिए अस्पताल चली आती है। विद्या और सलमा के साथ अदीब के प्रेम संबंध पर विचार करते हुए प्रसिद्ध रचनाकार विष्णु प्रभाकर कहते हैं-" यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस उपन्यास में दोनों प्रेमिकाएँ धड़कन हैं- इन्सानियत की। और भूमिका में कमलेश्वर ने जिस बेचैनी व असमर्थता की चर्चा की है, वही उनकी शक्ति बन गयी है।"[84] वहीं दूसरी ओर उपन्यास में बूटासिंह और जेनिब का शाश्वत प्रेम संबंध है जो धर्म और जाति के परे है। इन प्रेम संबंधों के कारण ही उपन्यास में मानवीय रिश्ते भी बने रहते हैं।

इस उपन्यास में लेखक की कुछ प्रमुख चिंताएं उभरकर आयी हैं जो निम्नलिखित उद्धरणों में देखी जा सकती हैं-" -भाईजान ! यहाँ कोई इतिहासकार कभी लौट कर नहीं आएगा लेकिन अपनी बिरादरी के हर सदी के अदीब को तो यहाँ आना ही पड़ेगा क्योंकि इस दाराशिकोह ने एक तहज़ीब, एक इंसानी पद्धति, एक संस्कृति को ज़िन्दा करने

का बीड़ा उठाया था, लेकिन तक़दीर ने इसके हाथों से क़लम छीन लिया और एक ख़ूनी तलवार ने बनती हुई क़ौम की जन्म कुंडली पर रक्त की स्याही फेर दी...”[85]

“ -आनेवाली सदियों सुनो ! बनती हुई इंसानी तहजीबें जुल्मों तले इसी तरह रोती और सिसकती रहेंगी और दाराशिकोह की तरह कोई न कोई भविष्यद्रष्टा इसी तरह हर सदी में सूली पर लटकाया जाएगा...और...और उसकी आँखों के आँसू ओस बनके धरती की घास पर छलकते रहेंगे...जो घास पर पड़ी इस आँसूभरी ओस को नहीं पहचान पाएँगे वह अपने मुस्तकबिल, अपने भविष्य को कभी बदल नहीं पाएँगे...”[86]

“ - यह तो मेरे साथ होता रहा है...जब-जब मनुष्य को मारा गया तो मेरा ही रक्त बहा है ... हर सभ्यता के साथ मैं ही मरा हूँ।और हर अगली सभ्यता मेरे इसी बहते रक्त-बीज से जन्मी है...जैसे प्रकृति की जड़ें पर्वत, सागर, अन्तरिक्ष और धरती के वृक्षों में मौजूद हैं, उसी तरह मेरी जड़ें मनुष्य के सन्ताप, आकाश, सपनों और सुख की नींव में मौजूद हैं ! और मैं कह सकता हूँ अदीबे आलिया कि अतिरिक्त स्वार्थ, सुख, अतिरिक्त सत्ता की हवस ने ही हमें बर्बर और असहनशील बनाया है...”[87]

हर देश का इतिहास जो मिथ्या तथ्यों पर गढ़ा गया है उसे एक न एक दिन विनाश की कगार पर पहुँचना ही पड़ता है।दूसरे शब्दों में यदि कहें तो यही उसकी नियति होती है।साथ ही भ्रमित तथ्यों पर आधारित इतिहास को भोगनेवाले लोगों का जीवन भी कभी सुखी और संपन्न नहीं हो सकता।हर वक्त इतिहास में ही रचा गया झूठ कहीं न कहीं खड़ा हो जाता है जिसके कारण उस देश में रहनेवाली जनता आपस में लड़ने लगती हैं। भारत के साथ भी यही हुआ जब औपनिवेशिक शासकों ने अपनी सुविधानुसार भारत का इतिहास गढ़ा और सदियों की सांस्कृतिक एकता की भारतीय धरोहर की नींव को कमजोर बना ड़ाला।स्वयं भारतीय जनता भी अपनी सांस्कृतिक विरासत को भूलकर आपस में लड़ने

लगी जिसका फ़ायदा अंततः अंग्रेजों को ही मिला। एक साज़िश के तहत अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच वैमनस्य के बीज बोये। न केवल तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा बल्कि उन तमाम तत्वों को समाप्त करने का प्रयास भी किया जिनके द्वारा खोयी हुई एकता वापस हासिल की जा सकती है। परंतु वक्त के पन्नों पर लिखे इतिहास को मिटाया नहीं जा सकता। इस गुज़रे हुए वक्त को ही वर्तमान में गवाही देने के लिए कमलेश्वर **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में खड़ा कर देते हैं।

उपन्यास का अंत अत्यंत ही सांकेतिक ढंग से होता है। जहाँ कबीर बोधिवृक्ष लगाने का संकल्प लेता है। बोधिवृक्ष में ही यह शक्ति है जो नीलकंठ की भाँति सारा विष पी सकती है। साथ ही वह गीत गाता है जो कभी गाँधी का भी बड़ा प्रिय गीत हुआ करता था- 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे...'। एक ओर अदीब का मन विचलित है क्योंकि विश्व में महाशक्ति की आकांक्षा रखनेवाले राष्ट्रों ने क्षणभर में मानव जाति को समाप्त करनेवाले परमाणु बमों का आविष्कार कर लिया है। आज पूरे विश्व पर परमाणु अस्त्रों के हमलों का खतरा मँडरा रहा है। ऐसे में भारत भी परमाणु शक्ति से लैस होने के लिए पोखरन में परमाणु परिक्षण कर चुका है। परमाणु बमों का विध्वंसात्मक परिणाम मनुष्य ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के हिरोशिमा और नागासाकी के रूप में देखा है। ऐसे में अदीब का विचलित होना लाज़मी है। रोहिणी अग्रवाल कहती हैं- " संस्कृति असल में मनुष्य के रूप में अपने को पहचानने और बृहत मानव समुदाय से सार्थक संवाद बनाने की अनवरत कोशिश का नाम ही तो है। ...तथाकथित लोकतंत्र और अदीब नफरत की भित्ति पर टिकी वर्तमान की विभीषिका से त्रस्त और क्षुब्ध है, लेकिन कबीर अपनी फकीरी को मुक्त भाव से स्वीकारते हुए अखिल ब्रह्मांड में 'वैष्णव जन' का संस्कार रोपने का विश्वास लेकर संस्कृतियों के बीच संवाद के लिए निकल पड़ा है।"[88] आपसी वैमनस्य, मन-मुटाव भी तभी समाप्त होंगे जब

संवाद की स्थिति कायम होगी। बाजारवाद या उपभोक्तावाद या नवउदारवाद जो भी कह लें, आज सूचना क्रांति के इस युग में संवाद लगातार घटते जा रहे हैं, संबंध लगातार सिकुड़ते जा रहे हैं। जरूरी है कि आपस में संवाद कायम किया जाय। इसी आशावादी स्वर के साथ उपन्यास का अंत होता है। अगर यह संवाद न बना तो न जाने कितने पाकिस्तान और बन जायेंगे। हर व्यक्ति अपनी अदालत में ही गुनहगार बनकर कटघरे में खड़ा नजर आयेगा। इस उपन्यास के संबंध में डॉ. विजय बहादुर सिंह कहते हैं- " यह उपन्यास यदि लोकप्रियता के पिछले तमाम रिकार्ड तोड़ आया है और आगे ही आगे बढ़ रहा है तो उसका कारण इसकी वह विषय-वस्तु है जिसने हमारे समय और हमारी सभ्यता को हलकान कर रखा है। हम तीसरी दुनिया के लोग पश्चिम के नए सौदागरों के इंद्रजाल में फँसने के कगार पर है। वह सभ्यता ग्लोबीकरण के नाम पर हमारे विनाशीकरण की ओर कूच कर चुकी है। उपन्यास हमें इस हिंसक और आक्रामक हमले के प्रति सचेत करता है और तीसरी दुनिया के तमाम मुल्कों को एक साथ खड़े होकर इसके मुकाबले के लिए आवाज लगाता है।"[89] उपन्यास में अदीब के विचार यही कार्य करते हैं।

तीसरी दुनिया के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती यही है कि साम्राज्यवादी शक्तियों के सम्मुख तीसरी दुनिया के राष्ट्र मजबूती से कैसे खड़े रहें ? साथ ही 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास पाठकों के सम्मुख कुछ सवाल भी छोड़ जाता है कि क्या कभी ऐसा संभव होगा जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का आदर करना सीखेगा ? क्या गिलगमेश वह औषधि लेकर कभी वापस लौटेगा जिससे मनुष्यता भी अमरत्व प्राप्त कर सकेगी ? क्या बोधिवृक्ष पूरे संसार में विद्यमान विष को अपनी जड़ों में सोख सकेगा ? ये वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर यदि जल्द से जल्द ढूंढकर न निकाला गया तो संसार की बची-खुची सभ्यताएं भी समाप्त हो जायेंगी ओर चारों ओर रक्त की नदियाँ बहने लगेंगी, नये-नये पाकिस्तान बनते ही रहेंगे। **'कितने**

**पाकिस्तान'** केवल एक उपन्यास भर नहीं है बल्कि कमलेश्वर की रचनात्मक प्रतिबद्धता का जीवंत दस्तावेज़ है।

## 4. 6. जिंदगीनामा

हिंदी कथा जगत में **60** का दशक साहित्यिक हलचलों से भरा जगत था। इसी दौर में कृष्णा सोबती का आगमन कथा जगत में हुआ। इस दौर के लेखन का सबसे बड़ा पैंतरा यह था कि लेखक या तो किसी विशेष खेमे का लेखक बन जाता था या फिर फतवेबाजी कर सुर्खियां बटोरता था। कृष्णा सोबती ऐसे किसी भी पैंतरे को नहीं अपनाती हैं। अभिव्यक्ति ही उनके लिए परम सुखदायी है। कृष्णा जी के कथा लेखन की यह एक खूबी है कि उन्होंने अपने लगभग सभी उपन्यासों में स्त्री की समस्याओं, उसकी इच्छाओं, उसकी आकांक्षाओं का चित्रांकन किया है लेकिन अत्यंत ही संयत ढंग से। सन् **1958** में उनका पहला उपन्यास **'डार से बिछुडी'** प्रकाशित हुआ। लगभग **14** वर्षो के बाद उनका दूसरा उपन्यास **'सूरजमुखी अँधेरे के'** सन् **1972** में प्रकाशित हुआ। सन् **1979** में कृष्णा सोबती का अगला उपन्यास **'जिंदगीनामा'** प्रकाशित हुआ और **1993** में **'दिलोदानिश'** उपन्यास का प्रकाशन हुआ। सन् **2000** में कृष्णा जी का एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ **'समय सरगम'**। उपन्यास-लेखन के बने-बनाये ढांचे से बाहर निकलकर लिखना कृष्णा सोबती के लेखन की पहचान है।

'जिंदगीनामा' उपन्यास भी उपन्यास के बने-बनाये ढांचे से निकलकर लिखी गयी रचना है। उपन्यास का प्रारंभ एक छोटी सी कविता से होता है-

" इतिहास/जो नहीं है

और इतिहास/जो है

वह नहीं

जो हुकूमतों की
तख़्तगाहों में
प्रमाणों और सबूतों के साथ
ऐतिहासिक खातों में दर्ज़ कर
सुरक्षित कर दिया जाता है,
बल्कि वह
जो लोकमानस की
भागीरथी के साथ-साथ
बहता है
पनपता और फैलता है
और जन सामान्य के
सांस्कृतिक पुख़्तापन में
ज़िन्दा रहता है !"[90]

इन चंद पंक्तियों के माध्यम से अनुमान लगाया जा सकता है कि कृष्णा सोबती क्या कहना चाहती हैं। इतिहास केवल वह नहीं होता जो कहीं किसी कागज पर दर्ज है, बल्कि इतिहास वह भी है जो किंवदंती के रूप में जनसामान्य में भागीरथी की तरह बहता रहता है। अगर इसकी जड़ों को जल संस्कृति से प्राप्त होता है जो हजारों वर्षो से सहभागी के रूप में इस देश की जातियों, जनजातियों, धर्मों का निचोड़ है तो दूसरी तरफ इसे हवा, खाद और खुराक हमारे व्यवहार से मिलती है। जाहिर है यदि लोग वर्षो पुरानी अपनी साझा संस्कृति को भुलाकर वैमनस्य को अंगीकार करेंगे तो क्षति उनकी ही होगी। संस्कृति रूपी जल के स्थान पर रक्त इतिहास की जड़ों में डालेंगे तो इसका परिणाम भयावह ही होगा। अपने

आचार-व्यवहार के द्वारा मनुष्य सैकड़ों वर्ष पुराने अपने स्वर्णिम इतिहास पर कालिख पोत देता है और अपना भविष्य अंधेरे में ढकेल देता है। यह वही समय था जब बंगाल का विभाजन हो चुका था। बंगाल में बलवा भी मचा हुआ था। इसकी खबरें पूरे भारत में फैली हुई थी। इसकी खबर डेरा-जट्टां में भी आयीं। पूरे उपन्यास में सांप्रदायिक दंगे देखने को नहीं मिलते लेकिन सांप्रदायिक विचारों की झलक कई स्थानों पर देखी जा सकती है। पूरे उपन्यास में धार्मिक सौहार्द के कई स्थल देखने को मिलते हैं। यह सवाल खड़ा किया ही जा सकता है कि जब सांप्रदायिक समस्या उस रूप में यहां देखने को नहीं मिलती जिस रूप में अन्य उपन्यासों में देखने को मिली है तो फिर अध्ययन के रूप में इसका चुनाव क्यों ? दरअसल इस उपन्यास का अंत वहां नहीं जहां कृष्णा सोबती जी ने इस उपन्यास में किया है, बल्कि इस उपन्यास का अंत वहां है जहां कृष्णा सोबती ने अपनी कहानी **'सिक्का बदल गया'** में किया है।

कृष्णा सोबती ने आलोच्य उपन्यास के लिए जिस स्थान को चुना है वह है पंजाब का दरिया चनाब के पास बसनेवाला एक गांव जिसका नाम है-डेरा जट्टां। यह गांव पंजाब के गुजरात नामक प्रांत का हिस्सा है। यह वही हिस्सा है जहां कृष्णा सोबती का जन्म हुआ था। अतएव यहां के मिट्टी की खुशबू इनकी सांसों में भरी हुई है तो यहां के पर्व-त्योहार, टोने-टोटके, घरेलू नुस्खे लेखिका के जीवन का अविभाज्य हिस्सा है। इन सबकी रचनात्मक अभिव्यक्ति है **'जिंदगीनामा'**। लेखिका के आलोच्य उपन्यास पर विचार करते हुए आलोचक मधुरेश कहते हैं- " कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' पंजाब की लोक-संस्कृति की गंध से सराबोर है ही, वह एक तरह से उस साझा-संस्कृति के प्रति उनके ऋण-शोध का भी प्रयास है जो उनके संस्कारों में खून की तरह रसी-बसी है। इस संदर्भ में वे बलवंत सिंह के पर्याप्त निकट पड़ती हैं। बलवंत सिंह यदि अविभाजित पंजाब के पौरुष, जवांमर्दी और

जिंदादिली को अंकित करते हैं तो कृष्णा सोबती पंजाब की सोंधी गंध और संवेदना में पगी स्त्री के कद्दावर और चुनौतीपूर्ण रूप को। कृष्णा सोबती ने 'जिंदगीनामा' के केंद्र में भले ही शाहनी को रखा है, लेकिन यह पंजाब में हिंदू-मुसलमानों की साझा-संस्कृति के बीच के लंबे काल-खण्ड में घटित सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों को बहुत प्रामाणिक रूप में अंकित करता है। अन्याय के प्रति हथियार उठाने वाली प्रतिरोध-चेतना, जो सिक्खी का मूलधर्म है, ही 'जिंदगीनामा' के फलक को एक उल्लेखनीय विस्तार देती है। उसके केंद्र में भले ही एक गाँव हो-डेरा जट्टां-लेकिन उसके तीज-त्योहार, मेले-उत्सव पर्व प्रयोजन और सामाजिक-राजनीतिक चेतना पूरे पंजाब की जिंदगी को मूर्त करते हैं। अपने इसी अर्थ विस्तार के कारण वह जिंदगीनामा है-पंजाब की साझा और संश्लिष्ट संस्कृति का जिंदगीनामा।"[91] जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि उपन्यास लेखन की बनी-बनायी परिपाटी को कृष्णा जी ने तोड़ा है। **'जिंदगीनामा'** उपन्यास में कृष्णा सोबती कथ्य एवं शिल्प दोनों के स्तर पर अभिनव प्रयोग किया है। कहने को तो यह कहा जा सकता है कि यह एक आंचलिक उपन्यास है। लेखिका ने **20**वीं शताब्दी के प्रथम दशक के कालखंड को उपन्यास के 'टाइम ज़ोन' के रूप में लिया है। यह पंजाब का वह समय था जब सांप्रदायिकता जैसी कोई भावना यहां के लोगों को छू भी न सकी थी। सबलोग अपने धार्मिक कूपमंडुकता से ऊपर रहकर एक-दूसरे के दु:ख-सुख के साथी थे। एक-दूसरे के पर्व-त्योहारों में शरीक होते थे। न कोई हिंदू था, न कोई मुसलमान। सब इंसान थे।

कृष्णा सोबती आलोच्य उपन्यास में खुशहाल पंजाब का चित्रण करती हैं। साथ ही यह दिखाती है कि इस मस्तमौला पंजाब को न जाने कहां से रंजिश की दीमक लग गई। स्थिति बदल गई। देश का विभाजन हो चुका है और जो लोग पंजाब की गलियों में धूमा करते थे, अब पराये हो चुके हैं। अब उस पिंड में, उन गलियारों में, वापस जा पाना

नामुंमकिन है। सियासत पाने की लालच में चंद लोगों ने धरती पर लकीरें खींच दी। चंद लम्हों की गलतियों ने सदियों को सज़ा दे ड़ाली।

इस उपन्यास की मूल कथा शाहों और खेतिहरों के इर्द-गिर्द घूमती है। शाह जो खेतों में काम नहीं करते लेकिन खेतों पर मालिकाना हक होने के कारण उपज के बड़े हिस्से के हकदार हैं। दूसरी तरफ खेतिहर हैं जो खेतों के मालिक नहीं हैं लेकिन दिन-रात मेहनत करके फसल खड़ी करते हैं मगर उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। किसानों में इस बात को लेकर असंतोष भी है कि दिन-रात मेहनत वे करते हैं और शाहों को केवल खेतों का मालिकाना हक होने के कारण फसल का बड़ा हिस्सा बिना मेहनत किये मिल जाता है। जिन कारणों से यह उपन्यास विशिष्ट बन जाता है वह है मिश्रित भारतीय संस्कृति का चित्रण। उपन्यास में लेखिका ने जिस ग्रामीण अंचल 'डेरा जट्टां' का चित्रण किया है उसमें हिन्दू हैं तो मुसलमान भी, सिक्ख बहुल इलाका तो यह पहले से ही था। कृष्णा जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अलग-अलग धर्मों के अनुयायी होने के बावजूद ये एक ही संस्कृति के सहभोक्ता हैं। यह प्रमाणित सत्य है। बंगाल में रहनेवाला बंगाली मुसलमान और बंगाली हिन्दू सांस्कृतिक रूप से जितने करीब हैं उतने हिंदी प्रदेश के हिंदू और बंगाल के हिंदू नहीं हो सकते। ठीक इसी प्रकार दक्षिण भारत में रहनेवाला मुसलमान दक्षिण भारतीय हिंदू से जितना अपनत्व महसूस करेगा उतना अपनत्व उत्तर भारतीय मुसलमान से सांस्कृतिक स्तर पर अपनत्व नहीं महसूस कर सकता। यदि **'जिंदगीनामा'** उपन्यास के पात्रों का नाम हटा दिया जाय तो इनके रीति-रिवाज़ और भाषा के आधार पर इन्हें अलगा पाना मुश्किल होगा।

उपन्यास में एक स्थल ऐसा भी आता है जब दशहरे और ईद की तिथियां आस-पास ही पड़ती हैं। पूरा गांव उल्लास में डूब जाता है। कहीं किसी प्रकार की गड़बड़ी की गुंजाइश नहीं। ऐसा संयोग यदि आज के समय में हो जाये तो सबसे पहले प्रशासन विशेष

सतर्कता बरतेगा। बिना कारण ही लोगों में भय और संशय उठ खड़ा होगा कि कुछ अनहोनी घट सकती है मगर 'डेरा जट्टां' में ऐसा कुछ भी नहीं होता। पंजाब तो एक ऐसा प्रांत है जहां हर हमलावर के पांव भारत में आने पर सबसे पहले पड़े हैं मगर पंजाब ने अपनी पहचान खोयी नहीं है। पंजाब उसी दिलेरी और जांबाज़ी के साथ मुश्किलों का सामना करता रहा है। इसके गांवों, गलियों, खेत-खलिहानों में जिंदगी बसती है। इसी कारण डॉ. देवराज उपाध्याय कहते हैं- " यदि किसी को पंजाब की संस्कृति, रहन-सहन, चाल-ढ़ाल, रीतिरिवाज की जानकारी प्राप्त करनी हो, इतिहास की बात जाननी हो, वहाँ की दन्तकथाओं, प्रचलित लोकोक्तियों तथा 18वीं, 19वीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से अवगत होने की इच्छा हो, तो 'जिन्दगीनामा' से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।"[92] यह सत्य ही है कि कृष्णा सोबती ने अपनी लेखनी के माध्यम से पंजाब को इस उपन्यास में जीवंत बना दिया है।

कृष्णा जी ने उस पंजाब का चित्रण 'जिंदगीनामा' में किया है जहां एक तरफ गरीबनावज़ सरवरशाह की मज़ार है तो दूसरी तरफ बाबा नानक का गुरुद्वारा। पास ही एक ठाकुरद्वारा है तो एक तरफ भैरों का मंदिर भी है। यहां के लोग यह भी अच्छी तरह से समझते हैं कि इबादत की अलग-अलग जगहें, अलग-अलग तरीके इंसानों ने ही इजाद किये हैं। काशीशाह और उसके साथियों की ये बातें यही दर्शाती है।

> " काशीशाह कहते हैं- " अपनी आँखों से न देखा हो तो बन्दा यक़ीन करे। साबित यह हुआ कि ये तकसीमें-फिरकेदारियाँ तो बाद की बातें हैं। मनुक्ख ने खुद बनाई है। रब्ब-रसूल और कर्त्ता-कारणहार सब एक ही है।"
>
> कर्मइलाहीजी को कुछ सूझ गया- "बादशाहो ! इधर पंजपीर, उधर पंज पांडव ! इधर पंज औलिया, उधर पंज प्यारे !"[93]

उपरोक्त उद्धरण में यह देखा जा सकता है कि हर धर्म में कुछ-कुछ ऐसी चीजें हैं जो कमोबेश एक जैसी हैं। बस इबादत करने के तरीके अलग-अलग हैं और मनुष्य ही इसके लिए दोषी है। सबसे बड़ी बात है मनुष्य को मनुष्य की तरह समझना। हर धर्म में इसे तरज़ीह दी गई है। धर्म के नाम पर मरने-मारनेवालों ने ही इसे भुला दिया है। उन्होंने यह भी भुला दिया है कि इस धरती पर न जाने कितने पीर, औलिया आये। न जाने कितने संत-महात्माओं ने इस धरती को अपने ज्ञान, अपनी वाणी से समृद्ध किया है। इन संत-महात्माओं, पीर-औलिया के गुण, उनका ज्ञान किसी धर्म विशेष के अनुयायियों के लिए नहीं हैं बल्कि हर मनुष्य के लिए है। चाहे मुंबई के हाज़ीअली की दरगाह हो या अजमेर के ख़्वाज़ा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह, हर धर्म के व्यक्ति के लिए इनके द्वार खुले हुए हैं। ये किसी धर्म विशेष के लिए नहीं बने हुए हैं। इन चीजों के देखकर भी भारतीयों ने यह नहीं समझा है कि धर्म के नाम पर लड़ना बेवज़ह है, बेवकूफी है। आलोच्य उपन्यास भारतीय समाज के विस्तृत फलक को लेकर चलता है जिसपर विचार करते हुए आलोचक गोपाल राय करते हैं- "जिन्दगीनामा के आरम्भ में छपे वक्तव्य के अनुसार यह एक ऐसा 'इतिहास' है, जो लोकमानस की भागीरथी के साथ " बहता, पनपता और फैलता है और जन सामान्य के सांस्कृतिक पुख्तापन में जिन्दा रहता है।" **जिन्दगीनामा** बीसवीं शताब्दी के प्रथम पन्द्रह वर्षों में पंजाब के किसानों-ग्रामीणों के जीवन का चित्रण है। यह जिन्दगी निखालिस यथार्थ के रूप में सामने आती है; पंजाबी किसानों की मेहनत-मशक्कत से भरी अक्खड़, सन्तुष्ट और मुक्त जिन्दगी, जिसमें महाजन का शोषण और पुलिस का आतंक भी कोई ज्यादा हलचल नहीं पैदा करता। साम्प्रदायिक भेदभाव से रहित, सहयोग और सद्भाव, हँसी-खुशी और छोटे-मोटे गमों से भरे दिन-रात, ब्रिटिश शासन की अजेयता के प्रति आस्था आदि के छोटे-छोटे यथार्थ और प्यारे चित्र उपन्यास में भरे पड़े हैं। उपन्यास के अन्तिम हिस्से में प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटिश

सरकार द्वारा जवानों की सेना में जबरन भर्ती और युद्धकोश की वसूली से उत्पन्न आशंका, आतंकवादियों की छिटपुट हरकतों और उनके प्रति ब्रिटिश हुकूमत के दमनकारी रवैये आदि के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।"[94] लेखिका ने बड़ी ही संजीदगी के साथ पंजाब के विशाल हृदय को खोलकर रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।उपन्यास में एक स्थल ऐसा भी है जहां गांववाले मुस्लिम लीग के खड़े होने पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं।उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि मुस्लिम लीग खड़ी हो गयी है।

' नाई रमज़ान लाहौर जा काम्मियों की लीक पार कर चुका था।धड़ल्ले से कहा- "मुस्लिम लीग भी खड़ी हो गई !"

मौलदादजी और चोधरी फतेह अली लम्बी खाँसी के बाद रुके तो शाहजी की ओर सरसरी नज़र मारकर कहा - "हमको क्या फ़रक ! हो गई तो चंगा, न हो तो वाह भला! यह तो समझो कि अपने-अपने खेत और अपना- अपना बन्ना।"

"रब्ब भला करे, खेत को भी मुँडेर की जरूरत पड़ती है।सही करने के लिए यह खेत मेरा है, यह तेरा है।"

शाहजी सुनकर बोढ़ के पुराने पेड़ की ओर तकते रहे, फिर सिर हिलाकर कहा- " अपने समझ से तो जो बुलबुली सरकार ने उड़ाई है, उसका ताना-फेरा निबड़नेवाला नहीं !"[95]

यहां देखा जा सकता हैं कि साधारण ग्रामीण लोग हों या फिर उनके माध्यम से कृष्णा सोबती, सभी सरकारी प्रपंचों को समझते हैं।वे अच्छी तरह से यह जानते हैं कि मुस्लिम लीग को मिल रहा प्रश्रय हो या बंगाल का विभाजन, इन सबके पीछे मौजूद तत्कालीन औपनिवेशिक सरकार की मंशा क्या है।सरकार की मंशा थी कि किसी प्रकार भारतीय जनमानस को विभाजित किया जा सके और मुस्लिम लीग के रूप में एक बड़ा ज़रिया अंग्रेजी

सरकार को मिल गया जिसके माध्यम से अपनी मंशा को पूरा करने का मौका मिल गया। भारतीय जनता की वर्षों की एकता को अंग्रेज शासकों ने बड़ी आसानी से खत्म कर दिया। इन लोगों को मुस्लिम लीग के बनने-न बनने से कुछ भी लेना-देना नहीं।

बंगाल विभाजन के बाद कलकत्ते में मचे बलवे की ख़बरें तो आ ही रही थी मगर तुफ़ैलसिंह की चिट्ठी लोगों को और भी चिंतित कर देती है।नसीबसिंह चिट्ठी में कलकत्ता की ख़बरे सुनकर घबरा जाता है।

> ‘ नसीबसिंह सहम गया- “शाहजी, बंगाले की तरह जेकर अपने पंजाब के भी दो टुकड़े हो गए तो महत्तड़-साथों का क्या होगा !”
>
> मौलदादजी ने सहारा दिया- “नसीबसिंहा, कलकत्ते की हवाएँ कलकत्ते ही रहें तो चंगा।अपने यहाँ काहे का डर ! असल बात यह है कि सारे फ़साद शहरियों के खोप्पड़ में पैदा होते हैं।”
>
> कर्मइलाहीजी ने भी हाँ-में-हाँ मिलाई- “सच पूछो तो शहरियों का न तो धर्म-ईमान, न इंसाफी-पंचपरमेश्वर और न इमदाद सुननेवाला चौधरहट्टा।”
>
> × × ×
>
> “नहीं बादशाहो, यह हकूमत-सरकार की अपनी करनियाँ हैं।कभी हिन्दुओं को भड़काए, कभी मुसलमीनों को लशाए, कभी सिक्खों को।ईसाई बिचारे तो किस गिनती।” ’[96]

यहां ध्यान देने योग्य बात यह हैं कि गांववालों में इस बात को लेकर चिंता होने लगी है कि कहीं पंजाब की धरती का भी बंगाल की तरह बंटवारा हो गया तो।अब ये लोग भी समझने लगे हैं कि सरकार अपनी हुकूमत बनाये रखने के लिए कुछ भी कर सकती

है। किसी भी हद तक जा सकती है। हिन्दू और मुसलमानों को भड़काकर आपस में लड़ा चुकी है और सिक्खों को भी भड़काकर लड़ा दे इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता।

पंजाब की धरती की सबसे बड़ी खासियत यह है कि समय-समय पर यहाँ कई संत-फ़कीर आये जिन्होंने अपने ज्ञान से इस धरती को समृद्ध किया है। ऐसे ही एक विद्वान और शायर थे बुल्लेशाह। चाहे वर्तमान पश्चिम बंगाल हो या वर्तमान बांग्लादेश रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकीमचंद्र, शरतचंद्र और नजरूल को जैसे अलगाया नहीं जा सकता वैसे ही पंजाब से बुल्लेशाह जैसे विद्वानों को अलगाया नहीं जा सकता। कृष्णा सोबती ने चित्रित किया है कि बुल्लेशाह जैसे शायरों की उक्तियां धर्म और जाति से ऊपर थी।

भारत में जितने भी धर्म हुए हैं प्रत्येक ने मानव धर्म को उच्च्य कोटी में स्थापित किया है। कालान्तर में जब-जब मनुष्य के लालच, स्वार्थ ने अपने पैर फैलाये हैं तब-तब धर्म में विकृतियों ने जन्म लिया है। हिन्दू धर्म की वर्तमान स्थिति कुछ ऐसी ही है। आलोच्य उपन्यास में हिन्दू धर्म की वर्तमान स्थिति पर बड़ा ही सुन्दर जुमला कसा गया है-

"ज्यों केले के पात पात में पात
ज्यों कवियों की बात बात में बात
ज्यों गधे की लात लात में लात
त्यों हिन्दुओं की जात जात में जात।"[97]

केवल ब्राह्मणों में ही कितने प्रकार के ब्राह्मण होते हैं इसपर भी व्यंग्य किया गया है।

हिन्दू धर्म जिसकी महानता का पर्चा लहराते हुए कई तथाकथित मानवतावादियों से भी अगर इस सवाल का जवाब पूछेंगे तो या तो वे बिदकेंगे या बगलें झांकने लगेंगे मगर वे इन सवालों से रू-ब-रू होकर वास्तविकता को देखना नहीं चाहते। यही हाल कमोबेश इस्लाम का है, बौद्ध धर्म में भी ऐसा विभाजन है, ईसाई धर्म भी बंटा हुआ है। सिया सुन्नी को

नहीं देखना चाहता, कैथोलिक प्रोटेस्टेंट को बर्दाश्त नहीं कर सकता, बौद्ध धर्म में भी हीनयान और महायान के नाम पर झगड़े हैं।इन सबके बीच मनुष्य और मानवता को भुला दिया गया है जिसके लिए धर्म को इजाद किया गया था।

अक्सर यह देखा गया है कि विवाह आदि पारिवारिक उत्सवों में इस बात पर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है कि दोनों परिवार एक ही धर्म, जाति, कुल, गोत्र के हैं या नहीं। कुल और गोत्र को तो कुछ देर के लिए भुलाया भी जा सकता है लेकिन यदि जाति और धर्म अलग-अलग हैं तो बख़्शा नहीं जा सकता।आज भी हिन्दुस्तान के कई ऐसे इलाके हैं जहां की खाप पंचायते ऐसे रिश्तों को मानने से इन्कार करती हैं, उन्हें सज़ा भी सुनायी जाती है। ऐसी हालत में जिस सामाजिक समरसता को लाने का स्वप्न देखा गया वह कैसे पूरा होगा। सबसे महत्वपूर्ण बात है मनुष्य को मनुष्य की तरह समझना लेकिन जब धर्म की जकड़नों में मनुष्य को बांध दिया जायेगा तो मनुष्यता कैसे फल-फूल सकती है ? आलोच्य उपन्यास में एक स्थल ऐसा भी है जहां गांववालों के बीच इसी मुद्दे को लेकर विचार-विमर्श चल रहा है। कुछ लोग हैं जिन्हें पूर्वजों के बनाये गये धर्म, जाति, गोत्र आदि के कायदे-कानून उचित लगते हैं।उनका मानना है कि इन नियमों को मानने से ही अपनी संस्कृति, अपनी परंपरा को बचाकर, सहेजकर रखा जा सकता है।ऐसे में नजीब के विचार बड़े ही तर्कपूर्ण और वाज़िब मालूम पड़ते हैं- " बादशाहो, अगर रब्ब रसूल ने इन्सान को एक आला बरक़त लगा ही दी है तो इन सब हक़ीकतों का क्या मतलब ! मोटी बात तो ले-दे के इतनी ही हुई न कि बन्दा ग़रीब हो तो ग़रीब से मेल मिलाए, अमीर हो तो अमीर से।बाक़ी बात पक्की है कि अकेली हव्वा बच्चे पैदा नहीं कर सकती।आख़ीर को अल्लाह तआला ने जोड़े बनाए तो इसीलिए न !"[98] साधारण से शब्दों में नजीब ने बड़ी ही सारगर्भित बात कही है।जिस धर्म, कुल, गोत्र और जिस वंश को आगे बढ़ाने का तर्क देकर सजातीय विवाह आदि कार्यों को सम्पन्न किया

जाता है वह कुल, वह गोत्र, वह वंश कहां से पैदा हुआ ? यदि सभी ईश्वर की संतान हैं, तो फिर यह अलगाव क्यों ? दरअसल धर्म, जाति, कुल, गोत्र जैसी बातें निरर्थक हैं। जैसा कि नजीब ने भी कहा कि अकेली हव्वा बच्चे पैदा नहीं कर सकती। ऐसे में आवश्यक है कि इन निरर्थक चीजों के पीछे न रहकर मनुष्य को सबसे पहले मनुष्य की तरह देखा जाय।

उपन्यास के अंतिम दो-तीन पृष्ठों में शाहजहां के शासनकाल के जमाने के साधू-सन्यासी छज्जू भगत और पीर-फकीर काशीशाह की मित्रता का अपूर्व प्रदर्शन है। इस कथा से यह प्रमाणित होता है कि मुगलिया सल्तनत के दौर में भी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच आपसी सौहार्द था। जब साधू-सन्यासियों और पीर-फकीरों में एक-दूसरे के प्रति आदर भाव है तो हिन्दू-मुसलमान-सिक्ख-ईसाई आपस में एक-दूसरे को आदर देकर क्यों नहीं रह सकते। जब हृदय से एक-दूसरे के लिए आदर और सम्मान होगा तब किसी प्रकार के वैमनस्य का कोई स्थान नहीं रहेगा और यदि वैमनस्य उत्पन्न भी होगा तो उसे बड़ी ही आसानी के साथ बातचीत के माध्यम से सुलझा लिया जायेगा। देश का विभाजन क्यों हुआ ? इसके पीछे कौन है ? और आज भी सांप्रदायिक समस्या क्यों बनी हुई है ? यह कृष्णा सोबती के सम्मुख बहुत ही स्पष्ट है, कुछ भी धुंधला नहीं है। कमाल अहमद को दिये गये अपने एक साक्षात्कार में विभाजन और आज भी उससे उत्पन्न घावों के संबंध में उत्तर देते हुए वे कहती हैं- " अबकी बात करें तो सरहदों के आरपार दोनों मुल्क लड़ाइयाँ लड़ चुके हैं। समझौते कर चुके हैं। उन्हें जोड़ने के अन्दाज़ में तोड़ चुके हैं। नई मुद्राएँ और पुरानी कटुता से एक-दूसरे के ख़िलाफ़ प्रचार-प्रसार ! फिर भी दोनों ओर की प्रजाएँ-नागरिक- समाज एक-दूसरे को दिलचस्पी से देखते हैं। पाकिस्तानी अवाम हो या भारतीय जनता, कई स्तरों पर एक-दूसरे को खूब समझते हैं। कभी एक ही देश का हिस्सा रह चुके हैं। विभाजन को आज किसी भी प्रक्रिया का नाम दें- हक़ीकत यह कि यह निर्णय राजनीति द्वारा संचालित हुए ! विभाजन जैसे

निर्णय विभिन्न लोकसमूहों के बीच उबरती तल्खियों और विभिन्न पक्षों के बीच उठे नागरिक विवाद और तनावों का ही परिणाम होते हैं। भारत-पाक विभाजन के समय जातीय दलों और द्वन्द्वों के बीच गरमाता एक नया गणित सिर उठाने में सफल रहा और भौगोलिक और नए ऐतिहासिक रूप में ही प्रकट हुआ। जो भी हुआ, जैसा भी हुआ, इस बन्दर-बाँट में ब्रिटिश सत्ता का एक तीसरा पक्ष भी मौजूद था। उसके हाथ में देश की व्यवस्था निकली जा रही थी और वह बँटवारे को एक बिचौलिए की तरह देख रहा था।

कमाल साहिब, कहना चाहती हूँ यह कि बेशक विभाजन अन्तत: धर्म, मजहब और जातीय समीकरणों के नाम पर हुआ, पर इन सबके पीछे संख्या के प्रतिशत का मुख्य तर्क 'आँकड़ा' था। धार्मिक तर्क को ग़लत प्रमाणित करने को एक और विभाजन हुआ। इस बार जातीय और सांस्कृतिक महत्त्वाकांक्षाएँ धर्म, मज़हब और सम्प्रदाय के मुद्दों को भी फलाँग गई। पाकिस्तान से अलग छिटककर बाँग्लादेश अपने नए अस्तित्व में प्रकट हुआ। यह उन क्षेत्रीय तनावों और टकराहटों का परिणाम था, जो एक ही धर्म के अनुयायियों के बीच भी सिर उठाती है और फिर सिरे से साम्प्रदायिकता को ख़ारिज कर देती है। राजनीति की पेचीदगी कुछ भी उलझा सकती है। भुना सकती है।"[99] उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि विभाजन जबरन भारतीय और पाकिस्तानी अवाम पर लादा गया था। सियासतदारों ने अग्रेंजों से मिली सीख को भुलाया या सुधारा नहीं बल्कि गांठ बांधकर रख लिया। हर बार जब कभी तनाव कम होते हुए नज़र आये तब-तब या तो ज़बरन युद्ध थोप दिया गया या फिर देश में कौमी दंगे करवा दिये गये जिसकी गूंज पड़ोसी देशों में भी गयीं।

इस उपन्यास की कहानी का अंत वहां नहीं जहां पर यह कहानी खत्म होती है बल्कि इस कहानी का अंत वहां है जहां कृष्णा सोबती की कहानी **'सिक्का बदल गया'** में दिखाया गया है। हालांकि **'सिक्का बदल गया'** कहानी ठीक आज़ादी के तत्काल बाद सन्

**1948** में लिखी गयी थी। ध्यान देने की बात यह है कि **'सिक्का बदल गया'** कहानी में एक शाहनी की कहानी है, शाह मर चुका है, शाहनी का एक बेटा है जो कहीं बाहर रहता है। इस कहानी का समय स्वाधीनता के बाद के विभाजन के दौर का है। **'जिंदगीनामा'** उपन्यास भी एक शाह और शाहनी के ही इर्द-गिर्द घूमता हुआ उपन्यास है। बड़ी मन्नतों के बाद एक बेटा उनके नसीब होता है। **'सिक्का बदल गया'** कहानी में शाहनी के जिस रुतबे की बात कही गयी है उस रुतबे को बड़ी ही सहजता के साथ **'जिंदगीनामा'** उपन्यास में देखा जा सकता है और जैसा कि कहा गया है कि **'जिंदगीनामा'** उपन्यास में जिस कालखंड को लिया गया है वह **20**वीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल था जब देश अंग्रेजों का गुलाम था। सदियों की जिस मिलीजुली संस्कृति को **'जिंदगीनामा'** में दर्शाया गया है उसे तार-तार होते हुए **'सिक्का बदल गया'** कहानी में बड़ी ही आसानी से देखा जा सकता है।

आलोचक परमानंद श्रीवास्तव आलोच्य उपन्यास के विजन को छोटा मानते हैं। उनका कहना है-" 'जिन्दगीनामा' के ब्यौरे बहुत हैं पर मुख्य कथावृत्त सीमित है। ताराशाह-बरकती। चाची महराँ-गणपतशाह। फतेह-शेरा। राबयाँ-बड़े शाह। इनके बीच की प्रेम-कथाएँ। कथा के समूचे परिदृश्य में कत्ल और अपहरण के कई किस्से हैं। दंगे-फसाद आम हैं। सौतों से डाह या जलन की कई कहानियाँ हैं। हबीबा और रेशमाँ जैसी सहेलियों का खिलंदड़ापन। नूरी और शीरीं। विधवा ब्राह्मणी और अवैध मातृत्व। नटकंजरों के खेल-तमाशे। अवैध प्रेम में भी मर मिटने की उमंग। प्लेग की महामारी। गदर-विप्लव। अंग्रेजी सत्ता का दमन चक्र। प्रकृति का प्रकोप। अन्धविश्वास। आर्यसमाज का बढ़ता प्रभाव। कहीं यह मनोविज्ञान भी, कि मर्द के बच्चे को हजार तरह की छूट, स्त्री को नहीं। सारी चेतावनी उसी के लिए- " तू धी-ध्यानी धरती। " कृष्णा सोबती के लिए जीवन-मर्म ऐसी तमाम चेतावनियों से बड़ा है। 'मित्रो मरजानी' से 'जिन्दगीनामा' तक उनका लेखन कृत्रिम नैतिकता की धज्जियाँ

उड़ाने वाला है। यहाँ भी उसकी निगाह जिन्दगी पर है-ऊँच-नीच से परे, वर्जनाओं से परे, डर और आतंक से परे। 'जिन्दगीनामा' जिन्दगी के गहरे बुनियादी लगावों का मार्मिक आख्यान है। अतीत के प्रति मोह हमेशा रुग्ण मोह ही नहीं होता। कृष्णा सोबती ने शाह-परिवार की जीवन-शैली को गहरे मोह से अंकित किया है पर वे इस भ्रम में नहीं हैं कि यह सारा ठाठ ऐसे ही रह जाने वाला है। "दूध भरी छातियों से अब दूध नहीं, खून टपकता है"- कहने का कुछ अर्थ तो है जो अतीत मोह या नास्टेल्जिया से मुक्त करता है।"[100] एक समय था जब हिंदी के आलोचक प्रवरों ने हिंदी महिला लेखन को केवल निजी पीड़ा को अभिव्यक्त करने का लेखन घोषित किया था परन्तु हिंदी आलोचना का दुर्भाग्य है कि आज भी वह महिला लेखन को केवल स्त्री की पीड़ा की चौहद्दी में ही देखता और परखता है। **'जिंदगीनामा'** उपन्यास पर श्री श्रीवास्तव के उपरोक्त विचारों से यही महसूस होता है। आलोच्य उपन्यास में भी परमानंद जी को स्त्री की सिसकन ही सुनायी पड़ती है। आश्चर्य होता है कि "दूध भरी छातियों से अब दूध नहीं, खून टपकता है" में उन्हें लेखिका का अतीत के प्रति मोह नजर आता है। वह अतीत, जब कभी शाहों की तूती बोला करती थी। "दूध भरी छातियों से अब दूध नहीं, खून टपकता है" में लेखिका का मोह तो है लेकिन वह मोह उस पंजाब की जवांमर्दी के प्रति है जो हर वार को हँसते हुए अपने सीने पर झेला करता था। जो कई संस्कृतियों का संगम था। जहाँ जिन्दगी हँसती-खेलती थी परन्तु धीमे-धीमे उसी पंजाब की हँसी सिसकियों में बदलने लगी। **'जिंदगीनामा'** उपन्यास उसी सिसकियों में हँसी के तब्दील होने की कथा है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि वृहत फलक को लेकर लिखे गये उपन्यास में कृष्णा सोबती ने इतिहास की कुछ पुरानी परतों को खरोंचने का काम किया है जिसके अंदर जीवन मौजूद है। यह वह जीवन है जो सदियों के साझेपन से रसा-बसा है। कुछ

सत्तालोलुप लोगों के कारण भारतीयों ने सदियों की साझी संस्कृति को भुला दिया और चंद भयानक लम्हों को अपने ज़ेहन में बसा लिया जबकि उनके पास कई खूबसूरत लम्हे थे। **'जिंदगीनामा'** उन्हीं खूबसूरत लम्हों का कोलाज है।

## 4.7. आख़िरी कलाम

दूधनाथ सिंह मुख्य रूप से अपनी कहानियों के कारण कथा जगत में प्रसिद्ध रहे हैं लेकिन अपने प्रथम उपन्यास **'आख़िरी कलाम'** में जिस प्रकार की भाषा, शिल्प और विचारों की छटा इन्होंने बिखेरी है वह देखते ही बनती है। इससे पहले इन्होंने **'निष्कासन'** उपन्यास भी लिखा। लगभग चार दिनों की समय सीमा को **'आख़िरी कलाम'** उपन्यास के कैनवास पर जिस विस्तार के साथ दूधनाथ सिंह ने उभारने का प्रयास किया है, वह काबिल-ए-तारीफ है। स्वयं कथाकार इसे 'सफरनामा' मानते है जो उपन्यास लेखन की बंधी-बंधायी परिपाटी से अलग है- " जब उपन्यास का अन्तिम 'ड्राफ़्ट' तैयार हुआ, तब इसकी तकनीक खुद मेरी समझ में आई-एक सफरनामा। तर्जे-बयाँ का एक नया ढंग। वृत्तान्त की एक नई अपने-आप स्वनिर्मित तकनीक।"[101]

आलोच्य उपन्यास में सांप्रदायिकता की समस्या के सूक्ष्म तंतुओं को बारीकी के साथ पकड़ने में कथाकार को सफलता मिली है। मुख्य रूप से यह उपन्यास बावरी मस्जिद ध्वंस को लेकर लिखा गया है जहां यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि उस समय धर्मांध लोगों का एक समूह किस प्रकार क्रूर और नृशंस बन बैठा था। ऐसे समय में जब धर्म के नाम पर लोग पागल बन बैठे हों, किसी भी कथाकार के लिए ऐसा लेखन रचनात्मक साहस की माँग करता है। आलोचक पी.एन. सिंह के विचार से- " जिस सर्जनात्मक ताकत के साथ **6** दिसम्बर **1992** के अयोध्या मुद्दे को इस उपन्यास में उठाया गया है, वह अन्यत्र नहीं दिखता। पक्ष-प्रतिपक्ष की राजनीतिक फतवेबाजी या साम्प्रदायिकों के प्रलाप अथवा कतिपय

कविताओं और कहानियों के अलावा अभी तक कुछ सामने से नहीं गुजरा है।सम्भवत: 'आख़िरी कलाम' पहला सार्थक औपन्यासिक प्रयास है।"[102] **'आख़िरी कलाम'** को अयोध्या मुद्दे पर लिखा गया पहला सार्थक उपन्यास कहना थोड़ा गलत होगा क्योंकि कमलेश्वर भी **'कितने पाकिस्तान'** में इस मुद्दे को उठा चुके हैं और सांप्रदायिकता को लेकर उनकी चिंता वैश्विक है।फर्क सिर्फ इतना है कि **'कितने पाकिस्तान'** का फलक ज्यादा विस्तृत है जबकि **'आख़िरी कलाम'** केवल अयोध्या मुद्दे को केंद्र में लेकर चलता है।

आलोच्य उपन्यास का केंद्रीय पात्र प्रोफेसर तत्सत पांड़े है।प्रोफेसर तत्सत पांड़े विचारों से मार्क्सवादी है।यूं तो मार्क्सवादियों की संख्या काफी है लेकिन वे ऐसे मार्क्सवादी हैं जिन्होंने मार्क्सवाद को केवल वैचारिक रूप से ही नहीं अपनाया बल्कि उसे अपने जीवन में भी उतारा।अपनी अंतिम सांसों तक वे प्रगतिशील विचारों के संवाहक बने रहते हैं।स्वयं कथाकार आलोच्य उपन्यास की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में विचार करते हुए कहते हैं- " वह तो अपनी देह से भारतीय राजनीति, स्वतन्त्रता आन्दोलन और उसके बाद की स्थितियों का प्रतीक-चिन्ह है।"[103] धर्म की मुखौटेबाजी को खोलकर रखने में प्रोफेसर पांडे ज़रा भी नहीं चूकते।अपने विचारों को खुलकर अभिव्यक्त करने में उन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है। बिना परिणाम की चिंता किये प्रोफेसर धर्मांध, आक्रामक और क्रूर लोगों के बीच भी अपने विचारों को रखते हैं।

अपनी इन्हीं आदतों का खामियाजा आचार्य को चुकाना पड़ता है जब प्रोफेसर के पद के लिए साक्षात्कार देते हुए विशेषज्ञों एवं कुलपति के साथ उनकी तीखी नोक-झोंक हो जाती है।भारतीय  धर्मशास्त्र एवं दर्शन पर अपने विचार बड़े ही बेलाग तरीके से रखते हुए वे कहते हैं- " मैं कहना यह चाहता हूँ कि भारतीय धर्मशास्त्र और लगभग सारे धर्मशास्त्र और बहुत हद तक भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ भी तर्कातीत पर आधारित हैं।वे अमूर्तन की

सृष्टि करती हैं। फिर उस अमूर्तन के लिए तर्क। जो असत् है, जो है ही नहीं, जो कुछ है उसके लिए तर्क। और वह तर्क भी पूर्व-नियत। अन्धा। बस यह कि विश्वास करना है। जब विश्वास ही करना है तो तर्क के लिए जगह कहाँ ?"[104] ईश्वर की अमरता पर भी प्रोफेसर तत्सत पांडे प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं- "अगर सारी क्षणभंगुर वस्तुओं में ईश्वर का निवास है तो क्या वह भी क्षणभंगुर नहीं हुआ ? वह सनातन कैसे हो गया ? क्योंकि उसे मान लिया गया है। उसका नकार वर्जित है। वह तर्क और व्याख्या से परे है। उस पर तर्क धर्म-विरुद्ध है। इसीलिए मैंने कहा कि धर्मशास्त्र और भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ अपने सारतत्व में एक असत् पर आधारित है। "[105] यहां यह देखा जा सकता है कि लेखक के मार्फत तत्सत पांडे ने धर्म पर बड़े ही 'रैशनल' ढंग से विचार किया है। एक समय तक समाज में धर्म की आवश्यकता थी क्योंकि कई सवाल ऐसे थे जिनका उत्तर किसी के पास नहीं था लेकिन अब जबकि विज्ञान इतनी अधिक उन्नति कर चुका है तो धर्म के स्वरूप पर पुन: विचार करना आवश्यक है। प्रस्तर युगीन या मध्ययुगीन धर्म के आधार पर आधुनिक समाज को नहीं चलाया जा सकता।

जिस तत्सत पांडे के परिवार में कभी भी भगवान और अंधविश्वासों को प्रश्रय नहीं मिला उसी तत्सत पांडे के घर में उसकी बहू, गायत्री पूजा-पाठ और धार्मिक कर्मकांड लेकर आ धमकती है। इसी बीच तत्सत पांडे के पुत्र माधवानन्द को विदेश में पढ़ने एवं शोध करने का अवसर मिलता है। गायत्री भी साथ जाती है लेकिन वहां सामंजस्य न बिठा पाने के कारण उसे लौट आना पड़ता है और माधवानन्द वहीं गेब्रियाला से शादी कर लेता है। इधर गायत्री को एक पुत्र होता है रविकान्त। रविकान्त भी अपनी माता के मार्ग को अपना लेता है और धर्मभीरू बन बैठता है जिसे देखकर आचार्य तत्सत पांडे को बहुत चिढ़ होती है। परन्तु वे कुछ कर नहीं पाते क्योंकि गायत्री के आगे उनकी एक नहीं चलती।

इसी परिवार में बिल्लेश्वर नाम का भी एक सदस्य है जिसे आचार्य जी अपने पुत्र से कम न समझते थे। बिल्लेश्वर को उच्च शिक्षा दिलाने की इच्छा भी आचार्य जी की धरी की धरी रह जाती है क्योंकि रविकान्त और बिल्लेश्वर दोनों का ही ध्यान पढ़ाई-लिखाई पर कम और आवारागर्दी में ज्यादा लगता था। आचार्य जी पूर्व के ऑक्सफोर्ड समझे जाने वाले इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कार्यरत थे। उनके छात्रों के मन में आचार्य जी का विशेष सम्मान था। स्वयं उपन्यासकार ने उपन्यास की भूमिका में ही स्वीकार किया है। ऐसा लगता है जैसे उपन्यास के पात्र सर्वात्मन के रूप में स्वयं उपन्यासकार ही खड़ा है। भूमिका में कथाकार लिखता है- " मैं अपने गुरु के उन दिनों के बारे में तभी से लिखना चाहता था। लेकिन उस सफर में मेरे पास कोई नोट-बुक नहीं थी। और होती भी तो क्या, उनकी बेतरतीब बुदबुदाहटों और सूक्तियों को पकड़ना और दर्ज करना तब सम्भव नहीं था। हम एक निहत्थे भागमभाग में थे। तब सिर्फ़ एक ही रास्ता मेरे पास था। मैंने अपनी याददाश्त का सहारा लिया। उनके बहाने-बहाने निकल पड़ने और उस अबूझ यायावरी में तब कोई संगति नहीं दिखी थी। तब वह हलकान होना था। लेकिन बाद में उसे दर्ज करते वक्त लगा कि वह सबकुछ कितना संगत और अर्थगर्भित था। "[106]

उपन्यास का आरंभ भी ऐसे ही एक छात्र सविनय के अनुरोध के साथ होता है जो आचार्य जी को फैजाबाद आमंत्रित करता है जहां उन्हें 'पुस्तकें शक पैदा करती हैं' जैसे विषय पर व्याख्यान देना है। फैजाबाद अयोध्या के पास का शहर है। उन दिनों दिसम्बर तीन के आस-पास जहां हर कोई किसी अनिष्ट के होने की आशंका के कारण अयोध्या और आस-पास के शहरों से दूर भाग रहा था वहीं प्रोफेसर तत्सत पांडे अपने पुत्र बिल्लेश्वर और पुत्र तुल्य छात्र सर्वात्मन को लेकर फैजाबाद जाने का निश्चय कर लेते हैं। आचार्य तत्सत पांडे के इस निर्णय के संबंध में विचार करते हुए आलोचक पी.एन.सिंह कहते हैं-" दूधनाथ सिंह

के उपन्यास 'आखिरी कलाम' (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, **2003**) को पढ़ते समय इतिहास की ये आदर्श कृतियाँ कौंधती रही। लगा कि यह उपन्यास सही समय पर एक सही सर्जनात्मक हस्तक्षेप है। उपन्यास के महानायक **83** वर्षीय आचार्यजी (प्रोफेसर तत्सत पांडेय) को अपनी सेक्युलर समझ और समालोचना में असीम विश्वास ही उन्हें नितान्त प्रतिकूल उन्मादी माहौल के विरुद्ध, अन्तिम साँस तक सक्रिय बनाए हुए है। चार से छह दिसम्बर **1992** को उनकी अयोध्या-यात्रा वहाँ के साम्प्रदायिक उन्माद के विरुद्ध एक प्रतिबद्ध बूढ़े विद्वान व्यक्ति की वैचारिक एवं नैतिक चुनौती है।"[107] प्रोफेसर पांडे यह बात अच्छी तरह से जानते हैं कि वे गांधी नहीं है जिसके पीछे हजारों की तादात में लोग आ जायेंगे और न ही अब पहले जैसे लोग हैं जो नि:स्वार्थ भाव से काम करते हैं। आज का बुद्धिजीवी गिरगिट की तरह समय-समय पर रंग बदलता है। अपना काम निकालना ही उसका सर्वोपरि लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ओछी से ओछी हरकत करने के लिए वह तैयार है। प्रोफेसर पांडे भी प्रोफेसर के पद के लिए समझौता कर ही लेते हैं। आचार्य तत्सत पांडे के इस चारित्रिक रूप पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध आलोचक विजय बहादुर सिंह कहते हैं- " तत्सत पाडेय की बुद्धिजीविता, आजादी के आस-पास, खास-तौर से आजादी बाद की ऐसी बुद्धिजीविता है जिस पर क्षोभ प्रकट करते हुए पूरनचंद्र जोशी अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम' में लिखते हैं- 'आज के भारत का उभरता नव मध्यम वर्ग आरंभ से ही भोगवाद का शिकार हो गया है।' ×××' यह देश को पुरानी और नई औपनिवेशिकता के अभिशाप से भी मुक्त नहीं कर पाया है। एक ऐसे देश में जहाँ का अधिकांश जन-समूह अभाव, दरिद्रता और गरीबी से त्रस्त हो, भोग की ओर अनिर्बंध रूप से उन्मुख कोई भी वर्ग नेतृत्व की भूमिका निभाने में असमर्थ रहेगा क्योंकि उसका नैतिक रूप से जन-साधारण से अलगाव बना रहेगा और बढ़ता रहेगा।"[108] जब तक ऐसी सुविधावादी बौद्धिकता बनी रहेगी

तब तक समाज की किसी भी समस्या का निदान नहीं निकल सकता। बहरहाल तत्सत पांडे को इसका अहसास है इसीलिए वे रवीन्द्रनाथ की कविता 'एकला चलो रे' के तर्ज पर प्रतिरोध करने के लिए निकल पड़ते हैं।

उपन्यास में धार्मिक उन्माद अपने चरम पर देखने को मिलता है जहां लोग चीख-चीख कर अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं।

" धर्म-संघ की है ललकार
सुन ले दिल्ली की सरकार।
राम लला की जै
सिया माई की जै..."[109]

क्या भक्ति इसी का नाम है ? क्या भारतभूमि में पैदा हुए महान संतों, विद्वानों के द्वारा यही ज्ञान भारतवासियों को मिला है ? धार्मिकता का यह आक्रामक रवैया आखिर किसलिए ? ये चंद ऐसे सवाल हैं जिनपर भारतीयों को विचार करना होगा। इसी कारण सर्वात्मन द्वारा जब कारसेवकों के हुजूम को 'भेड़ियाधसान' कहा जाता है तो गलत प्रतीत नहीं होता।

अयोध्या में **6** दिसंबर **1992** के दिन जो कुछ भी हुआ उसे रोका जा सकता था लेकिन यह तभी संभव था जब न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका और प्रेस ने अपनी-अपनी जिम्मेवारियों का निर्वहन ठीक-ठीक किया होता। विडंबना यही है कि तत्कालीन राज्य सरकार ने कोर्ट के आदेश का उल्लंघन करने के बावजूद कारसेवकों पर गोलियां चलाने से इन्कार कर दिया। देश के न्यायालय चुपचाप इस कृत्य के मूक दर्शक बने रहे। कानून इन फिरकापरस्तों के सामने बेबस नज़र आया और रही बात प्रेस की तो उनके लिए यह एक ऐसा मौका था जिसके द्वारा उसके पाठकों की संख्या बढ़ाने और अधिकाधिक लाभ कमाने का बेहतरीन मौका था। इस दौर में प्रेस के गैरजिम्मेदाराना रवैये पर विचार करते हुए पुरुषोत्तम

अग्रवाल कहते हैं- " बात कड़वी, लेकिन सच्ची है कि जब फासिस्ट व्यवहार हमारे पत्रकारों के सामने कोरी खबर के बजाय आपबीती बनकर आया तो संघ परिवार और भाजपा के प्रति उनकी राय एकदम बदल गयी। 6 दिसंबर के फासिस्ट हमले के पहले न केवल भाजपाई शब्दावली का आत्मसातीकरण खुशी-खुशी किया जाता था, बल्कि भाजपा को सच्चे राष्ट्र और हिंदू नवजागरण की पार्टी भी जोर-शोर से बताया जाता था। फर्क इसलिए पड़ा कि अयोध्या में भाजपा का 'मीडिया मैनेजमेन्ट' गड़बड़ा गया। बाकी सारी कार्यपद्धति तो वही थी। जिसका खुलेआम समर्थन बड़े-बड़े धुरंधर पत्रकार करते रहे हैं। हमारे पत्रकार समुदाय की नैतिक-बौद्धिक निष्ठाओं पर उससे विकराल टिप्पणी क्या हो सकती है, जो 6 दिसंबर के बाद 'प्रेस के हृदय परिवर्तन' में निहित है।"[110] पत्रकार मंडली और फोटोग्राफर किस प्रकार विभिन्न कोणों से फोटो लेने का प्रयास करते हैं ताकि समाचार पत्र खूब बिके, इसका बड़ा ही यथार्थपरक चित्रांकन उपन्यासकार ने किया है।

बाबरी मस्जिद ध्वंस के दौरान पुलिस की भूमिका पर भी सवालिया निशान आलोच्य उपन्यास में लगाये गये हैं। बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि परिसर की सुरक्षा में लगे पुलिसकर्मी उस परिसर के सुरक्षाकर्मी कम और राम के भक्त अधिक लग रहे थे। परिसर के भीतर बिना जूते पहने वे पहरा दे रहे थे। एक मिनट के लिए तो ऐसा महसूस हो सकता है कि वे भगवान राम की सुरक्षा में लगे हुए पहरेदार हैं। जब आचार्य जी बाबरी मस्जिद को मस्जिद कहकर पुकारते हैं तो एक सिपाही की कड़ी फटकार का सामना उन्हें करना पड़ता है। आचार्य जी द्वारा भगवान राम पर खड़े किये गये सवालों से खिन्न दरोगा भी सोचता है- "...चूल्हेभाड़ में जाए नौकरी और चूल्हेभाड़ में जाएँ लाड़ले। अरे, जब धरम ही नहीं रहेगा तो नौकरी लेकर चाटेंगे ? मैं बाँभन हूँ सुच्चा। तीनकौड़ी पाँड़े का बेटा। और ये साला, लाला-फाला मुझे मुअत्तली का डर दिखा रहा है ? हो जाए मुअत्तली। तुम तो मुगलों के ज़माने से

हराम की उड़ा रहे हे। हमें तो दयानिधान का ही आसरा है। रामलला-फला बोलता है ! जी.एम.डी. कर देंगे रामलला तो पता चलेगा ! फट जाएगी मुंशीजी ! सारी मुंशीआई झर जाएगी। अरे, किया वज़ीरगंज में जुलुम, तो किया। ...बरमहल करेंगे। ...और ये साला प्रोफेसर...कैसा पांड़े है रे ! पाँड़े है तो पाँड़े होना चाहिए। हमने भी अख़बार पढ़ा। गोसाइजी की खिल्ली उड़ाओगे तो कैसा पाँड़े रेऽऽ...?"[111] जिनके हाथ में देश के जनता की सुरक्षा की जिम्मेवारी है और जब वे ही पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाये हुए बैठे हैं तो देश के अल्पसंख्यक कैसे स्वयं को सुरक्षित समझें ? क्यों अल्पसंख्यकों के बीच ध्रुवीकरण न हो ? इसी कारण उपन्यास में असुरक्षा से घीरे मुस्लिम बस्ती के लोग, जो किसी ज़माने में रानी के दर्जी हुआ करते थे, पुलिस के आते ही अपना सारा सामान, लब्बो-लुआब लेकर बाहर निकल आते हैं। शायद उनका पिछला अनुभव यही कहता है कि ऐसे हालात में अब अगला कदम यही होता है। अंततः होता भी यही है, हालात की नज़ाकत को समझते हुए वे सब अपना घर छोड़कर चले जाने के लिए मजबूर हो जाते हैं। उनके जाने के कुछ क्षणों बाद ही उपद्रवी उनके घरों में आग लगा देते हैं।

मनुष्य के भीतर जब कोई चेतना ही न बची हो तो ऐसे में आचार्य जी के विचारों को सुनने के बाद उनका आपा खो जाना लाज़मी था और यही होता भी है। जब आचार्य तत्सत पांडे 'किताबें शक पैदा करती हैं' विषय पर अपना व्याख्यान देते हैं तो पूरे पंडाल में अचानक ही अफरा-तफरी मच जाती है। मौके की ताक में बैठे लोग पुस्तकों पर अपने हाथ साफ करने लगते हैं। कुछ शरारती तत्व पुस्तकों से भरी हुई दो बसों, आचार्य जी की कार और पंडाल में आग लगा डालते हैं। उपन्यास का यह हिस्सा पढ़ते हुए गुजरात के दंगों का दृश्य याद आ जाता है जहां सभ्रांत परिवारों के लोग भी लूट-खसोट में लगे हुए थे। दंगों के पीछे की एक मंशा यह भी है। मस्जिद ध्वंस के बाद लौटनेवाले कारसेवकों के द्वारा

मचाये गये उत्पात का चित्रण भी लेखक ने आलोच्य उपन्यास में किया है। इस दौरान एक कारसेवक की मौत हो जाती है परन्तु इस मौत को भी आहुति में बदल दिया जाता है। जिस प्रकार इस्लामी जेहाद को धार्मिक कृत्य और आत्मघाती दस्तों को जन्नत मिलने का ख्वाब दिखलाया जाता है उसी प्रकार हिदुत्ववादी शक्तियों ने भी अल्पसंख्यकों की हत्या को धार्मिक युद्ध घोषित कर दिया है और इस युद्ध में मरनेवाले को पुण्यआत्मा कहा जा रहा है। भारतीय जनमानस में आये इस वैचारिक परिवर्तन पर लेखन ने बहुत ही गहराई से विचार किया है।

भारतीय जनमानस की विडंबना यह है कि उसमें आधुनिक विचारों का प्रवेश ठीक तौर पर हो नहीं पाया है। एक अजीब सी स्थिति में वह अटका हुआ है। आधुनिक और मध्ययुगीन विचारों के बीच हिंचकोले खाती हुई जनता करे भी तो क्या करे ? भारतीय जनमानस की इस स्थिति का दोहन धर्म के ठेकेदारों ने और सत्ता पर बैठे कुक्कटो ने सर्वाधिक किया। जैसे-जैसे आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता की ओर भारतीय जनमानस बढ़ रहा है वैसे-वैसे तथाकथित बापुओं, संतो, स्वामियों की संख्या में इजाफा हो रहा है। भारतीय जनमानस की इस स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। किसी भी विचार को अगर प्रमाणित करना है तो उसे धार्मिक रंग देना सबसे आसान माध्यम है क्योंकि धर्म किसी भी प्रश्न के दायरे में नहीं आता। वह शंकातीत है।

वर्तमान समय वैज्ञानिक उपलब्धियों का समय है लेकिन एक तरफ जहां लगातार वैज्ञानिक प्रगतियां हो रही हैं, वहीं दूसरी तरफ धार्मिकता का, नये-नये धार्मिक स्थलों की संख्या में भी इजाफा हो रहा है। आचार्य जी की नज़रों से यह भी बच नहीं पाता। बकौल आचार्य जी- “ पहले चारों धाम हुआ करते थे। अब खाने-कमाने के लिए कोटि-कोटि। जैसे कोटि-कोटि नरक। धार्मिक मँडियाँ। मूर्खों के अड्डे। पगे-पगे। कोई भी सिरफिरा एक धाम स्थापित कर देगा। पहले एक ही परमहंस थे-रामकृष्ण। अब चारों ओर। अब अनेकानेक

शंकराचार्य। कुछ-कुछ युद्ध-स्तर पर। जहाँ चरण-रज डाल दें वहीं एक धाम। क्या कहा था कालिदास ने ? 'तस्याः खुरन्यास पवित्र पांसुः।' जहाँ-जहाँ चरण-कमल वहाँ-वहाँ तीरथ। वहाँ-वहाँ मन्दिर। वहाँ-वहाँ गर्भगृह। हमारे यहाँ अजीब है सर्वात्मन ! लोग बिना इतिहास के जीने के आदी हैं। बल्कि लत पड़ चुकी है। यह लत पीछा नहीं छोड़ती। हर चीज़ ऐतिह्य से परे। हर कथा पुराण-कथा। इससे सत्य रोमान में बदल जाता है। सबकुछ सुघड़ और ग्राह्य और लालित्यमय ! यहाँ तक कि हिंसा और क्रूरताएँ भी। कुछ भी इतिहास नहीं रह जाता। दूरियाँ बढ़ जाती है। तथ्य लुप्त हो जाते हैं। यही पूर्वीय संरचना है सर्वात्मन ! इसको जाने बिना पूरब के मन को नहीं समझा जा सकता। तब चह बहुत ऊटपटाँग लगता है। क्योंकि पूरब के मन का अभिप्रेत 'सत्य' नहीं, 'संरचना' है। धुँधलके में आधा दिखता, आधा छिपा हुआ कोई आकार। बस उसका आभास होता रहे-इतना ही। इसीलिए पूरब में सबकुछ चल जाता है। ग्राह्य-अग्राह्य, ज्ञात-अज्ञात, आज़ादी-गुलामी। उल्लास और दमन। क्योंकि सबकुछ क्षणिक है। जिज्ञासा का भी अन्त है। केवल अन्त नहीं है तो संरचनाओं का जो सौन्दर्य की सृष्टि तो करती हैं, सत्य का नहीं।"[112] भारतीय जनमानस की बिल्कुल सही नब्ज को आचार्य जी ने पकड़ा है। भारतीय जनमानस को धर्म रूपी अफीम का चस्का लग गया है जो आसानी से छूटनेवाला नहीं बल्कि दिनोंदिन इसकी तलब और भी बढ़ती जा रही है। न सत्य के संधान की आवश्यकता है और न तर्क की। किसी भी संत, महात्मा की वाणी को ही सच मान लेने की भारतवासियों को आदत लग गयी है और जो भी इस आदत को छुड़ाना चाहता है उसके लिए इस देश में जीना आसान नहीं।

आचार्य तत्सत पांडे के उपरोक्त उद्धरणों से यह तो समझा जा सकता है कि उनके विचार कितने सुस्पष्ट थे। उपन्यास में एक स्थल और ऐसा है जहां उनकी सोच का, उनके तर्क का लोहा मानना पड़ता है। राम के संबंध में बड़े दूर कौड़ी आचार्य जी ले आते

हैं। अयोध्या में मौजूद स्वर्गद्वार पर विचार करते हुए वे कहते हैं- "...वह यहीं से स्वर्ग गए। क्या मतलब ? यानी यहीं उनकी चिता जलाई गई। यानी वह सगुण-साकार, निर्गुण-निराकार, ब्रह्म के अवतार भी मृत्यु को प्राप्त हुए। मरे तभी तो चिता जलाई गई। तभी तो स्वर्गद्वार का मिथक बना। लेकिन यह बात भारतीय धर्म-प्राण मूर्ख मन के गले कुछ उतरती नहीं। जो स्वयं अमरत्व प्रदान करनेवाला है, जो अजर-अमर है; मोक्ष का कारक है; जो परम अनुग्रही है, शरण्य है-वह मर कैसे सकता है ? कोई नहीं पूछता कि जरा द्वारा हते जाने के बाद कृष्ण के शव का क्या हुआ ? कोई नहीं पूछता कि अगर यह जगह स्वर्गद्वार है तो वह स्वर्ग किधर को है। बाल्मीकि ने भी छोड़ दिया, तुलसीदास ने भी और व्यास ने भी। जनता की कल्पना और जनता के प्रश्न को उस ओर ढकेलने में ख़तरा है। अत: विराम। लेकिन स्वर्गद्वार है और प्रभास तीर्थ है तो राम-कृष्ण मरे तो होंगे ही। लेकिन भारतीय मन भगवानों के मरने का ख़तरा उठाने के लिए कभी तैयार नहीं होता। इससे तो उसका स्वप्न-भंग हो जाएगा। सत्य को जाने बिना जियो लेकिन अपने परम आश्रय के बारे में कभी मत सोचो कि वह मर भी सकता है। तब एक किंवन्दती यह भी प्रचलित हुई कि भगवान राम सदेह स्वर्ग गए। उसी पुष्पक विमान पर जो उन्होंने रावण से युद्ध में छीना था। उसके पहले तो वे पैदल जंगलों की ख़ाक छानते रहे। रथ तो वे पीछे छोड़ आए थे। पुष्पक तो रावण के पास था, जिसमें हवाखोरी के लिए वह अक्सर निकलता था। अब जरा सोचो सर्वात्मन, जिस विमान में एक पर-पुरुष ने उनकी पत्नी के साथ हाथापाई की थी; जिसे सँभालते हुए उसने पिता-तुल्य जटायु का वध किया-उसी में राम अयोध्या लौटे; उसी में बैठकर सदेह स्वर्ग गए। उनको कैसा लगता होगा उसमें बैठते हुए ? क्या उन्हें कुछ भी याद न आता होगा ? क्या वे नर-रूप में भी एक रोबो से अधिक कुछ नहीं थे ?... और एक तीसरी किंवदन्ती भी है कि राम ने बाक़ायदा पवित्र सरयू में जल-समाधि ली। यहीं-इसी जगह और इसीलिए यह स्वर्गद्वार है।

यानी आत्मघात के बाद भी स्वर्ग सम्भव है ? अथर्ववेद में तो लिखा है कि आत्मघाती की आत्मा प्रेतात्मा बनकर सदा-सर्वदा के लिए वायुमंडल में भटकती रहती है। उसे कभी मुक्ति नहीं मिलती। भूखी-प्यासी, चित्कार करती हुई वह आँधियों की आवाज़ में डोलती है, बवंडरों के चक्करों में हाहाकार करती है। फिर भगवान राम को आत्मघात के बाद स्वर्ग कैसे मिला ? लेकिन सर्वात्मन, किंवदन्तियों में एक फ़ासिस्ट तत्व होता है। लोग उन्हें जैसा चाहें, गढ़ लेते हैं। उन्हें तर्क पर चढ़ाना बेकार है। उनके साथ वितर्क का रस ही सम्भव है। तुम यह नहीं कह सकते कि ऐसा कैसे हो सकता है ?...इच्छामृत्यु भी आत्मघात है, लेकिन इच्छामृत्यु में एक पवित्र-सी गन्ध है। आत्मघात तो पाप है। तो पापी को स्वर्ग ? इसमें भी ब्राह्मणों ने विधान रच रखा है। अगर तुम बड़े आदमी हो, अगर तुम पंच पांडव हो, अगर तुम भगवान राम हो तो तुम्हें आत्मघात के बाद स्वर्ग-नरक कुछ तो मिलेगा ही। तुम प्रेतात्माओं के रूप में चित्कार करने के लिए नहीं छोड़ दिए जाओगे। जो दीन-हीन, बेसहारा ऊबकर मर जाते हैं; जो अपनी इज्ज़त-आबरू के लिए कुआँ-इनार झाँकती है; फाँसी के फंदे में लटक जाती हैं, वे सब प्रेत-योनी में जाने के लिए बने हैं। ब्राह्मणों ने इसमें भी वर्ग-विभाजन कर रखा है। ...लेकिन यह बिल्कुल संभव है कि राम ने आत्मघात किया हो। जो आदमी इतना कम बोलता है, मर्यादाओं को निभाते-निभाते उसका दम घुटता होगा। इस तरह के दमघोंटू मौन ने उन्हें परम अवसाद में जकड़ लिया होगा। फिर आदर्शों ने नाम पर जीवनभर की असफलताएँ ! लेखा-जोखा करने बाद सबकुछ बेमानी। अगर वे वैसे ही संवेदनशील थे, जैसा कि कविगण लिखते हैं-तब तो और भी। अपनी महानता ने उन्हें बुरी तरह थका दिया होगा। इसी घोर अवसाद में उन्हें जीवन का अन्त करने की सूझी होगी। यही वह निर्णयात्मक क्षण होगा जब उन्होंने पवित्र सरयू में डुबकी लगाई होगी। ...लेकिन वास्तविकता यही है सर्वात्मन, कि यह लन्तरानी बेकार है। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सबकुछ कवि-कल्पना का बुना हुआ वह तह-दर-तह जाल है, जो

अब इतिहास और मिथक और दर्शन के सिर पर ही बोझ बना नहीं पसरा, सत्ता और राजनीति के माथे पर भी गहरे कलंक की तरह टँकने के लिए तैयार है।"[113] इतना लंबा उद्धरण देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि यहां प्रोफेसर तत्सत पांडे की रैशनल सोच का एक सुंदर उदाहरण मिलता ही है।इसके साथ-साथ सवर्णों द्वारा देश की भोली-भाली जनता को बेवकूफ बनाने की साजिश का पर्दाफाश भी होता है। प्रसिद्ध आलोचक रोहिणी अग्रवाल कहती हैं- " उपन्यास के बंधे-बंधाए फार्म को तोड़कर संरचनागत अराजकता का प्रयोग करते हुए बेशक लेखक ने कोई नई जमीन नहीं तोड़ी है, न ही साम्प्रदायिक ताकतों के उभार के साथ क्रमशः हास्यास्पद होती चलती सेकुलर ताकतों के अंतर्सम्बन्धों की पड़ताल की है और न ही **1992** के उस अंध आवेग को बांधने की दिशाएं सुझाई हैं जो **2002** में गोधरा कांड बनकर फूटा है और आगे भी धधकते ज्वालामुखी पर बैठा है।लेकिन इतना तय है कि असम्बद्ध एवं निरपेक्ष ढंग से भिन्न-भिन्न अवधारणाओं की बौद्धिक मीमांसा कर उन्होंने दर्शनशास्त्र की जटिल दुर्बोधता को सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया है।यहीं उनकी मनुष्य और स्वस्थ जीवन की निरंतरता में आस्था भी परिलक्षित होती है।"[114] यही नहीं धनी वर्ग, सवर्ण के लिए धर्म और उसके नियमों का तात्पर्य किस प्रकार अलग है और निम्न वर्ग एवं सवर्णों से इतर लोगों के लिए धर्म का क्या तात्पर्य है, इसे आलोच्य उपन्यास बखूबी बयां करता है।मशहूर आलोचक वीरेन्द्र यादव के विचार इस संबंध में सत्य प्रतीत होते हैं-" जहाँ शशि थरूर और मेहर पेस्टन जी अपने उपन्यासों में तुलसीदास और रामचरितमानस की भूमिका की चर्चा प्रसंगवश करते हैं, वहीं दूधनाथ सिंह इसे अपने औपन्यासिक विमर्श में केन्द्रीयता प्रदान करते हैं।अयोध्या के धार्मिक स्थल की महिमा, राम के देवत्व, तुलसीदास के घटाटोप और रामचरितमानस के धार्मिक ग्रन्थ होने का मिथक-भेदन करते हुए वे उस गढ़न्त को अनावृत करते हैं जो ब्राह्मणवादी संरचना का परिणाम है।उपन्यासकार अपने केन्द्रीय

पात्र प्रोफेसर तत्सत पांडे से अयोध्या को 'धरम की मंडी' ही नहीं कहलाता बल्कि इसकी पड़ताल भी करता है।"[115]

आलोच्य उपन्यास बुद्धिजीवियों के किंकर्त्तव्यविमुढ़ रवैये का भी सुन्दर कैनवास है। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि जहां पश्चिम के देशों में बुद्धिजीवी बड़ी-बड़ी क्रांतियों के संवाहक बने वहीं भारत के बुद्धिजीवियों ने केवल मंचों पर ही अपनी कलाबाजियां दिखायी हैं। क्रांति की बात तो बहुत दूर की है वैचारिक रूप से भी वे कंगाल हैं। आयातित विचारों के माध्यम से ये तथाकथित बुद्धिजीवी देश की समस्या सुलझाना चाहते हैं जो कदापि संभव नहीं। यह वर्ग एक ऐसा सुविधाभोगी और अपने काम निकालनेवाला वर्ग है जो जरूरत पड़ने पर गधे को भी बाप बना सकता है और जैसे ही उसकी स्वयं की जरूरत पूरी हुई कि वह किसी की भी गर्दन पर पैर रखकर निकलने में हिचकिचाहट महसूस नहीं करता है। पूर्व के ऑक्सफोर्ड कहे जानेवाले इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कार्यकारी परिषद् के सदस्यों का बाबरी मस्जिद ध्वंस के विरोध में पेश किये जाने वाले वक्तव्य का भोंड़ा प्रदर्शन, प्रोफसरों, कुलपति आदि बुद्धिजीवियों का छद्म उभरकर सामने आता है और अंततः इस प्रेस रीलीज का सारा दारोमदार प्रेस-सेक्रेटरी के मत्थे मढ़ा जाना बुद्धिजीवियों की कथनी और करनी के अंतर की ओर इंगित करता है।

कुल मिलाकर यदि कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार दूधनाथ सिंह ने **'आख़िरी कलाम'** के माध्यम से भारतीय समाज में पनप रही और तेजी से फैल रही सांप्रदायिक विचारधारा के कारणों को खोजा है, उनकी शिनाख्त की है और उनपर कठोर प्रहार किया है। स्वयं लेखक की स्वीकारोक्ति देखी जा सकती है- "...मैं अभी भी यह मानता हूँ कि लोगों का बिखर जाना उतना बुरा नहीं है, जितना ग़लत कामों के लिए ख़तरनाक ढंग से संगठित हो जाना। इसे बताना ही (शायद) एक लेखक के नाते मेरा उद्देश्य

है।"[116] लेखक की चिंता इस बात से नहीं कि लोगों में टकराव उभर रहे हैं बल्कि चिंता इस बात से है कि लोग गलत कामों के लिए संगठित तेजी से हो रहे हैं।अच्छे कामों के लिए लोगों को एकत्रित कर पाना लगातार मुश्किल होता जा रहा है।समाज के हर अंग चाहे वह पुलिस हो, प्रशासन हो, बुद्धिजीवी हों, प्रेस हो या इन सबके चुंगल में फंसनेवाली भोली-भाली जनता, सभी के वास्तविक चेहरों को बेनकाब किया है।सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि सांप्रदायिक विचारधारा को फलने-फूलने से रोकने के लिए जिन प्रयासों की आवश्यकता है, उन उपायों की भी चर्चा यदा-कदा उपन्यासकार ने तत्सत पांडे के माध्यम से की है।

'सांप्रदायिकता संदर्भित विशेष समकालीन उपन्यास' अध्याय के अन्तर्गत इन तमाम उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात निष्कर्ष स्वरूप कुछ बातें निकलकर सामने आती हैं। सबसे पहली बात यह कि सांप्रदायिकता के बढ़ते हुए खतरों को हर लेखक ने महसूस किया है और उस पर अपनी चिंता व्यक्त की है।दूसरी बात यह कि हर लेखक ने प्रशासन, न्यायपालिका और कार्यपालिका के साथ-साथ प्रेस की भूमिका पर भी सवाल खड़े किये गये हैं।साथ ही वे तमाम तत्व जो समाज में सांप्रदायिक विचारों को प्रसारित करते हैं, उन तत्वों की भी शिनाख्त करने में ये कथाकार समर्थ है।पाकिस्तान के गठन की निरर्थकता और हिन्दुस्तान में रहनेवाले अल्पसंख्यक समुदाय की दुरावस्था का चित्रण इन कथाकारों ने अपने उपन्यासों में किया है।सबसे अंतिम बात यह कि हर कथाकार की आस्था मनुष्यता में बनी हुई है।इसी कारण सांप्रदायिक उन्माद के खतरनाक दौर में भी वे कुछ ऐसे पात्रों को दिखाना नहीं भूलते, जिनमें थोड़ी-बहुत ही सही, मानवीयता बची हुई है।जब तक यह मानवीयता बची रहेगी तब तक इन रचनाओं की सार्थकता भी बनी रहेगी।

**संदर्भ ग्रंथ सूची -**


1. राय, विभूति नारायण (संपादक), कथा साहित्य के सौ बरस, शिल्पायन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2001, पृष्ठ संख्या-391
2. राय, चन्द्रदेव एवं धूमकेतु जयप्रकाश (संपादक), अभिनव कदम 6-7, मऊ, उत्तर प्रदेश, नवम्बर 2001-अक्टूबर- 2002, पृष्ठ संख्या-279
3. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-09
4. वही, पृष्ठ संख्या-11
5. वही, पृष्ठ संख्या-13
6. राय, चन्द्रदेव एवं धूमकेतु जयप्रकाश (संपादक), अभिनव कदम 6-7, मऊ, उत्तर प्रदेश, नवमबर 2001-अक्टूबर- 2002, पृष्ठ संख्या-236
7. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-162
8. वही, पृष्ठ संख्या-183
9. अमिताभ, डॉ. वेदप्रकाश, हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ, गोविन्द प्रकाशन, मथुरा, प्रकाशन वर्ष -2003, पृष्ठ संख्या-103
10. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-232
11. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-146
12. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-252
13. वही, पृष्ठ संख्या-253
14. वही, पृष्ठ संख्या-262
15. वही, पृष्ठ संख्या-288
16. सिंह, डॉ. कुँवरपाल , मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-162
17. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-303
18. वही, पृष्ठ संख्या-297
19. देसाई, डॉ. पारूकान्त, हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परम्परा में साठोत्तरी उपन्यास, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण-2002, पृष्ठ संख्या-213
20. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-07
21. वही, पृष्ठ संख्या-09
22. वही, पृष्ठ संख्या-32
23. वही, पृष्ठ संख्या-36
24. वही, पृष्ठ संख्या-36

25. वही, पृष्ठ संख्या-44
26. वही, पृष्ठ संख्या-47
27. सिंह, डॉ. कुँवरपाल, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-152
28. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-62
29. वही, पृष्ठ संख्या-65
30. सिंह, डॉ. कुँवरपाल एवं बिसारिया अजय (संपादक), हिंदी उपन्यास: जनवादी परंपरा, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-152
31. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-67
32. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-303
33. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-154
34. वही, पृष्ठ संख्या-170
35. वही, पृष्ठ संख्या-222
36. वही, पृष्ठ संख्या-239
37. श्रीवास्तव, परमानंद (संपादक), आलोचना, नई दिल्ली, अप्रैल-सितम्बर 2004, पृष्ठ संख्या-68
38. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-250
39. शाही, विनोद (संपादक), तमस : एक पुनर्पाठ, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-46
40. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-10
41. वही, पृष्ठ संख्या-13
42. वही, पृष्ठ संख्या-33
43. खाँ, डॉ. मुहम्मद फिरोज, मुस्लिम समाज और हिन्दी उपन्यास, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या- 193
44. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-157
45. वही, पृष्ठ संख्या-162
46. वही, पृष्ठ संख्या-164
47. वही, पृष्ठ संख्या-166
48. वही, पृष्ठ संख्या-192
49. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-200
50. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-183
51. वही, पृष्ठ संख्या-49

52. वही, पृष्ठ संख्या-77
53. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-382
54. ऐहतेशाम, मंजूर, सूखा बरगद, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-11
55. वही, पृष्ठ संख्या-21
56. वही, पृष्ठ संख्या-42
57. वही, पृष्ठ संख्या-57
58. वही, पृष्ठ संख्या-66
59. वही, पृष्ठ संख्या-70
60. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-244
61. ऐहतेशाम, मंजूर, सूखा बरगद, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-83
62. वही, पृष्ठ संख्या-87
63. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-356
64. ऐहतेशाम, मंजूर, सूखा बरगद, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-142
65. वही, पृष्ठ संख्या-208
66. अमिताभ, डॉ. वेदप्रकाश, हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ, गोविन्द प्रकाशन, मथुरा, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-143
67. वही, पृष्ठ संख्या-151
68. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-233
69. खाँ, डॉ. मुहम्मद फिरोज, मुस्लिम समाज और हिन्दी उपन्यास, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-195
70. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-1
71. सिंह, डॉ. कुँवरपाल एवं बिसारिया अजय (संपादक), हिंदी उपन्यास: जनवादी परंपरा, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-178
72. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-03
73. वही, पृष्ठ संख्या-218
74. अग्रवाल, रोहिणी, इतिवृत की संरचना और संरूप, आधार प्रकाशन, पंचकुला, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-41
75. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-18
76. वही, पृष्ठ संख्या-45
77. वही, पृष्ठ संख्या-68

78. वही, पृष्ठ संख्या-74
79. वही, पृष्ठ संख्या-123
80. 'दिनकर', रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-57
81. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-187
82. वही, पृष्ठ संख्या-200
83. वही, पृष्ठ संख्या-291
84. सिंह, कुंवरपाल (संपादक), वर्तमान साहित्य, अलीगढ़, सितम्बर-2007, पृष्ठ संख्या-90
85. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-251
86. वही, पृष्ठ संख्या-251
87. वही, पृष्ठ संख्या-260
88. अग्रवाल, रोहिणी, इतिवृत की संरचना और संरूप, आधार प्रकाशन, पंचकुला, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-62
89. सिंह, डॉ. विजय बहादुर, उपन्यास : समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-211
90. सोबती, कृष्णा, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-07
91. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-198
92. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिंदी का गद्य साहित्य (उद्धृत), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण- 2004, पृष्ठ संख्या-257
93. सोबती, कृष्णा, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-135
94. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-322
95. सोबती, कृष्णा, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-184-185
96. वही, पृष्ठ संख्या-216-217
97. वही, पृष्ठ संख्या-266
98. वही, पृष्ठ संख्या-380
99. सोबती, कृष्णा, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण- 2010, पृष्ठ संख्या-330
100. श्रीवास्तव, परमानन्द, उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-1995, पृष्ठ संख्या-92
101. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-296

102. वही, पृष्ठ संख्या-302

103. वही, पृष्ठ संख्या-295

104. सिंह, दूधनाथ, आखिरी कलाम, राजकामल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-33

105. वही, पृष्ठ संख्या-33

106. वही, पृष्ठ संख्या-05

107. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-300

108. सिंह, विजय बहादुर,उपन्यास समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2007, पृष्ठ संख्या-227

109. सिंह, दूधनाथ, आखिरी कलाम, राजकामल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-109

110. डॉ. रणजीत (संपादक), साम्प्रदायिकता का जहर, मानवीय समाज प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष- 2010, पृष्ठ संख्या-117

111. सिंह, दूधनाथ, आखिरी कलाम, राजकामल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-327

112. वही, पृष्ठ संख्या-261

113. वही, पृष्ठ संख्या-268

114. अग्रवाल, डॉ. रोहिणी, इतिवृत की संचेतना और संरूप, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-37

115. यादव, वीरेन्द्र, उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-216

116. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-298

# अध्याय- 5

# सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर

**5. 1.** जिन्दा मुहावरे
**5. 2.** हमारा शहर उस बरस
**5. 3.** मैं बोरिशाइल्ला
**5. 4.** उपयात्रा

## सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासों में युवा हस्ताक्षर

सन् **1990** का दशक भारतीय समाज के लिए उथल-पुथल का समय रहा है। उदारवाद के नाम पर ऐसी नीति लायी गयी, जिससे संसाधनों पर कब्जा जमाने की होड़ मच गई। अमीर और गरीब के बीच की खाई और भी ज्यादा चौड़ी होती गई। इस दौर में सांप्रदायिकता की समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। सांप्रदायिक विचारों को प्रसारित कर फायदा लेने वाली शक्तियां अच्छी तरह से समझ चुकी थीं कि अब केवल धर्म के नाम पर लोगों को छला नहीं जा सकता है। इसलिए इन शक्तियों ने भाषा, क्षेत्र आदि के नाम पर समुदायों को खड़ा किया और उन्हें लड़ाना आरंभ कर दिया। दूसरी तरफ, इस दौर में एक ऐसे नये मध्यवर्ग का उदय हो रहा था जिसमें नवीनता के लिए आग्रह था तो अपनी परम्पराओं के लिए मोह भी था। इसी नव मध्यवर्ग से निकली युवा पीढ़ी में रूढ़ियों को तोड़ने का साहस दिखाई पड़ता है, तो जीवन के प्रति एक सकारात्मक रवैया भी। हिंदी कथा साहित्य में इसी ऊर्जा से लैस युवा कथाकारों ने पदार्पण किया, जिन्होंने जीवन के विविध आयामों को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। युवा कथाकारों का सांप्रदायिकता के प्रति क्या नजरिया है ? युवा कथाकार उन ताकतों को पहचानने में सक्षम है या नहीं जिनके कारण सांप्रदायिकता की समस्या पनपती है, इन सबकी शिनाख्त करनी होगी।

### 5. 1. जिंदा मुहावरे

हिंदी कथा साहित्य में जिन महिला कथाकारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें नासिरा शर्मा का स्थान अन्यतम है। अब तक नासिरा शर्मा के आधे दर्जन से अधिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। **'सात नदियाँ एक समुन्दर'** (**1984**), **'शाल्मली'** (**1987**), **'ठीकरे की मँगनी'** (**1989**), **'जिंदा मुहावरे'** (**1993**), **'अक्षयवट'**, **'कुइयाँजान'**, **'जीरो रोड'** उपन्यास प्रकाशित होकर आ चुके हैं। जिन्दा मुहावरे उपन्यास सांप्रदायिकता एवं विभाजन को ध्यान में

रखते हुए लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास का विशेष महत्व इसलिए भी है क्योंकि इस उपन्यास में नासिरा शर्मा ने उन मुसलमानों की मानसिक स्थिति का चित्रण किया है जिन्होंने विभाजनोपरान्त पाकिस्तान जाना मुनासिब समझा। साथ ही नासिरा शर्मा ने उन मुसलमानों की मानिसक स्थिति का भी वर्णन किया है जिन्होंने भारत को ही अपनी सरज़मी माना, विभाजन के बाद यहीं बसे लेकिन बार-बार अपनी वतनपरस्ती का सबूत उन्हें देना पड़ा। उसके बावजूद भी लोगों का विश्वास जीतना उनके लिए मुश्किल हो गया।

उपन्यास की कथा का प्रारंभ निज़ाम नामक एक नौजवान के साथ होता है। उपन्यास में आजादी के बाद के उस दौर का वर्णन किया गया है जहां देश का विभाजन होता है और भारत से कुछ मुसलमान पाकिस्तान का रुख़ करते हैं यह सोचकर कि अब पाकिस्तान ही उनका वतन है और वहीं उनका सुंदर भविष्य है। तो पाकिस्तान से भी हिंदुओं और सिक्खों का बड़ा जत्था भारत आता है। निज़ाम भी उन्हीं मुसलमानों में से एक था जो पाकिस्तान में एक नयी दुनिया बसाने का ख़्वाब लेकर जा रहा था। घरवालों के लाख समझाने के बावजूद कि हिंदुस्तान में ही उनकी जड़े हैं, यहीं उनके पुरखे हैं, यही उनका वतन है, निज़ाम पाकिस्तान चला जाता है। अपनी जमीन, अपनी मिट्टी के संबंध में उसकी सोच साफ है- " जमीन...! जमीन से चिपके रहना तभी तक भला, जब वह अपनी पहचान हो, इज्जत हो, अपने बीज, अपनी फसल हो, मगर जब सब कुछ बेगाना बना दिया जाए और साबित करना पड़े कि यह मिट्टी...इससे अच्छा वह टुकड़ा है, जो काट कर दामन में डाल दिया गया हो। अब उसी को पालना-पोसना और अपना समझना होगा।"[1] ये वही सोच है जो मुस्लिम लीग द्वारा विभाजन से पहले हर मुसलमान को कही जा रही थी। कुछ मुसलमानों के पास इन दलीलों के लिए टका सा जवाब था तो कुछ मुसलमान इन दलीलों से सहमति रखते थे। जिसका परिणाम था हिंदुस्तान का विभाजन।

निज़ाम पाकिस्तान तो चला जाता है लेकिन उसे हिन्दुस्तान में बसे अपने लोगों की याद भी उसी प्रकार सताती है। अपना भतीजा, अब्बा और अम्मां, भाभी की मीठी-मीठी झिड़कियां भी उसे याद आती हैं। यहां से उपन्यास की मुख्य कथा का प्रारंभ होता है। निज़ाम को वह दौर याद आता है जब घरवाले उसे समझाने का प्रयास करते हैं कि पाकिस्तान जाने की ज़िद वह छोड़ दे लेकिन वह टस से मस नहीं होता। तभी उलाहना देते हुए उसकी भाभी कहती है- " जाओ भैया, तुम्हें बहुत गुमान है न, मगर याद रखो कि एक दिन बिलाइ भी सूंघत-सूंघत अपने पुराने ठिकाने को लौटत है, चाहे बोरा में भर कर कोसो दूर छोड़ के आओ, तुम तो भला इन्सान ठहरे।"[2] भाभी की कही हुई बात तत्काल निज़ाम समझ नहीं पाता और घर से निकल पड़ता है- " सबै का खून सफ़ेद होय गया है। ज़मीन की ख़ातिर हम से मुंह मोड़ लीहिन। हमका भी अब केही की परवाह नाही। न अम्मां, न अब्बा, न भाई-भावज, न बहन। जहां जात हैं अब वही हमार वतन कहलइहे। नया ही सही अपना तो हेइए। जहां रोज-रोज ओकी खुद्दारी को कोई ललकारिये तो नाही। कोई ओके गरिबान पर हाथ डालै की जुर्रत तो न करिहे...।"[3] लेकिन भाभी की कही हुई बात कालान्तर में सच साबित होती है।

उपन्यास में निज़ाम, मसूदअली, शरफ़उद्दीन, नादिर खां आदि ऐसे पात्र हैं जो विभाजन के दौर में भारत छोड़कर पाकिस्तान चले जाते हैं। वहीं निज़ाम के पिता, बड़े भाई साहब, उसकी मां, भाभी, बहनें उन भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्होंने पाकिस्तान जाने से इंकार किया और भारत को ही अपना वतन माना। जिन मुसलमानों ने भारत छोड़कर पाकिस्तान जाना मुनासिब समझा उनका हाल बयान करते हुए लेखिका कहती है- "निजाम एक ऐसा शख़्स था, जो अकेला ख़ाली हाथ जा रहा था। इन सब के बीच वह अजनबी था। न कोई उसे जानता था, न वह किसी को पहचानता था। जो भी थे, वे सब

लुटे-पिटे आहत थे। कुछ भयभीत से घर-बार छोड़कर भाग निकले थे। कुछ दूसरों की देखा-देखी साथ हो लिए थे। इनमें से कई के दिल व दिमाग में कुछ भी साफ नहीं था। भगदड़ में सिर्फ इतना सोच पाए थे कि जान बचाने के लिए जाते हुए लोगों में शामिल हो जाओ, जब कल खतरा टल जाएगा, फसाद ठंडा हो जायेगा, तो फिर पुराने ठौर-ठिकाने को लौट आएंगे। कुछ बूढ़े यह भ्रम पाले हुए थे कि वह कहीं दूर थोड़े ही बल्कि अपने मुल्क के दूसरे हिस्से में पनाह लेने जा रहे हैं, हालात के ठीक होते ही अपने गांव वापस आ जाएंगे। उनकी बातें सुनकर निज़ाम तल्खी से हंसा था।"[4] विभाजन के दौरान जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान जाना बेहतर समझा था, उनके दिलो-दिमाग का बड़ा ही प्रामाणिक चित्रण नासिरा शर्मा ने किया है। कुछ लोगों ने भयवश पाकिस्तान जाना उचित समझा तो कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें कुछ पता न था बस दूसरों की देखा-देखी में वे भी धारा में बहते चले गये। कुछ लोगों के लिए तो पाकिस्तान एक अलग राष्ट्र ही न था बल्कि वो अब भी हिन्दुस्तान का ही एक हिस्सा समझा जा रहा था और लोग यह समझ रहे थे कि जब कभी अपनों की जरूरत महसूस होगी तो बड़ी ही आसानी से सरहद पार कर अपनों से मिलने आ पहुंचेंगे।

बहरहाल निज़ाम पाकिस्तान के कराची शहर में आ बसता है। अपार मुश्किलों और तकलीफों का सामना करने के बाद वह एक सफल व्यवसायी बन जाता है। सबीहा के साथ उसका निकाह भी हो जाता है जिससे उसे चार औलादें मिलती हैं। दो बेटे और दो बेटियां। एक बेटा कालान्तर में घर से निकलता है तो लौटकर वापस नहीं आ पाता। इस बीच इधर भारत में निज़ाम की मां उसे देखपाने की हसरत लिए अल्ला को प्यारी हो जाती है। निज़ाम कई बार भारत जाने की कोशिश करता है लेकिन कभी दंगों के कारण तो कभी युद्ध छिड़ जाने की वजह से जा नहीं पाता। अपने निकाह में भी वह अपने परिवार के लोगों को कराची बुलाना चाहता था लेकिन ऐसा हो नहीं पाता। निज़ाम का व्यवसाय देश-विदेशों में

फैल जाता है। बड़े-बड़े नामचीन लोगों से उसकी पहचान थी और उन नामचीन लोगों के जलसों में निज़ाम को न्यौता देना लाज़मी बन गया था। निज़ाम इस कद का एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बन चुका था। इतना सबकुछ होने के बावजूद निज़ाम को कराची शहर बेगाना ही लगता है क्योंकि जिन सपनों के साथ निज़ाम पाकिस्तान आया था वे सपने टूट चुके थे।

विभाजन के समय जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान को अपना वतन समझकर हिंदुस्तान छोड़ा था, कालान्तर में वे स्वयं को ठगा हुआ महसूस कर रहे थे। जिस पाकिस्तान को वे अपना वतन, अपनी ज़मीन समझ रहे थे, उसी पाकिस्तान में वे 'मुहाज़िर' बन गये। अपना सबकुछ झोंक देने के बाद भी निज़ाम को ऐसा महसूस होता है कि पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमानों से कहीं ज्यादा अच्छी स्थिति उन मुसलमानों की है जो सरहद के उस पार हिंदुस्तान में बसे हैं। कम से कम उन्हें मुहाज़िर तो नहीं कहा गया। इस बीच भारत में भी कौमी दंगे अलग-अलग शहरों में होते हैं। मुसलमानों को अपनी देशभक्ति का सबूत बार-बार देना पड़ता है। स्वाधीनता हासिल करने से पहले हुए कौमी दंगे और विभाजन के रक्तरंजित इतिहास के बावजूद जिस ढंग से देश के संविधान में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में घोषित किया गया यह अपने आप में एक बहुत बड़ी बात थी लेकिन धर्मनिरपेक्षता केवल संविधान के पन्नों तक ही सीमित रह गयी। आजादी के बाद मुसलमानों की स्थिति और भी दयनीय बन गयी। ऐसा ही एक वाकया निज़ाम के घरवालों के साथ हिंदुस्तान में होता है। निज़ाम के पिता रहीमउद्दीन की विकट स्थिति का वर्णन करते हुए लेखिका कहती है- " उधर रहीमउद्दीन के दिल का हाल किसी और वजह से बुरा था। फ़साद क्या हुआ, लोगों के जख़्म फिर से हरे हो गए। दिलों में उठती टीसें सबने बड़ी खामोशी से दांतों तले होंठ दबाकर सह लीं। बंटवारा उनके गलों में पड़ा फ़ांसी का फंदा बन चुका था, जो न पूरी तरह कसता था, न ढीला होकर छूटता था। ऐसे नाजुक मौके पर कोई पाकिस्तान का ताना मार बैठता, तो

रहीमउद्दीन को निज़ाम किसी गाली की तरह याद आता, दिल में टीस उठती।"[5] रहीमउद्दीन के माध्यम से भारतीय मुसलमानों की अजीबोगरीब परिस्थिति का बेहतरीन चित्रण लेखिका ने किया है।कालान्तर में पाकिस्तान से निज़ाम का खत आने के कारण हिंदुस्तानी पुलिस और प्रशासन के शक के दायरे में रहीमउद्दीन का परिवार आ जाता है, घर पर पुलिस का छापा पड़ता है।इस सदमें से रहीमउद्दीन की मृत्यु हो जाती है।

वतन को छोड़कर चले जाने के बाद भी कई लोगों के लिए हिंदुस्तान को भुला पाना आसान न था।इसलिए जब कभी जिसे मौका मिलता भारत आने की कोशिश अवश्य करता, बहाना चाहे कुछ भी हो।ऐसे में अनायास ही मोहन राकेश की कहानी **'मलवे का मालिक'** याद आती है जिसमें गनी मियां हाकी का मैच देखने के बहाने अमृतसर आता है। आलोच्य उपन्यास में भी एक वाकया ऐसा आता है जब शरफउद्दीन को भी भारत आने का मौका मिलता है।हर कोई हिंदुस्तान में रहनेवाले अपने रिश्तेदारों की खैरियत जानना चाहता है।सबीहा के पिता शरफ़उद्दीन से हिंदुस्तान की खबर पूछते हैं-

> " "कैसा है याराने वतन ?" खां ने बिल्कुल अलग लहजे से पूछा।
>
> " कुछ पूछो न, यार, आने का दिल नहीं चाह रहा था।अपना तो आधा कुनबा वहां है, दोस्त, अहबाब, अपनी निम्मी, सुरैया और...।" वह कहते कहते संजीदा हो गए।
>
> " वे भी क्या दिन थे।" खां होठों-ही-होठों में मुस्कुराए।"[6]

धीरे-धीरे ही सही पाकिस्तान की मांग करनेवाले और पाकिस्तान जानेवालों को यह अहसास होने लगा था कि पाकिस्तान की मांग कितनी गलत थी और पाकिस्तान आना कितनी बड़ी भूल।राजनीति करनेवालों ने अपने स्वार्थों के लिए पाकिस्तान और हिंदुस्तान बना डाला लेकिन जिन्होंने उनकी बात मानकर पाकिस्तान को अपना वतन मान लिया, उन्हें

पछताने के अलावा कुछ भी हासिल न हो सका। एक ओर नये वतन में नयी इबारत लिखने का स्वप्न था तो पीछे यादों की लंबी फेहरीस्त थी जिनसे दामन छुड़ाना नामुमकिन था।

विभाजन हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों के लिए एक ऐसा नासूर बन चुका है जिसे **66** वर्षों के बाद भी भुलाना मुश्किल हो गया है। हर नयी पीढ़ी में मीठे जहर की तरह यह चुभोया गया है। हर दशक में दंगे हुए हैं जिससे दोनों ओर या ठीक से कहें तो तीनों ओर (हिंदुस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश) रहनेवाले हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य बढ़ता गया। नासिरा शर्मा इस समस्या को शिद्दत से महसूस करती हैं और आलोच्य उपन्यास में इमाम और जावेद की बातचीत के माध्यम से इसे उजागर करती हैं-

> " पता नहीं पाकिस्तान के नाम पर इधर वाले और हिंदुस्तान के नाम पर उधर वाले इतने ज़ज़्बाती क्यों हो जाते हैं ? सियासत से निकली इस हकीक़त को कुबूल करने की आदत भी हमें डालनी है। वह हमारा पड़ोसी मुल्क है। यूं तो ब्रिटिश इंडिया में बर्मा, श्रीलंका, अफ़गानिस्तान भी शामिल था, उसके जुदा होने को तो हम इतना अपने ऊपर हावी नहीं किये हैं ?" जावेद बहस पर उतर आया।
>
> "देखो, मुझे सियासत से सख़्त चिढ़ है। जो गुजर गया उस पर लानत भेजता हूं।" इमाम ने उलझ कर कहा।
>
> "अगर आपको मोहब्बत भी होती तो इसका मतलब यह हरग़िज नहीं था कि सांप निकल जाए और आप लकीर पीटते रह जायें ?"
>
> "मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहता।"
>
> "बहस ना करें, यह आपकी मर्जी, मगर खुदारा इस बोझ को दिल से उतार फेंके कि जो कुछ कल हुआ, उसका जिम्मेदार आज है ? लाखों हिन्दुस्तानी दुनिया के जाने किस-किस कोने में रोजी-रोटी कमाने के लिए बस गए हैं। वहीं के शहरी

बन बैठे हैं। इन्सान के बदन से पेट नाम की चीज़ हटा दीजिए, तो यह बन्दर-बांट की सियासत खुद दम तोड़ देगी।" जावेद ने ज़रा तेज़ लहजे में कहा।

"देखो, जावेद बटवारा चाहे एक चुल्हे का ही क्यों न हो हमारी सोच का हिस्सा नहीं बन सकता, उसको हमारा दिल व दिमाग़ बर्दाश्त नहीं कर पाता। इसे मेरी कमजोरी समझो, या मजबूरी, मगर मुझे जीना इन्हीं दोनों के साथ है।"इमाम इतना कहकर गहरी सांस लेकर उठा और दूसरे कमरे में जा अपने बिस्तर पर लेट गया।

"अजीब जड़ सोच है हमारी ?" जावेद ने आक्रोश में हथेली दूसरे हाथ की मुट्ठी पर मारी।"[7]

आगे चलकर लेखिका यह दिखाती है कि पाकिस्तान में नोटो की बारिश नहीं हो रही जिसके प्रति इतना मोह रखा जाय। विभाजन का घाव एक ऐसा घाव था जिसे चाहकर भी उस दौर की पीढ़ी भुला न सकी मगर हर व्यक्ति यह समझ चुका था कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान कुछ सियासती लोगों की महत्वाकांक्षा और निजी स्वार्थ का परिणाम था। अगर इन सियासती लोगों ने अपने टुच्चे स्वार्थों से ऊपर उठकर मनुष्यता के संबंध में सोचा होता तो शायद विभाजन को टाला जा सकता था। जो लोग यह कहते हैं कि विभाजन अवश्यंभावी था और उसे टाला नहीं जा सकता था, वास्तव में वे वास्तविकता को छुपाना चाहते हैं। आपसी समझदारी को समाप्त करके लोगों ने इन सियासती लोगों के कुचक्र को सफल करने में सहायता ही की।

उपन्यास में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जब निज़ाम को यह महसूस होने लगता है कि कहीं पाकिस्तान आकर उसने कोई गलती तो नहीं की। वह बीच-बीच में सबीहा से भी इसका जिक्र करता था-

" "क्या हमने यहां आकर भूल की, या...?" निज़ाम ने सबीहा से पूछ लिया।

"जो गुजर गया, उसे याद करने से फायदा ? बरसों पुराना फैसला आप अब बदल नहीं सकते।" सबीहा ने हल्के से कहा।"[8]

सबीहा के लाख समझाने के बावजूद निज़ाम को यह लगता है उसने पाकिस्तान आकर गलती की।उसकी याद में उसकी अम्मी और अब्बू दोनों चल बसे लेकिन निज़ाम को अबतक उनकी कब्र पर फतीहा पढ़ना भी नसीब न हुआ।वह नहीं चाहता कि जिस दर्दनाक पीड़ा को वह आज तक भोग रहा है उसके बच्चों को भी झेलना पड़े।सबीहा उसे समझाती है कि पाकिस्तान आकर भी उसने बहुत कुछ हासिल किया है मगर निज़ाम को अपनों के सामने सारा ऐश्वर्य, सारी धन-दौलत नगण्य लगती है।यह वही निज़ाम है जो एक समय घरवालों के लाख समझाने के बावजूद पाकिस्तान चला गया।उसे अपने घरवालों की बातें गलत लगीं। अब जबकि वह व्यवसायिक दृष्टि से, पारिवारिक दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से सफल बन चुका है तब उसे यह महसूस होना कि वह इन्सान कहलाने के लायक नहीं है, जो स्वयं ही प्रमाणित करता है कि निज़ाम के द्वारा उठाया गया कदम गलत था।

जब कभी देश का विभाजन हुआ है, लोगों ने साहित्यकारों में भी विभाजन खड़ा करने का प्रयास किया।आलोच्य उपन्यास में भी एक बहस इस बात को लेकर चल रही है कि आखिर इकबाल किस देश का शायर है, हिंदुस्तान का या पाकिस्तान का।ऐसा ही एक नजारा मंजूर एहतेशाम के उपन्यास **'सूखा बरगद'** में देखने को मिलता है जहां इसी प्रकार की बात हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाओं के प्रसिद्ध साहित्यकारों को लेकर होती है।**'जिंदा मुहावरे'** में तर्क यह दिया जाता है कि भले ही कोई कहीं भी जन्मा हो लेकिन शायर ज़बान का होता है और उर्दू भारत और पाकिस्तान दोनों ही जगहों पर समान रूप से बोली जाती है अतएव किसी शायर को किसी प्रकार की हदबन्दी में बांधकर रखना गलत है।

पाकिस्तान के हालात भी दिन-ब-दिन बिगड़ने लगे थे। सत्ता कभी सेना के हाथ में होती तो कभी जनता के हाथों में। इधर कट्टरपंथियों का वर्चस्व बढ़ रहा था तो दूसरी तरफ अफगानी लड़ाके खड़े हो रहे थे। आये दिन बम के धमाके होते जिनमें मासूम, बेगुनाह लोग मारे जा रहे थे। कई मुहाजिर ये हालात देखकर अपना बोरिया-बिस्तरा लपेटकर विदेशों में पलायन करने लगे। निजाम का दिल इन चीजों को देखकर कट सा जाता। कहां तो अल्ला के नाम पर बनाया गया, इस्लाम के नाम पर बनाया गया वतन 'पाकिस्तान' और उस वतन का चंद वर्षों में यह हाल। निज़ाम के पुत्र अख़्तर का मित्र रईस अपने माता-पिता के साथ कनाडा जानेवाला है। रईस को भी इस प्रकार पाकिस्तान छोड़कर जाना अच्छा नहीं लगता लेकिन इसे वह अपनी नियति मान चुका है-

> "मुझे तो सारी दुनिया अपना घर बनाकर देखने की आदत डालनी है, यार। हो सकता है कल हालात हमें कनाडा से भी दूर अफ्रीका की तरफ जाने को मजबूर करे। इसलिए अब दिल को हर जगह जमाना और उखाड़ना पड़ेगा। सियासी हालात के हम खिलौने बन गए हैं।" रईस ने लंबी सांस खींची।
>
> "मगर कहीं तो जमना होगा न ?" अख़्तर ने परेशानी से दोस्त को देखा।
>
> "हम बटवारे में बिहार से चटगांव जाकर बसे और वहां से भागकर कराची आना पड़ा। यहां पर बिहारी होने की वजह से मार खाई। खैर, छोड़ो असलियत तो यह है कि सियासत ने हमें अहसास और सोच की कामीन पर जरूरत से ज्यादा 'एक्सपोज' किया है। अब एक जगह चैन से बैठना हम जैसों के लिए मुश्किल हो गया है।"रईस ने लापरवाही से शाने झटके।"[9]

अख़्तर और रईस की बातों से यह सामने आता है कि उनके वालिदों ने जो फैसला लिया था, उसकी आंच उन्हें भी सहनी पड़ रही थी। ऐसे माहौल में जहां वे अपनी

जमीन को अपना नहीं कह सकते, जहां के लोगों ने आज भी उन्हें स्वीकार नहीं किया है, वहां नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी दोनों को ही घुटन महसूस होती है। इन परिस्थितियों को आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता। आलोच्य उपन्यास पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. रामचन्द्र तिवारी कहते हैं- " बँटवारे के बयालीस वर्षों के बाद एक ही कौम के लोग एक चने की दो दाल न रहकर दो अलग-अलग दरख्त बन गए हैं। धर्म और सम्प्रदाय की राजनीति ने लोगों के मन में जहर घोल दिया है। निजाम दु:खी होकर पाकिस्तान लौट जाता है। उपन्यास लिखते हुए लेखिका ने यह विश्वास प्रकट किया है कि भविष्य में आने वाली नस्लें मानवीय पीड़ा और काले अनुभवों से सबक लेंगी और ऐसी राजनीति से हाथ खींचेगी, जो अभिशाप बन दिलों को काटती, जमीन को बाँटती, घरों को उजाड़ती, बारूद के ढ़ेर पर बैठे इन्सान को रुहानी तौर पर लगातार कमजोर बनाती जा रही है।"[10] उपरोक्त पंक्तियों में आजादी के बाद के बयालीस वर्षों की बात कही गयी है लेकिन आजादी के **66** वर्षों के बाद भी परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखा है। अभी भी धर्म, जाति, भाषा, वर्ण, क्षेत्र के आधार पर भारत में न जाने कितने छोटे-छोटे पाकिस्तान बने हुए हैं। आज भी मुसलमानों की वतनपरस्ती पर शक किया जाता है।

नासिरा जी ने आलोच्य उपन्यास में मानवीय मूल्यों को अपने पात्रों में कूट-कूटकर भरा है। सांप्रदायिक एवं धार्मिक सौहार्द एवं मानवीय मूल्यों का बड़ा ही सुंदर संरक्षण तब उपन्यास में देखने को मिलता है जब इमाम अपनी जमीन का एक हिस्सा अपने बेटे के नाम करता है और दूसरा हिस्सा वर्षो से उनकी खिदमत करनेवाले ब्रजा और उसके बेटे लच्छू के नाम कर देता है। ब्रजा हिंदू है लेकिन इमाम के लिए यह बड़ी ही तुच्छ सी बात है। बड़ी बात यह है कि ब्रजा, उसकी पत्नी और लच्छू ने पीढ़ी दर पीढ़ी इमाम के खानदान की सेवा-सुश्रुषा की है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। ऐसे कई उदाहरण उपन्यास में भरे पड़े हैं।

बड़ी मुश्किलों के बाद निज़ाम को हिंदुस्तान आने का वीजा आखिरकार मिल ही जाता है। बड़े अरमानों के साथ वह सपरिवार हिंदुस्तान आता है। निज़ाम भाभी की कही हुई वो बातें नहीं भूलता कि आख़िरकार बिल्ली एक दिन रास्ता सूंघते-सूंघते घर को ही वापस आती है। निजाम जब अपने परिवारवालों से मिलता है तो भाभी को कहना नहीं भूलता- " भाभी सलाम...! बिलाई की तरह सूंघत-सूंघत आखिर हम अपने ठिकाने को लौट आए।"[12] निजाम अब पाकिस्तानी हो चुका है और पराया भी। यह अहसास उसे तब होता है जब अख़्तर के लिए रिश्ता मांगने पर उसका बरसो पुराना मित्र सैफ़उल्लाह रिश्ता ठुकरा देता है- "कौन अपनी लड़की नेपाल, अफ़गानिस्तान, ईरान ब्याहता है ? फिर पाकिस्तान क्यों हम ब्याहें ? मिट्टी की क़िस्म इन्सान को इन्सान से बांधती है, भले ही उसकी इन्सानी हमदर्दी जापानी, चीनी, अफ्रीकी इन्सान से हो, अगर ऐसा न होता तो...।"[12] यहां देखा जा सकता हैं कि आपसी मित्रता या रिश्ते महत्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि मुद्दा यह है कि निज़ाम अब पाकिस्तानी बन चुका है और उसके घर अपनी बेटी नहीं दी जा सकती। सैफ़उल्लाह की इन बातों को बर्दाश्त कर पाना निजाम के लिए मुश्किल हो गया था। उपन्यास में एक क्षण ऐसा भी है जहां प्रोफेसर ज्वालाप्रसाद यह बताने की कोशिश करते हैं कि बँटवारा हो जाने के इतने वर्षों के बाद भी लोग उसे भुला क्यों नहीं पाये। ज्वालाप्रसाद कहते हैं- " सच पूछे तो बंटवारा हमारी सोच का, हमारी भावना का हिस्सा बन चुका है। उस मानवीय विलाप से हम आज भी निकल नहीं पाए हैं, शायद अगले पचास वर्ष तक इससे निकल भी नहीं पाएंगे। मैं लाहौर का हूं। ना शहर भूला, ना दोस्त, ना वह खुशबू ! आज भी तालिब़ मुझे ख़्वाबों में नजर आता है।"[13]

उपन्यास के अंत तक निज़ाम इसी पशोपेश में पड़ा रहता है कि क्या उसने पाकिस्तान जाने का सही निर्णय लिया था ? जो बाते सुनकर वह घर से निकला कि हिंदुस्तान

में मुसलमानों के लिए जगह नहीं, उनकी तरक्की का रास्ता नहीं, नौकरियों में भेदभाव जैसी बातें क्या सच हुई ? और अगर नहीं हुई तो पाकिस्तान जाने या पाकिस्तान बनाने का क्या मतलब था ? हिंदुस्तान आने के बाद वह यह सोचने को भी बाध्य है कि वह क्या करे, पाकिस्तान लौट जाए या हिंदुस्तान में ही रहे ? क्योंकि जो बातें कहकर पाकिस्तान बनाया गया था वैसा कुछ तो हुआ नहीं। उसका भतीजा हिंदुस्तान में कलक्टर बना हुआ है, सामाजिक प्रतिष्ठा है। समान अधिकार भी मिले हुए हैं। अमन और चैन है। नासिरा जी ने निजाम और निजाम जैसे हजारों मुसलमानों की स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। इस प्रसंग में नगमा जावेद का कथन बिल्कुल सही लगता है- " इस उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि लेखिका की साफ़गोई और इमानदारी। उन्होंने पूरी तटस्थता के साथ स्थितियों का विश्लेषण किया है। निज़ाम का पछतावा, उसकी उदासी इस बात का सबूत है कि अपनों से जुदा होकर उसने जो कुछ अर्जित किया है, वह यहां रहकर भी पा सकता था। वहां उसने जो हासिल किया है उसकी बहुत बड़ी कीमत अदा की है-बहुत कुछ गुमाकर, खोकर कुछ पाने और बिना कुछ खोये कुछ पाने में कितना अंतर है ?

क्या यहां लेखिका पाकिस्तान बनाने की निरर्थकता को बताने की कोशिश नहीं कर रही हैं ? यकीनन, जब मुसलमान आज भी यहां रह रहे हैं तो पाकिस्तान बनने का औचित्य क्या है ? बकौल नासिरा शर्मा के 'एक बेहद जुनून' जिसने धरती का बांट दिया।"[14] नगमा जावेद के उपरोक्त विचार बिल्कुल सटीक हैं। नासिरा जी इस उपन्यास के माध्यम से पाकिस्तान के बनने की व्यर्थता को उजागर करती हैं जो न केवल एक देश बल्कि एक सोच, एक विचार बन चुका है। जो दशकों से आपसी सौहार्द को मिटाकर आपसी रंजिश का कारण बन बैठा है।

पूरे उपन्यास में नासिरा शर्मा ने पाकिस्तान जानेवाले एवं हिंदुस्तान में रहनेवाले मुसलमानों की त्रिशंकु सी स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। इन मुसलमानों की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ मानसिक मन: स्थिति का चित्रण भी नासिरा जी ने बखूबी किया है। विभाजनोपरान्त उत्पन्न अलगावबोध की स्थिति का भी प्रामाणिक चित्रण लेखिका ने करने का प्रयास किया है। डॉ. गोपाल राय इस उपन्यास के संबंध में कहते हैं- "...विभाजन ने भारत में रह गये मुसलमानों के लिए अनेक समस्याएँ पैदा कीं जिनमें सबसे दु:खद उनका मुख्य धारा से अलगाव-बोध था। आज यह बात अनुभव की जा रही है कि देश का बँटवारा मुसलमानों के लिए भी विनाशकारी ही था। यहाँ तक कि पाकिस्तान जाने वाले युवकों को भी वहाँ की मुसलमान आबादी ने हृदय से नहीं अपनाया। धर्मान्धता की तो जीत हुई, पर मनुष्यता का हनन हो गया। *ज़िन्दा मुहावरे* इसी मानव नियति का साक्षात्कार कराता है। नासिरा शर्मा ने विभाजन के बाद भारत में रह गए और पाकिस्तान चले गए दोनों तरह के मुसलमानों के दर्द को बहुत सहानुभूति और गहरी संवेदना के साथ अंकित किया है। इसमें उस मानसिकता का अंकन किया गया है जिसमें तत्कालीन मुस्लिम युवा पीढ़ी पाकिस्तान जाने को अपना अन्तिम मकसद मान बैठी थी। इस उपन्यास में भी भारतीय मुसलमानों की घरेलू जिन्दगी का विश्वसनीय अंकन किया गया है। यह भारतीय मुस्लिम समाज की जिन्दगी का प्रामाणिक दस्तावेज तो है ही, साथ ही मानवीय सम्बन्धों को धर्म के ऊपर देखने का संवेदनशील प्रयास भी है।"[15] निश्चित रूप से नासिरा जी ने अपने उपन्यास के माध्यम से अमानवीय स्थितियों को दर्शाते हुए मानवीयता पर अपनी आस्था दर्शायी है। यह आशा की जा सकती है कि आनेवाली पीढ़ियां अपने गुजरे हुए कल से सबक लेंगी और राजनीति के कुचक्र में पड़कर कोई जज्बाती फैसला नहीं लेंगी।

## 5. 2. हमारा शहर उस बरस

युवा उपन्यासों की लंबी फेहरिस्त में कुछ ही ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने बरबस पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। इन चंद कथाकारों ने विषय के स्तर पर पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है तो कुछ कथाकारों ने अपने विशिष्ट शिल्पगत प्रयोग के कारण पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। गीतांजलि श्री एक ऐसी कथाकार हैं जिन्होंने न केवल कथ्य के स्तर पर बल्कि शिल्प के धरातल पर भी अभिनव प्रयोग करने के कारण आलोचकों एवं पाठकों का ध्यान बरबस अपनी तरफ आकृष्ट किया है। सन् **1993** में इनका प्रथम उपन्यास **'माई'** प्रकाशित हुआ। इसके बाद **'हमारा शहर उस बरस'** (**1998**), **'तिरोहित'**(**2001**) **'खाली जगह'**(**2006**) एवं **'यहां हाथी रहते थे'** (**2012**) उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। गीतांजलि श्री के लगभग सभी उपन्यास चर्चित रहे हैं। इन सभी उपन्यासों में **'हमारा शहर उस बरस'** उपन्यास विशेष महत्व रखता है क्योंकि इस उपन्यास में गीतांजलि श्री ने परम्परा और आधुनिकता के बीच फैले सांप्रदायिक वैमनस्य के कारणों को खोजने का स्तुत्य प्रयास किया है।

वर्तमान समय में सांप्रदायिकता जिस रूप में मौजूद है उसका एकमात्र कारण यह है कि भारतीय अपनी जड़ों से कट चुके हैं। मिथ्या तथ्यों पर आधारित गढ़े गये इतिहास को भारतवासियों ने सच मान लिया है जबकि दैनिक जीवन का हिस्सा बन चुके कई ऐसे रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार हैं जो साझी संस्कृति के कारण भारतीय समाज में पनप पाये हैं, अपनी जगह बना सके हैं। इस साझी संस्कृति की विरासत को भुलाकर भारतवासियों ने अलगाव की संस्कृति का जहर हवा में घोल दिया है। एक चिरंतन सत्य है कि 'जो जैसा बोता है, वो वैसा ही काटता है।' आनेवाला समय इसका हिसाब जरूर मांगेगा। उपन्यास की निम्नलिखित पंक्तियां हमारे समय के इसी सच को बयां करती हैं- ' "यह तो बदकिस्मती है

हमारी कि हम उस दौर में जी रहे हैं, जब कुछ सहज और सुंदर नहीं हो पा रहा। यह जो चीख है, वह चीख है, असली आवाज़ नहीं। तुम्ही बताओ, तुम पगलाकर चिल्लाओगी तो वह आवाज श्रुति की आवाज़ होगी या यह, जिसमें तुम सहाजता से बोलती हो ? अपनी आवाज खो मत देना..."[16]

आज के समय की सबसे त्रासद स्थिति यह है कि वे लोग जो विवेकवान हैं उन्होंने भी आवाज़ उठानी बंद कर दी है तो फिर उन लोगों से संघर्ष की आशा कैसे की जा सकती है जिनके पास सही और गलत के बीच फर्क करने की बुद्धि ही न हो। आलोच्य उपन्यास भी कुछ ऐसे ही पात्रों को लेकर गढ़ा गया है जिनके पास विवेक तो है परंतु या तो वे मौन साधे हुए हैं या फिर कुचक्र रचकर अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं। आलोच्य उपन्यास ऐसे चेहरों को बेनकाब करता है। उपन्यास में 'मै' कथा वाचक या 'नैरेटर' के रूप में है जो अपने शहर की कथा घटनाएं और विवरण प्रस्तुत करती है। उपन्यास में हर जगह वह उपस्थित है। यह शहर मोटे तौर पर किसी भी भारतीय शहर की तरह ही है लेकिन उस वर्ष इसकी कुछ खास विशेषताएं थीं। उपन्यास के आरम्भ में ही इस बात का आभास पाठकों को हो जाता है कि कुछ ऐसा जरूर घट चुका है जिससे आनेवाला समय बुरी तरह से प्रभावित होने वाला है। " घबराकर जिस शहर में निकल गए थे वे तीन कि अपराध और अपराधी, घायल और मुर्दे, सबको निकाल लाएँगे। साफ़-साफ़ देख लेंगे और जैसा साफ़ देख लेंगे वैसा ही साफ़ दिखा देंगे। शरद, श्रुति और हनीफ़, जिन्होंने ठान लिया था कि लिखेंगे। कि इस वक़्त चुप नहीं रहा जा सकता। सबकुछ खोलकर रख देना है। कि जो हवा चल रही है, वह हवा नहीं, बवंडर है; जो हमें कहीं उखाड़ न दे।"[17] शरद, श्रुति और हनीफ़ इस उपन्यास के केंद्रीय पात्र हैं और अपनी सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति सचेत भी हैं। इसलिए शहर में होनेवाले दंगों के प्रति सचेत भी हैं और ऐसे समय में जब दूसरे बुद्धिजीवी अपने घरों में दुबके

रहना पसन्द करते हैं ये पात्र दंगों से प्रभावित इलाकों का दौरा करते हैं और दंगों से संबंधित रिपोर्ट को प्रकाशित करते हैं जिसका खामियाजा भी इन्हें भुगतना पड़ता है। सारा शहर मानो उनका दुश्मन बन जाता है।

उस शहर का वर्णन करते हुए कथा की नैरेटर कहती है- " उस बरस हमारे शहर में हिंदुओं ने शांतिप्रियता छोड़ दी थी। अबके ऐलान करके छोड़ी कि एक गाल पर तमाचा पड़ा तो दूसरा बढ़ा दिया, पर अब तीसरा गाल कहाँ से लावें ? हम मजबूर हैं, वे चीखे। मस्जिदों पर सवार होकर त्रिशूल की नोंक पर देवी की पताका फहराने लगे कि जो हमारे संग हुआ है, वही हमें उनके संग करना है। पाप का बदला पाप से चुकेगा। साधू-संतों ने समाधि छोड़ दी और उपासना के एवज में ललकार गूँज उठी कि हमारी संतानें जाती रहीं, हमारी बेटियाँ लुटती रहीं, बेटो, हिजड़े हो क्या ? ए वीर शिवाजी की संतान, भगतसिंह, राणाप्रताप के वंशज, अर्जुन और भीम के पुत्रों, उठ्ठो। उन दुष्टों की बस्तियों को श्मशान बना डालो। बहुत हो गई तुम्हारी भलमनसी। दैत्यों-पिशाचों के जुल्म बढ़े तो देवताओं को भी क्रोध आ गया। उठ्ठो। "[18] तथाकथित 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' फैलानेवालों ने भगवद् गीता की प्रसिद्ध उक्ति 'यदा यदा ही धर्मस्य, ग्लार्निभवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्' का दोहन किया है। गीता की यह प्रसिद्ध उक्ति विधर्मियों के लिए नहीं बल्कि उनके लिए है जो धर्म का नाश करते हैं परंतु इस उक्ति को भी तोड़-मरोड़कर पेश किया जा रहा है। अल्पसंख्यकों को धर्म का नाश करनेवाला कहकर उनके खिलाफ लोगों को भड़काया जा रहा है जो कदापि उचित नहीं है। देश को ऐसे राष्ट्रवाद की आवश्यकता नहीं जो फिर एक विभाजन की ओर ले जाये।

भारतीय मान्यता के अनुसार साधु, संत, संन्यासी का इस चराचर जगत से कोई वास्ता नहीं है लेकिन आज देखा यह जा रहा है कि इन संतों, संन्यासियों ने राजनीति में

हिस्सा लेना आरंभ कर दिया है। पहले 'ब्रह्मम् सत्यम्, जगनिम् मिथ्या' साधु, संन्यासियों का मूल मंत्र था लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि 'जगतम् सत्यम्, ब्रह्मम् मिथ्या' की वास्तविकता को इन्होंने जान लिया है। इसीलिए भौतिक जगत की लालसा अब इन्हें आकर्षित कर रही है। यह आज के समय का वह सत्य है जिसे स्वीकार करना ही होगा। जहाँ हर धर्म में अन्य धर्मों का आदर करने की बातें कही गयी है, वही आज अन्य धर्मों के विरुद्ध जहर उगलने का कार्य ये साधु, संन्यासी कर रहे हैं। भारतीय राजनीति और समाज में आये इस परिवर्तन पर विचार करते हुए आलोचक ज्योतिष जोशी कहते हैं- " गीतांजलि श्री का यह उपन्यास शरद, श्रुति और हनीफ की रिपोर्ट पर आधारित है, इसलिए टुकड़े-टुकड़े में सच का बयान है; पर है वह ठोस ओर व्यवस्थित। मन्दिर का बदमाश महन्थ मरकर कैसा सम्मान पाता है और उसके नाम पर किस तरह की राजनीति होती है-यह देखकर अपने देश में फैली मूढ़ता का सही अन्दाजा हो जाता है। यह शहर भी एक प्रतीक है देश का और देवी मन्दिर साम्प्रदायिकता का।"[19] वर्तमान समय में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर खुलेआम तलवारें और भाले बांटे जा रहे हैं, अल्पसंख्यकों के विरुद्ध भड़काया जा रहा है। वास्तविकता यह है कि भारतवर्ष का बहुसंख्यक समाज अपने अस्तित्व को खतरे में पड़ा देख रहा है। वह ड़रा हुआ है। इसी कारण वह हिंस्र हो उठा है। समाज में टकराव की स्थिति इसी कारण है। जब बहुसंख्यक समाज ही भयभीत होगा तो अल्पसंख्यक समाज कैसे निडर रह सकता है। स्वाभाविक है कि अस्तित्व के प्रश्न पर वह भी भयभीत होगा ही।

उपन्यास में एक शहर का वर्णन है जहां एक विश्वविद्यालय है और उसी की दीवारों के पास बना एक मठ है। यह मठ ही वह केंद्र है जहां से पूरे शहर के सांप्रदायिक दंगों का संचालन किया जा रहा है। लगातार नये-नये चमत्कारों की खबरें यहां से आने लगती हैं और मेला लग जाता है। चमत्कार देखने आनेवालों की तादात दिनोंदिन बढ़ने लगती है। यहीं

से शहर में गड़बड़ियां फैलने लगती हैं। भडकाऊ नारे लगा-लगाकर लोगों के हृदय को छला और बुद्धि को भ्रमित किया जाता है। हमारे समय की यह सबसे बड़ी त्रासदी है कि इन संतों, साधुओं और संन्यासियों की सुनी-सुनायी बातों पर भरोसा किया जाता है लेकिन सामाजिक समरसता के जो प्रमाण मौजूद हैं, इतिहास में और दैन्यदिन जीवन में, उनपर भरोसा नहीं किया जाता है। आंखों देखी बातें जब गलत लगें और सुनी-सुनायी बातें जब सही लगने लगती हैं तो इस बात की कल्पना की जा सकती है कि मगज-धुलाई किस प्रकार हुई है। ये ऐसे धड़ होते हैं जिनके सिर नहीं। इस संबंध में आलोचक शशिकला राय के विचार द्रष्टव्य हैं- " यह उपन्यास मनुष्य से जाति बन जाने तक की अधोगामी यात्रा का वृत्तांत है। समाज के विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग जो अपने को कबीर की भाँति न हिंदू, न मुसलमान के जमीन पर खड़ा मानते थे ऐसे लोग भी जाति के विरुद्ध लड़ते-लड़ते उसी जातिवाद से ग्रस्त हो जाते हैं। शरद और हनीफ मित्र हैं, भाई हैं, कलीग हैं, इंसान हैं पर हिंदू-मुसलमान नहीं हैं।"[20] परन्तु कालान्तर में शरद और हनीफ को भी हिंदू और मुसलमान के रूप में देखा जाने लगता है। यह उपन्यास की त्रासद स्थिति है जो मन में एक गहरी टीस पैदा कर देती है।

उपन्यास में मौजूद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की चर्चा विदेशों तक में है और इसे इस मुकाम तक पहुंचाने का पूरा श्रेय प्रो. नन्दन को जाता है। इस विभाग की सामाजिक प्रतिबद्धता से भी सभी परिचित हैं। प्रो. नन्दन भी शहर में लगातार पांव पसारती सांप्रदायिकता को लेकर चिंतित हैं और ऐसे समय में बुद्धिजीवियों के चुप बैठे रहने पर क्षुब्ध भी होते हैं। उनका मानना है कि ऐसी विकट स्थिति में बुद्धिजीवी ही हैं जो इस समस्या से जूझ सकते हैं, समस्या का समाधान कर सकते हैं- " लानत है, बच्चे पहले छुपम-छुपाई, 'कट', आइस-पाइस, खेलते थे, अब हिंदू, 'कट', मुसलमान, खेलते हैं। वी इंटलैक्चुअल, हैव टू डू समथिंग। कल मेरी, 'कट', पोती, 'कट कट', कह रही थी, " हम जानते हैं आप क्यों

चुप हो गए, आप, 'कट', मुसलमान की बात कर रहे हैं।" छः साल की है। वी इंटलैक्चुअल फ़ील वैरी परेशान। लिखना चाहिए, बोलना चाहिए। आज का अखबार देखा ? हमें बताया जा रहा है कि वहाँ पहले मंदिर था! वाह! 'कट'। सो व्हॉट ? उसके पहले बौद्ध विहार था, जिसके पहले और कुछ था। कभी कबाइलों का 'कट' स्थल था। सो व्हॉट ? वी इंटलैक्चुअल आर गिल्टी फॉर रिमेनिंग क्वायट..."[21] प्रो. नन्दन की इन बातों को सुनकर यह लगता है कि अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के लिए वे कितने सजग हैं और कुछ करने की चाहत रखते हैं लेकिन जैसे ही विश्वविद्यालय में 'रोटेशन' की प्रक्रिया आरंभ होती है और प्रो. नन्दन को अपने हाथों से 'हेड' की कुर्सी निकलती नजर आती है वैसे ही उनका वास्तविक चेहरा उभरकर सामने आ जाता है। दरअसल प्रो. नन्दन जैसे छद्म बुद्धिजीवी ही हर समस्या के विकराल होने के लिए जिम्मेदार हैं।

वास्तव में आज बुद्धिजीवियों ने छद्म बुद्धिजीविता का जामा पहन रखा है। समाज की समस्याओं से उनका कोई वास्ता नहीं है। जब कभी मौका हाथ लगता है फर्राटेदार भाषण देना उनके लिए बांयें हाथ का खेल है। मगर जब कर्तव्य की बात आती है तो सबसे पहले हाथ खड़े करके, दुम दबाकर ऐसे ही बुद्धिजीवी भाग खड़े होते हैं। अपने अधिकारों के प्रति यह वर्ग सबसे ज्यादा सचेत है लेकिन अपने कर्त्तव्यों के प्रति उतना ही उदासीन भी। जो प्रो. नन्दन बुद्धिजीवियों की अकर्मण्यता को लेकर इतने चिंतित हैं, लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए सजग हैं वही प्रो. नन्दन विभागाध्यक्ष की कुर्सी को बचाने के लिए हनीफ़ के विरुद्ध विभाग में अपने साथियों के साथ मिलकर कुचक्र रचते हैं। हनीफ़, शरद और श्रुति उपन्यास में ऐसे पात्र हैं जिनमें मानवीयता कूट-कूटकर भरी हुई है। हनीफ़ और शरद मित्र है और विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में कार्यरत हैं। प्रो. नन्दन हनीफ़ की उपलब्धियों से जलते हैं और तरह-तरह के व्यवधान खड़े करने का प्रयास करते हैं।

शहर का वातावरण सांप्रदायिकता की चपेट में इस कदर आ चुका है कि बहुत दिनों तक कुछ न घटने पर भी लोग सशंकित हो उठते हैं कि कहीं कोई बड़ी घटना तो नहीं घटने वाली। लेखिका ने शहर के लोगों की मानसिक स्थिति का सजीव वर्णन किया है, जो छोटी-मोटी वारदातों के समय-समय पर न होते रहने पर घबरा उठते हैं। भीतर ही भीतर एक चिंगारी के जलने का भय बना रहता है जो कभी भी दावानल का रूप ले सकती है।

हनीफ़ इतिहास का प्राध्यापक है। वह इतिहास के ही कुछ अनछुए पहलुओं को सुलझाने के लिए छात्रों को पुस्तकों की ओर दौड़ न लगाते हुए समाज की ओर दौड़ लगाने का परामर्श देते हैं। हनीफ़ बड़े-बड़े बादशाहों की बातें छोड़कर लोकल रिकार्ड, मिसालें देखने को कहता है जिनसे सामाजिक सद्भावना के प्रमाण मिलेंगे। संगीत, साहित्य, आर्किटेक्चर, फ़लसफ़ा, नाच, खान-पान, पहनावा हर जगह मिली-जुली संस्कृति के उदाहरण भरे पड़े हैं। पूरे शहर में अल्पसंख्यकों के खिलाफ जहर घोला जा रहा है। कैसेट में उनके विरुद्ध बातें रिकार्ड करके पूरे शहर में बांट दी जाती है। मिथ्या तथ्यों के माध्यम से लोगों को दिग्भ्रमित करने का प्रयास किया जाता है। लोगों को बांटने का प्रयास किया जाता रहा है। जो मुर्दे वर्षों पहले गाड़े जा चुके हैं उन्हें फिर से उखाड़कर वैमनस्य का बीज बोया जाता रहा है। परवर्ती शोधों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि पाकिस्तान के निर्माण में जितना मुसलमानों का हाथ था उतना ही हिंदुओं का भी। कारण हिंदुओं और मुसलमान, दोनों ने ही परस्पर सद्भाव एवं विश्वास समाप्त कर दिया था। साथ ही पाकिस्तान और हिंदुस्तान का बंटवारा सियासतदारों की महात्वाकांक्षा का परिणाम था। इसलिए सभी मुसलमानों को पाकिस्तान बनने के लिए जिम्मेदार नहीं ठहाराया जा सकता। आज कई मुसलमान नौजवान हैं जो सीमा पर भारत की रक्षा के लिए तैनात हैं। क्या उनकी देशभक्ति पर भी सवालिया निशान लगाया जायेगा ? और

उन हिंदुओं की देशभक्ति पर प्रश्न चिन्ह कौन लगायेगा जो देशविरोधी ताकतों का साथ देते हैं ? स्पष्ट है कि धर्म किसी की देशभक्ति या राष्ट्रभक्ति का आधार कदापि नहीं हो सकता।

कहने को मठ एक धार्मिक स्थल है वहां शांति की खोज की जाती है, परमब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है लेकिन वहां हथियार चलाने की बाकायदा ट्रेनिंग दी जाती है। आलोच्य उपन्यास में कई ऐसे तथ्यों को उठाने का प्रयास किया जाता है जिनसे समाज अनभिज्ञ सा है। इतिहास यह कहता है कि मुसलमानों का आगमन उत्तर से हुआ था और आक्रमणकारी के रूप में वे भारत आये थे लेकिन वास्तविकता यह है कि मुसलमानों का आगमन सबसे पहले दक्षिण में हुआ था जो व्यापार करने के उद्देश्य से भारत आये थे। राष्ट्रकूट एवं चालुक्य राजाओं ने उन्हें आश्रय दिया था। मिली-जुली शादियां भी हुई थीं। 'बयासरा' नामक कौम बनी थी। जैसा कि इससे पूर्व के अध्यायों में भी कहा गया है कि औपनिवेशिक काल में जो इतिहास अंग्रेज हुक्मरानों ने लिखा वह कहीं न कहीं पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है, मिथ्या तथ्यों पर आधारित इतिहास को गढ़कर औपनिवेशिक शासकों ने अपने स्वार्थ साधने की कोशिश की और हिन्दुस्तानियों की बेवकूफी की वजह से उन्हें अपने अभीष्ट में सफलता भी मिली। आज भी जो इतिहास पढ़ाया जा रहा है वह कहीं न कहीं उसी औपनिवेशिक दौर में रचा गया इतिहास ही है। नये तथ्यों को अध्ययन में शामिल ही नहीं किया जाता जबकि शिक्षा के माध्यम से भी सांप्रदायिक विचारों का प्रसार होता है और बचपन में ही सांप्रदायिक विचार बो दिये जाते हैं। जब देश के भविष्य को ही दीमक लग जाय तो आनेवाला समय कितना भयावह होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसा एक प्रसंग उपन्यास में तब देखने को मिलता है जब शरद अपने स्कूल के दिनों को याद करता है जहां किसी कार्यक्रम में प्रेमचंद की 'ईदगाह' कहानी का मंचन किया जाता है। शरद भी इसमें अभिनय करता है। कहानी के मुताबिक बच्चों की टोली को 'अल्लाह-हो-अकबर'

चिल्लाते हुए मंच पर आना है लेकिन न जाने क्यों एक भी बच्चा 'अल्लाह-हो-अकबर' कहने को तैयार नहीं होता। सवाल यह खड़ा होता है कि आखिर क्यों ? क्या यह किसी चीज का भय है या फिर नफरत ? अगर भय है तो किसका और अगर नफरत है तो किससे ? इन सारे सवालों से बड़ा एक और सवाल यहां खड़ा होता है कि आखिर इनके कोमल मन में यह भय या नफरत किसने डाली और क्यों ? इसका सीधा उत्तर यही है कि आज तक भारतवासियों ने पुरानी बातों को भुलाया नहीं बल्कि गांठ बांधकर रखा हुआ है। आलोचक शशिकला राय का कहना सटीक प्रतीत होता है। वे कहती हैं- " बीते हुए दिन की पीड़ा को उपन्यास ताजा नहीं करता क्योंकि वह बासी ही कब हुआ। लेकिन उस पीड़ा को सहलाता है। अपनी भूमिका तलाशता है। अपनी असहायता को प्रश्न चिह्नित करता है साथ ही समाज के चुने हुए बुद्धिजीवियों के द्वारा तैयार किए जाने वाले प्रोडक्ट से समाज ओर देश के लिए व्यावहारिक सक्रियता की माँग करता है। उपन्यास के शब्द पन्नों से निकलकर आप में समाते हैं, आपको भिगोते हैं, आपको उछालते हैं, आपको रिक्त करके नए सिरे से भरते हैं। अपनी नई संवेदना, नए सौंदर्य के साथ जीवन दृष्टि को समृद्ध करते हैं।"[22] वास्तव में उपन्यास सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए पाठकों को बाध्य करता है।

सांप्रदायिक तनाव के बढ़ने में अफवाहें भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। तरह-तरह की अफवाहें फैला दी जाती हैं जिससे वैमनस्य और गहाराता जाये। ऐसी ही एक खबर पूरे शहर में फैला दी गई है कि पानी में कुछ मिला दिया गया है जिसके कारण 'पीलिया' नामक बीमारी का संक्रमण फैल रहा है। हिंदू इसका दोष मुसलमानों पर मढ़ता है और मुसलमान इसका दोष हिंदुओं पर ड़ालता है। दरअसल सांप्रदायिक दंगों या तनाव के क्षणों में किसी पर विश्वास कर पाना आसान नहीं होता। जब हालात सामान्य होते हैं तो परस्पर विश्वास भी होता है लेकिन ज्यों ही असामान्य स्थिति उभर आती है त्यों ही संदेह की

स्थितियां उभर आती हैं जबकि ऐसी परिस्थितियों में परस्पर विश्वास और भी अधिक होना चाहिए ताकि ऐसी स्थितियां ही उत्पन्न न हो सकें और जो शक्तियां समाज में विभाजन खड़ा करना चाहती हैं उनके नापाक इरादे भी नाकाम हो जायें।

उपन्यास में शरद और कापड़िया ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सांप्रदायिक तनाव के क्षणों में द्वंद्व की स्थिति में होते हैं। इसके पीछे भी मध्यवर्गीय मानसिकता ही प्रमुख रूप से जिम्मेवार है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग की स्थिति त्रिशंकु के जैसी है। वह वैचारिक रूप से आधुनिक है लेकिन संस्कार के रूप में जो कुछ उसके भीतर पल रहा है वह कहीं न कहीं मध्ययुगीन ही है। यही कारण भी है कि सांप्रदायिक समस्या का समाधान आज तक नहीं हो पाया है। कापडिया शहर में दंगों से बहुत परेशान है- "सारे गुंडों को कुछ दिन बंद रखूँगा...हिंदू गुंडों को भी...तभी बात सँभलेगी। कड़ाई की ज़रूरत है, मगर कड़ाई से ही हम डरते हैं...बिहार में उस कलेक्टर को पत्थर से मार ही दिया-स्टोंड टू डेथ। बड़े-बड़े लोग हैं गुंडे, मगर मैं नहीं डरनेवाला...मार दो सालों...मार के मरूँगा। हो जाऊँगा शहीद... मुसलमानों से कोई मरता नहीं है, शहीद होता है। आपने ग़ौर किया है... सालों की शब्दावली ही अजीब है...आजकल हिंदू भी मरते नहीं, उनका बलिदान होता है ! सुना दद्दू ? हिंदू धर्म का इस्लामाइज़ेशन !...मठ के महंतों ने अनशन कर दिया है। ... वैसे जिस तरह से बच्चे मरे हैं...लोग भड़क गए हैं। यह एडवांस्ड टैक्नालॉजी की रणनीति, इसके ख़िलाफ़ रीएक्शन..."[23] यहां स्पष्ट हैं कि कापडिया के विचारों में ही कितना द्वंद्व है। एक ओर वह हिंदुत्ववादी ताकतों द्वारा फैलाये जा रहे आतंक का विरोधी है तो दूसरी तरफ उसका यह मानना कि मुसलमानों के हाथों कोई मरता नहीं बल्कि शहीद होता है, साफ-साफ यह इंगित करता है कि उसके भीतर भी वे ही मध्ययुगीन विचार हैं जहां हिदुत्व की श्रेष्ठता मानी गयी है।

शरद की स्थिति भी कमोबेश ऐसी ही है। हनीफ़ के व्यवहार में आये परिवर्तन को वह समझ नहीं पाता है। वह उहापोह की स्थिति में है और बेवरली के साथ उसकी बातचीत द्वारा इसे आसानी से समझा जा सकता है। कालान्तर में परिस्थितियां कुछ ऐसी हो जाती हैं जहां शरद, डॉ. नंदन के ज्यादा करीब होता जान पड़ता है। इसका मतलब यह कदापि नहीं कि हनीफ़ के साथ उसकी मित्रता में कोई खोट है। शरद के इस मानसिक द्वंद्व पर विचार करते हुए आलोचक कृष्ण मोहन कहते हैं- " संवेदनशील साम्प्रदायिक माहौल में यह 'जनवादी' सत्ता-विमर्श किस तरह बहुसंख्यक की साम्प्रदायिकता को क़दम-ब-क़दम पुष्ट करने की तरफ बढ़ता है और वास्तविक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्तियों को अलगाव में डालता चला जाता है, यह इस उपन्यास की चिंता का एक अहम विषय है। ख़ास बात यह है कि इस प्रक्रिया में प्रतिष्ठान (एस्टैब्लिशमेंट) और यथास्थिति के प्रतिनिधि नंदन का वस्तुगत रूप से सबसे निकट सहयोगी शरद साबित होता है, जिसके मानवीय सरोकारों और हनीफ़ से दोस्ती पर कोई दो राय नहीं हो सकती। संक्रमण के ऐसे नाजुक दौर में ईमानदारी और सदिच्छा कितने नाकाफ़ी हो सकते हैं, इसे शरद के हश्र से समझा जा सकता है।"[24] यह सच है कि ऐसे समय में हर ईमानदारी और सदिच्छा संदेह के घेरे में आ जाती है।

उपन्यास में श्रुति का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। श्रुति का जीवन मिश्रित संस्कृति का उपजीव्य है। श्रुति के पिता पंजाबी थे तो उसकी मां बनारसी। स्वयं श्रुति ने विवाह एक मुसलमान के साथ किया। यह साफ है कि श्रुति का जीवन अलग-अलग संस्कृतियों में गुजरा है। शायद इस कारण ही उसमें मानवीयता के गुण ज्यादा देखने को मिलते हैं। वह हर सांप्रदायिक विचार का खुलकर विरोध करती है। पेशे से वह लेखक है, कहानियां लिखती है। वह सांप्रदायिक मुद्दे पर भी लिखना चाहती है लेकिन चाहकर भी वह केवल प्रेम

कहानी ही लिख पाती है। इससे यह साफ पता चलता है कि अभिव्यक्ति कर पाना भी आज के दौर में कितना कठिन कार्य है।

उपन्यास में एक और पात्र है दद्दू जो शरद के पिता हैं, गजब के हंसोड़, गांव में पले-बढ़े। विषम से विषम परिस्थिति में उनका 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' कमाल का है। चुंकि दद्दू ग्रामीण संस्कृति में पले-बढ़े हैं अतएव उन्हें शहरी जीवन उतना रास नहीं आता। उन्हें शहर की हर बात में छल-छद्म नजर आता है। श्रुति के साथ अक्सर इस बात पर बहस हो जाती कि शहर ज्यादा सभ्य है या फिर गांव। यह सत्य भी है। पूरे उपन्यास में दद्दू कहीं भी हनीफ़ या श्रुति के साथ भेदभाव नहीं करते। जहां शरद के बर्ताव में जबरदस्त परिवर्तन देखने को मिलते हैं वहीं दद्दू हमेशा हनीफ़ के साथ ही खड़े नजर आते हैं। उनमें छद्मजीविता का लेश मात्र भी नहीं है। हनीफ़ पर जानलेवा हमला करने आये जनसंघी युवाओं के झुंड के सम्मुख भी वे खड़े हो जाते हैं। आज भी शहर की अपेक्षा गांवों में सौहार्द ज्यादा है क्योंकि ग्रामों में सामूहिकता को ज्यादा महत्व दिया जाता है जबकि शहरों में एकल जीवन के कारण सबसे पहला आघात सामूहिकता पर ही पड़ता है। शहर में छद्मजीविता अधिक है जबकि गांवों में दु:ख-दर्द के समय साथ खड़ा होना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। श्रुति के मुसलमानों एवं धर्म संबंधी सवालों का जवाब देते हुए दद्दू कहते हैं-

> " हमारे घर के आगे ताजिया रुकता और जब तक हमारे दादा नहीं निकलते, वहीं रुका रहता। जुलूस बढ़ता, जब दादा आगे-आगे चलते। "
>
> "धर्म" दद्दू ने धर्म कहकर चाबुक मारा है और दद्दू बन गए हैं, दोबारा, आज के। " हल्लेबाजी है ही नहीं। जो हम हैं हमारी नसों में घुला है, पक्के हिंदू, मुसलमान, पर अजीब तरह से उसे भूले हुए, न कि उसका नगाड़ा पीटते हुए। धर्म," दद्दू फिर चाबुक मारते हैं, " अपने रीति-रिवाजों

से लोगों को जुड़ने का सुदंर सलीका देता है, एक गुझिया बनाता है तो दूसरा सेवँइयाँ, दादा ताज़िया उठाते हैं तो मामू रामलीला में राम को प्रणाम करते हैं। कट्टरता धर्म का हिस्सा नहीं है, प्रभुत्व का है।"[25]

उपरोक्त उद्धरण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि दद्दू जिस परिवेश में रहे, वहां सांप्रदायिकता जैसी किसी चीज के लिए स्थान न था। इसी परिवेश से दद्दू में मानवीयता के गुण भी आते हैं।

उपन्यास में कई स्थलों में भारतीय समाज के कई गंभीर प्रश्नों को उठाने का प्रयास किया गया है। जैसे, गौ मांस का मुद्दा लिया जा सकता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद चलानेवालों का यह तर्क है कि गौ हत्या के द्वारा मुसलमान हिंदुओं की धार्मिक भावना पर आघात करते हैं। क्योंकि हिंदू धर्म में गाय का धार्मिक महत्व है इसलिए मुसलमानों को हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं की कद्र करते हुए गौ हत्या एवं गौ मांस भक्षण नहीं करना चाहिए। दरअसल भारतीय समाज में जो लोग शुद्धतावाद चलाना चाहते हैं उन्हें इस बात का इल्म ही नहीं कि संस्कृति कभी भी पूर्णरूपेण शुद्ध रह ही नहीं सकती। भारतीय समाज में एक ही धर्म के भीतर मौजूद वैविध्य को भी आलोच्य उपन्यास में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिक स्थितियों के लिए जिम्मेवार चेहरों को आलोच्य उपन्यास बेहतरीन ढंग से बेनकाब करता है और आगामी भविष्य के लिए अपनी चिंता भी जाहिर करता है। आलोचक शशिकला राय कहती हैं- " जब धीरे-धीरे आजादी...स्वर्ण जयंती की ओर सरक रही थी...तब भारत भर में नर-पिशाचों का घोर अघोरी धर्म विध्वंसी तांडव हो रहा था। मस्जिद गिरिजाघर के साथ-साथ मंदिरों की भी नीवें हिली। लेखिका की वेदना है कि चाहे कुछ भी कह लें हम, नींव तो राष्ट्र की ही हिलीं। जिस तरह मुल्क में ईंटें टूटीं उसमें सच तो यह है नींव तो मुल्क की हिली। एक बार जो नींव हिल गई तो उसी मजबूती को लेकर ना

तो हम निश्शंक रह सकते हैं ना ही आश्वस्त।सदा दहशत का साया डैने पसारे हमारे ऊपर मँडराता है।हमारे मुल्क में धर्म लाउड स्पीकरों में बँटता है अब।शरद हनीफ भी नाम होकर मुहिम बन गए।वे जो धर्म के पाखंडो का विद्रोह करते थे वे एक-दूसरे के साथ सहज नहीं रह पाते।सांप्रदायिकता का तूफान गुजर चुका है।तूफान का खौफ बाकी है उस साल की बदहवास सरगोशियाँ बीत रहे सालों के साथ लिपटी हैं।"[26]

लेखिका के सांप्रदायिकता संबंधी विचारों को कमजोर मानते हुए आलोच्य उपन्यास पर अपने विचार रखते हुए आलोचक गोपाल राय का मानना हैं- " उपन्यास का 'मठ' हिन्दू साम्प्रदायिकता का प्रतीक है।यह साम्प्रदायिकता फासीवादी, रहस्यपूर्ण और आतंक से भरी दुनिया का सृजन करती है।उपन्यास का नाभिकेंद्र साम्प्रदायिक तनाव की असामान्य स्थिति में एक मुस्लिम पात्र के अकेला होने और अलग-थलग पड़ते जाने की मानसिकता से निहित है।इस तनाव की आड़ में विश्वविद्यालय की राजनीति भी सक्रिय है। साम्प्रदायिकता के शिकार एक उदार बुद्धिजीवी का चित्रण बहुत प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है।पर गीतांजलि श्री का साम्प्रदायिकता सम्बन्धी विजन बहुत धुँधला और एकांगी है।इसी कारण वे उपन्यास में किसी जीवन्त कथा संसार की रचना नहीं कर पायी है।अपनी इस असमर्थता को छिपाने के लिए उन्होंने उत्तर-आधुनिकतावाद की शरण ली है और स्थितियों या प्रसंगों को टपके हुए असम्बद्ध लघु कथनों के रूप में प्रस्तुत किया है।"[27] गीतांजलि श्री का साम्प्रदायिकता संबंधी विजन धुँधला और एकांगी क्यों है इस पर गोपाल राय कुछ भी नहीं कहते हैं जबकि उपन्यास में साम्प्रदायिकता संदर्भित कई अनछुए पहलुओं को लेखिका ने उठाया है।हिंदू और मुसलमान के बीच के द्वंद्वों को अगर सांप्रदायिक वैमनस्य कहा जाय तो हिंदू और हिंदू के बीच प्राचीन काल में जो युद्ध हुए हैं जिनके मूल में भी धर्म ही था, उन्हें भी सांप्रदायिकता के साथ जोड़कर क्यों न देखा जाय ? हिंदू आखिर है कौन ?

इसकी परिभाषा क्या है ? आज इस्लाम से लड़ने के लिए अलग-अलग पंथ के मतावलम्बी एक ही ध्वजा 'हिंदू' के तहत आ गये हैं जबकि प्राचीन काल में इन्ही पंथों के बीच मतान्तर था। ऐसे ही और भी कई सवाल हैं जो इस उपन्यास में लेखिका ने उठाये हैं और जो सोचने के लिए बाध्य करते हैं। आलोच्य उपन्यास के संबंध में रामचन्द्र तिवारी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे कहते हैं- " पूरा उपन्यास इस दिशा में संकेत करता हुआ प्रतीत होता है कि आज साम्प्रदायिक उन्माद के सामने मनुष्यता की आवाज एक चीख बन गई है। मनुष्यता पर बार-बार हमले हो रहे हैं। सारा आकाश दमघोंटू हो जाता है। न कहीं जनतंत्र है, न मानवीय मूल्य। अनुगूँजों, सूचनाओं, एलानों, बहसों, संवादों, नारों और प्रतीकों के सम्मिलित उपयोग से कथासूत्रों की सघन संरचना करता हुआ यह उपन्यास नैरेशन की सामान्य धारा से अपने को अलग करता है। "[28] आलोचक गोपाल राय जिस लेखन पद्धति को उपन्यास की कमजोरी मानते हैं दरअसल वही उपन्यास का सबसे मजबूत पक्ष है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि उपन्यास की घटनाएं पाठक उपन्यास के ही पात्र 'मैं' के माध्यम से देखता है न कि कथाकार के माध्यम से। किसी एक चरित्र का हर जगह उपस्थित हो पाना संभव नहीं इसलिए वह जितना देख पाता है उतना ही पाठक भी देख पाता है। उपन्यास का 'मैं' पात्र महाभारत का संजय नहीं जिसके पास दिव्य दृष्टि है और जो दूर बैठकर समस्त घटनाओं का ब्योरा दे सके। उपन्यास में घटित घटनाओं को घटनाओं की कतरन कहा जा सकता है जिसमें उतनी ही बातें दी गई हैं जितनी कथा के पात्र 'मैं' के सामने घटती हैं।

कुल मिलाकर यदि कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि गीतांजलि श्री का यह उपन्यास सांप्रदायिकता संबंधी उपन्यासों में अपना अलग स्थान रखता है क्योंकि यह उपन्यास कई स्थलों पर भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं को उठाता है। कई अनछुए पहलुओं पर भी यह उपन्यास सोचने के लिए पाठकों को बाध्य करता है। बुद्धिजीवी वर्ग के

छल-छद्म को यह उपन्यास बखूबी उघाड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गीतांजलि श्री अपने अभीष्ट में पूर्ण रूप से सफल हुई हैं।

## 5. 3. मैं बोरिशाइल्ला

समकालीन हिंदी युवा उपन्यासकारों में महुआ माजी विशिष्ट स्थान रखती हैं। सन् **2006** में इनका प्रथम उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** और **2012** में **'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'** प्रकाशित हुआ। किस्सागोई का अनोखा तरीका और लेखनी का सिद्धहस्त प्रयोग देखकर ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि **'मैं बोरिशाइल्ला'** इनका प्रथम उपन्यास है। बड़े-बड़े कथाकारों को ऐसी महारत लंबी साधना के पश्चात मिल पाती है। आलोच्य उपन्यास भारत-पाकिस्तान विभाजन के दौर से आरंभ होते हुए, बांग्लादेश राष्ट्र के गठन से लेकर बाबरी मस्जिद ध्वंस तक की यात्रा करता है। उपन्यास में ये तीन ऐसे पड़ाव हैं जिनका सीधा संबंध सांप्रदायिकता के साथ रहा है। बोरिशाइल्ला का तात्पर्य बांग्लादेश के बोरिशाल गांव के रहनेवाले से है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र केष्टो इसी बोरिशाल ग्राम का वासी है। पूरा उपन्यास 'मैं' शैली में लिखा गया है। उपन्यास में घटी घटनाओं का केष्टो द्रष्टा भी है और भोक्ता भी। बचपन से ही अपनी मिट्टी के साथ उसका लगाव जुड़ा हुआ है। उपन्यास का आरंभ सन् **1947** के आस-पास होता है। यह वह समय था जब मुस्लिम लीग अलग पाकिस्तान की मांग पर अड़ी हुई थी। कुछ लोग मुस्लिम लीग की इस मांग का अंध समर्थन कर रहे थे तो कुछ लोगों के लिए यह समझ पाना कठिन था कि आखिर जिस पाकिस्तान की मांग मुसलमानों के राष्ट्र के रूप में हो रही है, उसका प्रारूप क्या होगा ? लोग यह समझ नहीं पा रहे थे कि क्या पाकिस्तान बन जाने पर सभी मुसलमानों को भारत से पाकिस्तान जाना पड़ेगा और सभी हिन्दुओं को पाकिस्तान से हिन्दुस्तान जाना पड़ेगा ? या फिर क्या होगा ? अविभाजित हिन्दुस्तान का कौन सा इलाका पाकिस्तान में होगा और कौन सा इलाका भारत में ? लोगों के

लिए यह भी चिंता का विषय था और ऐसे ही कई सवाल सीमा के इस पार और उस पार बसने वाले लोगों के मन में उमड़-घुमड़ रहे थे। इस बीच लोग तरह-तरह के नारे, मसलन 'हाथ में बीड़ी, मुँह में पान, लड़कर लेंगे पाकिस्तान।', लगाकर पाकिस्तान की मांग करने लगे। यह वह दौर था जब धर्म के नाम पर लोगों को छला जा रहा था और धर्म सिर चढ़कर बोल रहा था।

कुछ लोग इस मांग को ही अतार्किक कहकर जिन्ना को इस सब के लिए दोषी मान रहे थे। उपन्यास का पात्र नजबुल चोउधुरी कहता है- "जिन्ना साहब को मतिभ्रम हुआ है। हम मुसलमान लोग हिन्दुस्तान में किसी एक जगह पर रहते हैं क्या, जो वे हमारे लिए अलग राष्ट्र की माँग कर रहे हैं ? लगता है अब वे स्वयं हाथ में झाड़ू लेकर देश के विभिन्न प्रान्तों में बिखरे मुसलमानों को उनके घर, जमीन, नौकरी, व्यवसाय के साथ बुहारकर एक जगह जमा करेंगे-नए राष्ट्र में रखने के लिए।"[29] नजबुल चोउधुरी की यह बात उचित प्रतीत होती है क्योंकि अविभाजित हिन्दुस्तान के कोने-कोने में मुसलमान बिखरे पड़े थे, क्या उन्हें एक साथ, एक राष्ट्र में ला पाना संभव था और यदि नहीं तो फिर मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र की मांग कहां तक उचित थी, यह सोचना भी आवश्यक है।

विभाजन का ठीकरा केवल ब्रिटिश हुकूमत पर भी नहीं फोड़ा जा सकता। जिन्ना की महात्वाकांक्षा ने ही मुख्य रूप से विभाजन की नींव रखी। इसमें हिन्दू महासभा ने आग में घी का काम किया जो किसी भी कीमत पर बंगाल का विभाजन चाहती थी ताकि हिन्दू बहुल इलाकों में वे अपना अधिकार जमा सकें। विभाजन अवश्यंभावी था। विभाजन हुआ भी लेकिन विभाजन के बाद कोई बड़ा फर्क केष्टो महसूस नहीं कर पाता। वह कहता है- "...हम रातोंरात हिन्दुस्तानी से पाकिस्तानी बन गए। पाकिस्तानी बनते ही सबसे पहले मैंने अपने आपको टटोलकर देखा। कहीं से कोई बदलाव नहीं। जैसा पहले था बिल्कुल वैसा

ही रहा। वही रंग, वही कद, वही नैन-नक्श। सिर्फ़ मैं ही नहीं, मेरे आसपास के लोग, उनका घर, सड़कें, दुकानें, पेड़-पौधे सब कुछ तो पहले जैसे ही दीख रहे थे ! मगर हाँ ! चारो ओर पटाखे फूटने लगे थे। रंग-बिरंगी रोशनी में शहर जगमगाने लगा था। गगनभेदी नारों से आसमान फटा जा रहा था, " कायदे आज़म जिन्ना-ज़िन्दाबाद ! पाकिस्तान-ज़िन्दाबाद ! मुस्लिम लीग-ज़िन्दाबाद !"[30] चारों ओर खुशी का माहौल था पर इसी समाज का एक विशाल तबका ऐसा भी था जो न तो इस खुशी में शामिल हो पा रहा था और न ही मातम मना रहा था। तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान में रहनेवाले हजारों हिंदुओं की स्थिति निम्नलिखित पंक्तियों में देखी जा सकती हैं- " हिन्दुओं की स्थिति अजीब थी। एक तरफ़ देश आज़ाद होने की खुशी थी तो दूसरी ओर देश विभाजन का दुख ! वे खुशी मनाएँ या ग़म समझ नहीं पा रहे थे। जिस हिन्दुस्तान को अंग्रेजों से स्वाधीन कराने के लिए वर्षो से हमारे यहाँ के हिन्दुओं ने कुर्बानी दी, जेल गए, उनसे कहा जा रहा था कि यह देश अब उनका नहीं है। कितने ही हिन्दुओं ने उस रात घर में दीया नहीं जलाया, चूल्हा नहीं सुलगाया, शंख नहीं बजाया।"[31]

धीमे-धीमे पाकिस्तान में यह आवाज भी उठने लगी कि जब हिन्दुस्तान भारत और पाकिस्तान के रूप में बंट ही चुका है तो फिर हिन्दू पाकिस्तान में क्या कर रहे हैं ? वे अपने मुल्क भारत में क्यों नहीं चले जाते ? पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दुओं को 'मालाउन' कहा जाता था। वह देश जिसकी आज़ादी के लिए धर्म, जाति आदि के भेद से अलग हटकर लोगों ने लड़ाई लड़ी, खून बहाया, उसी देश के लिए वे बेगाने बन गये। विभाजन के बाद भीषण दंगे भी भड़के। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में निर्दोष लोगों का कत्ल किया गया। यह कार्य भी धर्म की ओट लेकर ही किया गया था। केष्टो की बहन का मासूमियत से भरा सवाल बड़े-बड़े तर्कशास्त्रियों को भी बगले झांकने के लिए मजबूर कर देगा। वह अपनी मां से पूछती है- " वे मोसला लोग हिन्दुओं को काटने से पहले अपने अल्लाह को क्यों बुला रहे हैं माँ ? इनके

अल्लाह क्या कत्ल देखकर बहुत खुश होंगे ? इन्हें वरदान देंगे ? स्वर्ग में भेजेंगे ? बोलो न माँ ! ये भगवान को खुश करने के लिए इतने लोगों को काट रहे हैं क्या ?"[32] यह सवाल इंसानियत से पूछा गया सवाल है जिसे भुलाकर लोग हैवान बन उठे हैं। क्या कोई ईश्वर या खुदा मासूम लोगों का रक्त देखकर खुश हो सकता है ? क्या किसी धर्म ग्रंथ में मासूम, मज़लूम की हत्या करने की बात कही गयी है ? बिल्कुल नहीं। दरअसल इसके पीछे मनुष्य की अधिकाधिक धन और संपत्ति अर्जित करने की चाह है। इन दंगों में देखा भी गया है कि दंगाइयों का मुख्य लक्ष्य घर के सामान, धन और संपत्ति पर है। मार-काट मचाकर वे सारी चीजें लूटने के फिराक में रहते हैं। प्रशासन भी इसमें दंगाइयों का ही साथ देता है।

एक साजिश के तहत सभी हिन्दुओं को मौत के घाट उतारा जा रहा था जिसमें प्रशासन भी उन दंगाइयों की सहायता कर रहा था। एक दंगाई द्वारा पंड़ित मॉशाइ की पत्नी द्वारा पूछे जाने पर कि उसने उन लोगों का क्या बिगाड़ा है ? दंगाई का उत्तर स्पष्ट है, " तुमने नहीं बिगाड़ा है, तुम्हारे धर्म ने बिगाड़ा है।"[33] हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान में कुछ इस कदर भयभीत थे कि उन्हें वेश बदलकर मुसलमानों की तरह रहना पड़ता था ताकि कोई अचानक उनपर हमला न कर बैठे। स्कूलों में भी सरस्वती पूजा करने नहीं दी जाती। अयूब खान की बढ़ी हुई महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप पाकिस्तान भारत पर हमला कर देता है जिसमें उसे मुंह की खानी पड़ती है। इसका भी खामियाजा पाकिस्तान में रहनेवाले हिन्दुओं को उठाना पड़ता है। इसी महत्वकांक्षा का एक और परिणाम यह निकला कि अयूब खान ने पूर्वी पाकिस्तान में रवीन्द्र संगीत और नजरूल गीति पर रोक लगा दी। उसका तर्क यह दिया गया कि रवीन्द्र संगीत और नजरूल गीति पाकिस्तान के प्रति विद्वेष पैदा करते हैं। जिस देश के लोगों की धमनियों में रवीन्द्र संगीत और नजरूल गीति रक्त की तरह बहती है, क्या वहां से रवीन्द्र और नजरूल को मिटा पाना संभव है।

पूर्वी पाकिस्तान के प्रति पश्चिम पाकिस्तान का रवैया पहले से ही विद्वेषपूर्ण था। विश्व समुदाय से पूर्वी पाकिस्तान के नाम पर धन जुटाकर उसका एक बड़ा हिस्सा पश्चिमी पाकिस्तान में खर्च किया जाता था। पूर्वी पाकिस्तान के प्रति यह बैर किस कारण से था, यह समझ पाना किसी के लिए आसान न था। आखिर दोनों ही ओर के लोग इस्लाम के नुमाइंदे थे। भारत से मजहब के नाम पर अलग होने का तर्क भी यही था कि आज़ाद भारत में मुसलमानों के साथ इंसाफ नहीं होगा। फिर अलग हुए पाकिस्तान के एक टुकड़े के साथ ऐसा व्यवहार किसालिए। यह साफ हो जाता है कि विभाजन के पीछे की तस्वीर संसाधनों पर हक जमाने की थी। धर्म तो बस एक हथियार था जिसके माध्यम से अपने अभीष्ट की पूर्ति की गई। केष्टो कहता है- " क्या करोगे ? साम्राज्यवादी देश जिस तरह से अपने उपनिवेश का शोषण करते हैं न, ठीक उसी प्रकार से पाकिस्तान का पश्चिमी खंड, पूर्वी खंड का शोषण करते रहना चाहता है। समझो, पश्चिमी पाकिस्तान ने हमारी धरती को अपना उपनिवेश ही बना रखा है।"[34] केष्टो के उपरोक्त विचार बिल्कुल ठीक लगते हैं वरना ऐसे सौतेले व्यवहार का दूसरा कारण और क्या हो सकता है ?

इसके पश्चात पूर्वी पाकिस्तान में यातनाओं, पीड़ाओं और दमन का अंतहीन दौर चल पड़ता है। पश्चिमी पाकिस्तान से आये सैनिक पूर्वी पाकिस्तान के लोगों का कत्लेआम करने लगते हैं। इधर बंगबंधु शेख मुजीबुर्रहमान के आह्वान पर लाखों लोग पूर्वी पाकिस्तान की आज़ादी के लिए निकल पड़ते हैं। किसी ने भी सोचा न था कि दमन का चक्र इतना भीषण होगा। शान्ति कमेटी, रजाकारा जैसे दल बनाकर मुखबिरों के माध्यम से मुक्तिवाहिनी के योद्धाओं को खोजा जा रहा था और मौत के घाट उतारा जा रहा था। कई ग्रामों में मासूम लोगों को मार डाला गया। सरकार के विरुद्ध जानेवाले के लिए एकमात्र सज़ा मौत ही थी परन्तु एक बार फिर लोग धर्म, जाति को भुलाकर अपने 'बांग्लादेश' के लिए लड़ने के लिए

प्रस्तुत थे। मुक्तिवाहिनी में नौजवानों से लेकर प्रौढ़ भी शामिल थे। मजदूर, बुद्धिजीवी, किसान सभी ने इस युद्ध में हिस्सा लिया। जो इस युद्ध में शामिल नहीं हो पा रहे थे उन्होंने मुक्तियोद्धाओं की सेवा के माध्यम से इस संग्राम में अपना योगदान दिया था।

इस युद्ध में भीषण कत्लेआम हुआ। पश्चिमी पाकिस्तान के सैनिक बिना कुछ सोचे-समझे ताबड़तोड़ गोलियां चलाते हुए लोगों की नृशंस हत्या कर रहे थे लेकिन पूर्वी पाकिस्तान के मुक्तिवाहिनी के योद्धाओं में मानवीयता बची हुई थी। केष्टो का छोटा भाई ऑलोक मुक्तिवाहिनी के योद्धा के रूप में कई कामों को अंजाम दे चुका था लेकिन एक पाकिस्तानी सैनिक पर गोली चलाने के लिए उसका मन नहीं मानता। इसका कारण बताते हुए अपने गुस्साये अफसर को जवाब देते हुए वह कहता है- " मैं उसे कैसे गोली मारता सर ! वह सैनिक मेरे रेंज से बाहर जाकर भी वापस लौट आया था, अपने एक मृत साथी को उठाकर ले जाने के लिए। जिस व्यक्ति ने अपने मृत साथी को उठा ले जाने के लिए अपनी जान की परवाह नहीं की, उस व्यक्ति को मैं कैसे मार सकता था, सर ! उस वक़्त वह मुझे अपना दुश्मन नहीं, अपने साथी की मौत से मर्माहत एक संवेदनशील दोस्त नज़र आ रहा था। मैं चाहकर भी उसे मार न सका सर ! आप मुझे जो सजा देना चाहें दे सकते हैं।"[35] ऑलोक के उक्त कथन उसे मनुष्यत्व के उच्च्य स्थान पर ले जाता है। युद्ध के ऐसे माहौल में भी उसके भीतर का मनुष्य जिंदा था, मरा नहीं।

युद्ध में घायल अपने सिपाहियों के लिए जब पश्चिमी पाकिस्तानियों को रक्त की आवश्यकता होने लगी तब उन्होंने बांग्लादेश के वासियों को पकड़कर तब तक उनके शरीर से खून निकाला जब तक उनके प्राण-पखेरु उड़ न गये। अत्याचार की ऐसी कई अंतहीन दास्तानों से आलोच्य उपन्यास भरा पड़ा है। बहरहाल एक लंबे समय तक गुरिल्ला युद्ध चलाने के बाद एवं भारतीय सेना के हस्तक्षेप के बाद अंतत: पाकिस्तान सेना को हार

माननी पड़ती है और स्वतंत्र बांग्लादेश का गठन होता है। लोगों में एक अलग ही उत्साह और दायित्वबोध जागने लगता है। उमंगों से भरे लोग उन लोगों को पकड़-पकड़कर मारते हैं जिन्होंने मुखबिरों का काम किया था।

जहाँ एक ओर यह स्वाधीनता अपने साथ अपार खुशियाँ लेकर आयी थी वहीं इस स्वाधीनता के साथ विषाद के क्षण भी साथ ही आये। उन परिवारों के लिए जिन्होने इस संघर्ष में अपना सर्वस्व खो दिया था। इस संघर्ष में अपना सर्वस्व खोने के लिए मुक्तिवाहिनी के योद्धा ही नहीं थे बल्कि इसका परिणाम बांग्लादेश की महिलाओं को भी भुगतना पड़ा जो अक्सर ऐसे दंगों में सबसे पहले आततायियो के निशाने पर हुआ करती है। पाकिस्तानी फौजियों के कैम्प में आये दिन नयी-नयी लड़कियों को लाया जाता जिनमें बारह से लेकर चालीस-पैतालिस, पचास तक के उम्र की महिलायें हुआ करती थीं। उन्हें नोचा-खसोटा तो जाता ही था कहीं वे लज्जा-शर्म के मारे आत्महत्या न कर लें इस कारण उनके दुप्पटे, साडियाँ इत्यादि छीनकर उन्हें निर्वस्त्र रखा जाता था। इसी हाल में वे औरतें उन फौजियों के लिए भोजन पकातीं और वे सैनिक अपनी हवस भी पूरी करते थे। ऐसे कितने ही दिल दहला देने वाले दृश्यों को इस उपन्यास में देखा जा सकता है। ऐसी ही एक पीड़िता का केष्टो से पूछा गया यह प्रश्न केवल केष्टो से नहीं है बल्कि समस्त मानव जाति से पूछा गया प्रश्न है, " आप लोगों ने जान पर खेलकर देश को स्वाधीन किया है। हम जैसी हज़ारों हिन्दू-मुसलमान लड़कियों को उन दरिंदों के पंजों से छुटकारा दिलवाया है। लेकिन जैसा सलूक उन्होंने हमारे साथ किया है, जो अपमान हमारा किया है उसका बदला कभी लिया जा सकता है क्या ?"[36] वक्त आ गया है कि अब इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत होना होगा। केष्टो का आँखों देखा हाल कि किस प्रकार पाकिस्तानियों के बंकरों से अर्द्धविक्षिप्त सी अवस्था में नग्न युवतियों को भारतीय जवान बाहर निकाल रहे थे। कुछ भारतीय सिक्ख जवानों से जब

उनकी दुर्दशा देखी न गयी तो उन्होने अपनी पगड़ी निकालकर उन लड़कियों पर ड़ाल दी। यह सब देख केष्टो के मन में प्रश्न उठा " एक ये जवान थे जिनसे हमारी माँ-बहनों का अपमान सहा न गया और एक थे वे जिन्होने उन्हें तबाह किया था। कुछ वर्ष पहले वे पाक फौजी भी, जिन्होंने हमारी माँ-बहनों को तबाह किया, भारत के ही नागरिक थे। तो फिर इन चंद वर्षो मे उनमें इतनी हैवानियत कहाँ से आ गई ? क्यों आ गई ? पंजाब की एक ही धरती पर पले-बढे। फिर ? धरती के टुकड़ो मे बंट जाने पर या उनका नाम बदल जाने पर उस धरती में पले-बढ़े इंसानों के स्वभाव भी बदल जाते हैं क्या ?"[37] ऐसे मौकों पर मनुष्य हैवानियत के शिखर पर जा पहुंचता है।

स्वाधीनता संग्राम में केष्टो अपना सर्वस्व गंवा चुका है। उसका छोटा भाई ऑलोक भी स्वाधीनता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दे चुका है। पाकिस्तान के सैनिक उसकी मां और बहन को उठा कर ले गये थे। बहन वहशी दरिंदों का शिकार बन चुकी थी। ऑनिच्छा से वह मिलता भी है और उसे वापस घर भी ले जाना चाहता है लेकिन ऑनिच्छा आत्महत्या कर लेती है क्योंकि वह गर्भवती है और दुश्मन की संतान को वह जन्म नहीं देना चाहती थी। ऑनिच्छा की इस हालत के लिए जिम्मेवार अशरफ अली से बदला लेने के क्रम में केष्टो के पैरों में गोली लग जाती है और उसे अपने पैर गंवाने पड़ते हैं, मगर उसे इसका तनिक भी दु:ख नहीं। बहरहाल केष्टो अकेले ही जीवन व्यतीत करता है। वह हार नहीं मानता। अपने पुराने व्यवसाय को वह पुन: स्थापित करने की कोशिश करता है कि तभी अचानक उस पर कुछ मुसलमान हमला कर देते हैं। कारण हिन्दुस्तान में अवस्थित किसी अयोध्या नामक स्थान में बाबरी मस्ज़िद को कुछ हिन्दुओं ने तोड़ ड़ाला। जब केष्टो का मित्र बिशू इसका प्रतिकार करते हुए कहता है कि जिसके घर पर उन लोगों ने हमला किया है वह मुक्तियोद्धा है जिसने देश की आज़ादी में अपनी जान की बाजी लगा दी थी, जो नौ महीनों

तक जंगलों, नदी, नालों में भूखा-प्यासा भटकता रहा था तो जवाब मिला, “ इन्हें क्या हम तुझे भी मारेंगे। साला हिन्दू का बच्चा ! मालाउन कहीं के ! हमारी मस्जिद पर हाथ डालने की जुर्रत करता है ? तुम में से एक को नहीं छोड़ेगे हम। मार साले को मार !”[38] एक बार फिर भारत में हो रहे मुसलमानों पर अत्याचार का खामियाजा बांग्लादेश के हिन्दुओं को उठाना पड़ा। अत्याचार करनेवाले यह भूल गये कि बांग्लादेश के गठन के लिए हिन्दुओं ने भी कम यातनाऐं नहीं झेली। एक बार फिर देश से बड़ा धर्म बन गया। धर्म पुन: अपना तांडव दिखाने लगा।

इसी घड़ी पर केष्टो सोचता है “ बचपन में करीब बारह साल की उम्र में सड़क पर खड़े-खड़े अपने घर को जलते देखा था मैंने। आज करीब बासठ साल की वृद्धावस्था में सड़क पर पड़े-पड़े घर को, इंसानों को, इंसानियत को जलते देख रहा था मैं। देख रहा था और धार्मिक उन्माद की उस आँच से झुलसते हुए सोच रहा था कि क्या यह लड़ाई वाकई धर्म की लड़ाई है ? क्या यह उन्माद सिर्फ़ धर्म के लिए है ? यदि ऐसा होता तो धर्म के नाम पर भारत से अलग होने के बाद पाकिस्तान के दोनों हिस्सों में अवश्य गहरा रिश्ता होता। प्यार का रिश्ता होता। दोनों हिस्सों के समानधर्मी भाइयों के बीच इतिहास का यह क्रूर अध्याय न लिखा गया होता !”[39] जिन्होंने हिन्दू धर्म के रक्षार्थ बाबरी मस्जिद का ध्वंस किया उन्हें भी यह पता था कि दूसरे देशों में जहां हिन्दू अल्पसंख्यक हैं उनका हश्र क्या होगा लेकिन सत्ता की लालच ने उन्हें इस कदर अंधा बना दिया था कि सरहद के उस पार के अल्पसंख्यक हिन्दुओं के लिए, सरहद के इस पार के बहुसंख्यक हिन्दुओं ने सोचना गंवारा न समझा। **1992** में हुए उस ध्वंस का खामियाज़ा आज भी पड़ोसी मुल्कों के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को उठाना पड़ रहा है। ऐसे में केष्टो के यह विचार बिल्कुल सटीक लगते हैं-

"तो क्या धर्म से अधिक महत्वपूर्ण कुछ और तत्व हैं जो धर्म के साथ शामिल है ? क्या है वह तत्व"[40]

वक्त की दहलीज़ पर खड़ा हो कर केष्टो यह सोचता है कि आखिर जिस देश के लिए उसने अपना सर्वस्व गवाँ दिया उस त्याग-बलिदान का क्या फायदा मिला। क्या यह सचमुच धर्म का युद्ध है ? या कुछ और। अंततः वह इस निष्कर्ष पर आता है कि धर्म तो सिर्फ एक आवरण है जिसे ओढ़कर कुछ स्वार्थी तत्व अपना स्वार्थ साधते हैं जहाँ पूर्वी पाकिस्तानियों के लिए उनका स्वार्थ उनकी संस्कृति, उनकी भाषा थी जिस कारण बांग्लादेश जैसे अलग राष्ट्र का उदय हुआ वहीं पश्चिमी पाकिस्तानियों के लिए सत्ता का ऐश्वर्य, वर्चस्व का सुख धर्म पर हावी था और भोली-भाली जनता उनके कुचक्र में पड़कर अपना सर्वस्व गँवा बैठती है जिनमें केष्टो भी शामिल है जिसका पूरा परिवार इस 'आमार शोनार बांग्लादेश' की आज़ादी के लिए मर मिटा, जिसकी छोटी बहन ने किसी स्वतंत्रता सेनानी से कम यातनाऐं नहीं भोगी हैं मगर इस आज़ाद देश में केष्टो और उसके जैसे हजारों हिन्दू अचानक बेगाने बन गये। अनायास ही कमलेश्वर का उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** याद आता है जिसकी मूल चिंता इसी से जुड़ी हुई है कि आखिर धर्म, भाषा, वर्ण के आधार पर और कितने पाकिस्तान पूरे विश्व में बनने बाकी हैं।

आलोच्य उपन्यास पर विचार करते हएु आलोचक कान्तिकुमार जैन कहते हैं- " **400** पृष्ठों का बृहत् उपन्यास 'मैं बोरिशाइल्ला' अपने वर्णित प्रसंगों की विविधता, जीवनानुभवों की विपुलता, भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजनोत्तर इतिहास के विवरणों की प्रामाणिकता, बांग्ला लोक संस्कृति के प्रति असीम रागात्मकता, छोटी-छोटी चीजों में डूब सकने की तल्लीनता और अभिव्यक्ति की सान्द्रता से चमत्कृत करता है। महुआ माजी ने 'मैं बोरिशाइल्ला' में बहुत बड़े फलक पर समाज और राष्ट्र के कई गम्भीर और व्यापक प्रश्न

उठाये हैं।...एक सामान्य बोरिशाइल्ला केष्टो के जीवनवृत्त से बांग्लादेश के अभ्युदय की कहानी को जोड़कर महुआ ने भारत के विभाजन से उत्पन्न होने वाली द्विराष्ट्रीयता, धार्मिकता, साम्प्रदायिक उन्माद, भाषा-गौरव, शोषण, युद्ध, नारी अस्मिता, क्षेत्रीयतावाद जैसे प्रश्नों को उठाया है और अपनी जीवन दृष्टि के उद्‌घाटन का अवसर निकाला है। साथ ही अपने रचनात्मक कौशल से एक नितान्त पठनीय एवं कथारस से भरपूर उपन्यास की सफल सृष्टि की है।"[41] आँचलिकता के रंग मे डूबा हुआ, महुआ माजी के आलोच्य उपन्यास की भी मूल चिन्ता यही है कि धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा इत्यादि के नाम पर मनुष्य कब तक छला जायेगा। कब तक रक्त की नदियां ऐसे ही बहती रहेंगी। आलोच्य उपन्यास में लेखिका एक विस्तृत फलक को लेकर चलती हैं और सांप्रदायिक ताकतों के चेहरों एवं उनके खतरनाक उद्देश्यों को उभारने में सफल रही हैं।

## 5.4. उपयात्रा

सन् 2006 में मोहम्मद आरिफ का उपन्यास **'उपयात्रा'** प्रकाशित हुआ। बाबरी मस्जिद ध्वंस ध्यान में रखते हुए कथाकार कमलेश्वर ने **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास लिखा तो कथाकार दूधनाथ सिंह ने **'आख़िरी कलाम'** उपन्यास लिखा है। **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास की चिंता जहां इस बात को लेकर है कि धर्म, भाषा, क्षेत्र, जाति, वर्ण इत्यादि के आधार पर पूरे विश्व में और कितने पाकिस्तान बनने बाकी हैं वहीं दूधनाथ सिंह ने **'आख़िरी कलाम'** उपन्यास में तत्सत पांडे के माध्यम से छदम् बुद्धिजीविता, उग्र हिंदुत्ववाद, प्रशासन का भेदभावपूर्ण रवैया, प्रेस की भूमिका इत्यादि पर विचार किया है। बाबरी मस्जिद ध्वंस की थोड़ी बहुत अनुगूंज **'मैं बोरिशाइल्ला'** उपन्यास के अन्तिम हिस्से में सुनने को मिलती है। **'उपयात्रा'** उपन्यास में बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद भारतीय मुसलमानों की मनोदशा का चित्रण किया गया है। देश के संविधान में यह उल्लेख किया गया है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। सभी के लिए न्याय

समान है लेकिन वास्तविकता इसके बिल्कुल उलट है। बाकायदा न्यायालय में हलफनामा दायर किया गया कि मस्जिद को कोई क्षति न होगी, लेकिन इसके बावजूद मस्जिद को तोड़ा गया। विधि-व्यवस्था-कानून मूक दर्शक बनकर खड़े रहे और अपराधी सीना तानकर आज भी घूम रहे हैं। सवाल खड़ा होता है कि क्या सचमुच भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है ?

उपन्यास 'मै' शैली में लिखा गया है। एम. फरीद इस उपन्यास का केंद्रीय पात्र है। इस उपन्यास में लेखक ने बाबरी मस्जिद ध्वंस के एक दिन पहले से लेकर उसके बाद के कुछ दिनों तक का ब्यौरा दिया है। यह उपन्यास भले ही चार-पांच दिनों की घटनाओं को लेकर लिखा गया है लेकिन बाबरी मस्जिद ध्वंस का परिणाम उसके बाद के कई वर्षो तक रहा है जिसे केंद्र में रखकर कभी प्रतिशोध स्वरूप बम विस्फोट हुए तो कभी सांप्रदायिक दंगे। बाबरी मस्जिद ध्वंस और उसके बाद घटी घटनाएं यह सीख देती है कि जख़्म भले ही ठीक हो जायें मगर उसके निशान बचे ही रहते हैं। समस्त घटनाएं याद करते हुए एम. फरीद उनका उल्लेख करता चलता है। उपन्यास में घटी घटनाओं का विवरण चार दिसम्बर के दिन की घटना से प्रारंभ होता है। इन्हें याद करना फरीद के लिए एक ओर कष्टदायक है तो दूसरी ओर बार-बार उसे याद करना भी अच्छा लगता है। स्वयं फरीद के शब्दों में " जब कभी मेरी तबीयत कुछ हलकी रहती है, या फिर उदास होता हूँ, खाली और अकेला होता हूँ, मैं उस रेल-यात्रा पर निकल पड़ता हूँ जो मैंने **1992** की सर्दियों में तय की थी। मुक्तसर में कहूँ तो दिसम्बर के पहले हफ्ते में। और साफ-साफ कहूँ तो वह दिसम्बर बानवे की चार तारीख थी। मैं उस यात्रा से लौटता हूँ तो और भी भ्रमित हो जाता हूँ। हर बार। लेकिन मुझे बार-बार अपने जीवन के उस दिन को जीना अच्छा लगता है। यह एक ऐसा अनुभव है, एक ऐसी खोज है, जिसमें मैंने एक झूठ ढूँढ़ा, यह सच पाया...और उन दिनों को मिला देने से एक उलझन पाई। फिर भी अच्छा लगता है।"[42]

फरीद जब कभी उस यात्रा को याद करता है तो उसकी मानसिक अवस्था भिन्न हो जाती है। भय, शंका, संदेह, क्रोध, ग्लानि, अपमान, घृणा और न जाने ऐसे कितने मनोभावों को उसे पीना पड़ा होगा। यह हालत सिर्फ फरीद की नहीं थी बल्कि उस जैसे लाखों अल्पसंख्यकों की है जिन्हें अपनी पहचान को छुपाना पड़ा है फिर चाहे वे सरहद के इस पार रहे हों या फिर उस पार।

यदा-कदा उपन्यास में ऐसे पात्र भी आते रहते हैं जिनसे फरीद परिचय करवाता चलता है। ये पात्र अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उपन्यास में अपना स्थान बनाते चलते हैं और अपनी सार्थकता भी। ऐसे ही एक शख़्स हैं अज़हर नौशाद। ये पक्के मुसलमान हैं, दिन में पांच बार के नमाजी, अल्लाह के पक्के बन्दे। नमाज को लेकर इतने पक्के कि भले ही ट्रेन छोड़नी पड़े लेकिन नमाज अता करना वे नहीं छोड़ सकते। उनका कोई भी हिन्दू मित्र न था लेकिन अपने हिंदू सहकर्मियों के प्रति उनके मन में तनिक भी बैर न था। अज़हर साहब की इस धर्मपरायणता के लिए फरीद के मन में सम्मान का भाव है। धर्म या धार्मिकता के प्रति फरीद के इस सम्मान भाव को देखते हुए आलोचक शशिभूषण द्विवेदी अपनी प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार देते हैं- " धर्म को लेकर नायक के अपने पूर्वग्रह हैं और जगह-जगह वह उन प्रसंगों को उठाता है जिनमें धर्म और धार्मिकता का महिमामंडन हो। मसलन अजहर साहब का प्रसंग जिसमें ट्रेन छूट जाती है और अजहर साहब नमाज से नहीं उठते।"[43] श्री द्विवेदी जिसे पूर्वग्रह कहकर कमतर आंक रहे हैं वहां ट्रेन छूटने के बाद के परिणामों को भी बताना आवश्यक है। फरीद का क्रोधित हो जाना, ट्रेन की संयुक्त टिकट को टुकड़े-टुकड़े कर देना, अजहर साहब का सामान 'लावारिस', 'अल्लाह के भरोसे' छोड़ देना। क्या किसी व्यक्ति द्वारा किया गया यह आचरण भक्तिभाव या पूर्वग्रह के परिणाम कहे जा सकते है ? दरअसल फरीद का सम्मान भाव अजहर साहब के लिए इसलिए भी है क्योंकि

पक्के नमाजी होने के बावजूद, इस्लाम के सच्चे नुमाइंदे होने के बावजूद, कर्मकांडी होने के बावजूद, अजहर साहब सांप्रदायिक नहीं थे, कट्टर नहीं थे। धर्म के मूल मर्म से वे वाकिफ थे और अपना आचरण उसी के अनुकूल बनाकर उन्होंने रखा था।

उपन्यास के पहले ही अंक में यात्रा का आरंभ होता है जिसमें फरीद अपने साथ पाठकों को भी यात्रा पर ले निकलता है। फरीद के साथ-साथ पाठकों को भी इस बात का अहसास हो जाता है कि कुछ अनिष्ट घटने वाला है। पूरी ट्रेन भगवा रंग से पटी पड़ी थी और दिल दहला देनेवाले नारे लगाये जा रहे थे। ट्रेन में उसकी सहयात्री सुमित्रा नाम की एक महिला है जिसकी भारतीयता, राष्ट्रीयता, हिन्दू और मुसलमान जैसे शब्दों को लेकर अपने ही विचार हैं जो न केवल गलत है बल्कि भ्रम की सृष्टि भी करते हैं। स्वयं फरीद के शब्दों में- " वे 'भारतीय, 'हिन्दू' एवं 'राष्ट्रीय' शब्दों को एक साँस में ऐसे प्रयोग कर रही थीं मानो तीनों पर्यायवाची हों।"[44] ऐसी बातें किसी भी राष्ट्र में रहनेवाले लोगों के बीच भ्रम खड़ा कर सकती हैं। भारत की बहुसंख्यक जनता द्वारा दर्शाया गया यह आचरण, देश के अल्पसंख्यकों के लिए भय का माहौल ही खड़ा करता है। निम्नलिखित पंक्तियां एक आम अल्पसंख्यक, खासकर मुसलमान के मन में भय का संचार किस प्रकार होता है, दर्शाने के लिए काफी हैं- " दरअसल पिछले कुछ महिनों में मैंने देखा था कि हर तरफ इसी रंग का बोलबाला था। रातोंरात मनुष्यों के सिरों से लेकर घरों की छतें और पेड़ों की फुनगियाँ सभी केसरिया रंग में रँग गए थे और मुसलमानों के दिल धड़कना शुरू हो गए थे।"[45] स्वयं फरीद के दिलो-दिमाग पर भी इसका कितना बुरा असर था इसे बयां करती ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं- " न जाने क्यों भगवा रंग शनैः- शनैः मेरे दिमाग पर असर करना शुरू कर दिया था। लगा जैसे पूरा डिब्बा भगवा रंग में नहा उठा है। भगवा एक बड़ा ही जीवित एवं क्रियाशील रंग है। यह मेरा भ्रम हो सकता है पर मैंने महसूस किया कि मानों विजय-गान गाते हुए, दुंदुभि बजाते हुए इस रंग ने

पूरी गाड़ी को अपने पैरों तले रौंद दिया है। इसके अतिरिक्त किसी और रंग में इतनी तीव्रता नहीं है कि वह मन पर इतना गहरा असर कर सके। शायद काला रंग भी नहीं। या फिर मेरी रंग-अवधारणा में ही कोई खोट पैदा हो गई थी। मेरी अल्पसंख्यक मनोवृत्ति ने मुझे कोई और रंग ढूँढ़ने-देखने के लिए प्रेरित किया। कोई ऐसा रंग जो केसरिया, भगवा, यहाँ तक कि लाल और पीले से भी अलग हो। भगवा रंग के भार तले मैं दबता जा रहा था। सच कहूँ वह रंग मुझे भयभीत कर रहा था।"[46] संविधान में सबको समान न्याय और अधिकार की गारंटी देने के बावजूद यदि ऐसा भयावह माहौल खड़ा करने में कुछ लोग कामयाब हो जाते हैं तो इससे ज्यादा शर्मनाक स्थिति किसी जनतंत्र के लिए और कोई नहीं हो सकती।

अंग्रेजों के जमाने में से लेकर आज तक इतिहास से अपने काम भर के तथ्य लेकर उनका उपयोग करने की प्रवृत्ति ने भारत का सबसे ज्यादा सत्यानाश किया है। इस उपन्यास में सुमित्रा जैसे लोग भी इसी का परिणाम हैं। सुमित्रा के सवालों का फरीद खुलकर कोई जवाब नहीं दे पाता लेकिन मन ही मन जो उत्तर उसके पास हैं वे बेमिसाल हैं। राममंदिर तोड़कर बाबरी मस्जिद बनवाने के संबंध में जब सुमित्रा फरीद से उसका मत जानना चाहती है तो फरीद चुप रहता है लेकिन उसका मन उत्तर देता है- " और बाबर ? मैंने सुना और पढ़ा है कि वह हिन्दुस्तान से बेपनाह मुहब्बत करता था। वह यहाँ की सरजमीन, यहाँ के फूल फल भोजन परिंदों नदियों पहाड़ों पर जी जान से फिदा था। उसके अनपढ़ पोते को ये गुण विरासत में मिले जिन्हें उसने अपनी औलादों में कूट-कूट कर भर दिया था। बाबर और अकबर की विरासत हममें से बहुतों में आज भी जिन्दा है। बाबर की सन्तानें कभी हिन्दुस्तान से बाहर नहीं गईं। और हाँ, सुमित्रा तुम सुन रही हो न, यहाँ मैं उस आखिरी बदनसीब मुगल की बात नहीं कह रहा जो हिन्दुस्तान के बाहर बर्मा में कैद रहा और वहीं सुपुर्दे खाक हुआ। तुम सोच रही होगी बर्मा में रहते-मरते हिन्दुस्तान उसे याद न आया होगा। खुशी-खुशी दम

तोड़ दिया होगा उसने। चैन की मौत मरा होगा वह। सुमित्रा, सोचने के लिए तुम स्वतन्त्र हो। तुमने इतिहास के बारे में मुझसे पूछा है तो सुन लो बहना-बाबर के इस आखिरी लाड़ले ने हिन्दुस्तान, जिसे वह मादरेवतन और कूए-यार कहता था, की आजादी की पहली लड़ाई का परचम लहराया था।"[47] यहां एक बहुत बड़ी बात लेखक ने फरीद के माध्यम से कह दी है। मुसलमानों की वतनपरस्ती को शक की निगाह से देखा जाता है। कई उदाहरण मौजूद हैं जब मुसलमानों में भी इसी देश के लिए अपना खून बहाया है। इतिहास में मौजूद उन मनगढ़ंत घटनाओं पर तो भारतीय जनमानस ने आसानी से विश्वास कर लिया लेकिन अपने आस-पास के जीवन में मौजूद सत्य को देखकर भी अनदेखा कर दिया। क्या इस सच को झुठलाया जा सकता है कि **1857** की लड़ाई का मुखिया कोई और नहीं बल्कि एक मुसलमान था और पूरे हिन्दुस्तान के राजा-महाराजा उनकी अगुवाई में देश की आजादी के लिए लड़े थे ?

बहरहाल ट्रेन में मुसलमानों के खिलाफ कुतर्क का सिलसिला बना रहता है। तभी एक और मजेदार वाकया घट जाता है जब फरीद कबीर का वह दोहा बांच देता है जिसमें कबीर ने पत्थर को पूजने की निरर्थकता पर प्रहार किया है। कुछ क्षणों के लिए तो वहां सन्नाटा छा जाता है लेकिन तुरंत सुमित्रा कबीर की जाति पर सवालिया निशान लगा देती है कि कबीर तो मुसलमान था। देखने वाली बात यह है कि कबीर के जैसा व्यक्ति जिसने आजीवन हिंदू धर्म और इस्लाम में मौजूद वाह्याडंबरों पर प्रहार किया है, उसे भी हिंदू था या मुसलमान, जैसे खेमे में बांट कर देखा जा रहा है।

ट्रेन की इस यात्रा का सबसे बेहतरीन वक्त तब आता है जब मोहम्मद फरीद अपने सहयात्रियों को यह बताता है कि उसका वास्तविक नाम फरीद नहीं बल्कि रजनीश दीक्षित है और वह अपने बीमार मित्र फरीद की टिकट पर यात्रा कर रहा है। इस सच के उजागर होने की देर थी कि सारी परिस्थितियां बदलने लगीं। आस-पास बैठे सभी लोग हँसने

लगते हैं, अपनी-अपनी बेवकूफियों पर। वास्तविकता यह थी कि रजनीश दीक्षित नाम से फरीद ने अपने मुसलमान होने के सच को छुपाया था। क्या इस दर्द को कोई समझ सकता है या महसूस कर सकता है जब किसी व्यक्ति को अपनी पहचान ही छुपानी पड़ जाये ? फरीद को अपनी गलत पहचान देते हुए अपराध बोध सा अनुभव मन ही मन होता है।

इस ट्रेन की यात्रा के साथ फरीद और भी कई उपयात्राओं पर निकल पड़ता है जिनमें वह रजनीश दीक्षित और अजय सर का उल्लेख करना नहीं भूलता। रजनीश दीक्षित का फरीद के जीवन पर एक बड़ा ही गहरा प्रभाव है। हॉस्टल के जीवन का वर्णन भी लेखक ने बेबाक तरीके से किया है। हॉस्टल में रहनेवाले जूनियर्स के साथ सीनियर्स द्वारा की जानेवाली रैगिंग का चित्रण बड़े ही बेबाक ढंग से लेखक ने किया है। इस रैगिंग के दौरान भी फरीद के साथ मुसलमान होने के कारण बेढंगा सा मजाक किया जाता मसलन-उसके जननांग को लेकर फब्तियां कसी जातीं, उसके मजहब, भारत के प्रति उसकी वफादारी और पाकिस्तान में उसके रिश्तेदारों के संबंध में सवाल किये जाते हैं और उसे परेशान किया जाता है। फरीद को यह सोचकर अजीब लगता है कि पढ़े-लिखे नवयुवकों में भी हिन्दू-मुसलमान की भावना कितनी तीव्र थी जैसा कि पहले भी कहा गया है कि हिन्दू-मुसलमान के बीच घृणा के बीज बचपन में ही बो दिये जाते हैं। यह घृणा थोड़ी-बहुत कम की जा सकती थी यदि पाठ्यक्रमों में घृणा और मिथ्या तथ्यों पर आधारित इतिहास को न जोड़ा गया होता। विडम्बना यही है कि शिक्षाविदों ने भी इस आग में घी का काम ही किया जबकि प्रयास इस आग को बुझाने के लिए होने चाहिए थे।

बहरहाल इस यात्रा के दौरान रजनीश दीक्षित का नाम लेकर फरीद अपने आप को कुछ मिनटों के लिए सुरक्षित तो महसूस कर पाता है लेकिन धीमे-धीमे बढ़ती कारसेवकों की तादात और उनके गगनभेदी नारे भीतर ही भीतर फरीद को डरा रहे थे। 'एक धक्का

और दो, बाबरी मस्जिद तोड़ दो', 'रामनाम सत्य है, बाबरी मस्जिद ध्वस्त है।', 'और नहीं कुछ गाल पे तमाचा है, मस्जिद नहीं कलंक का ढाँचा है।','तेल लगाओ डाबर का, नाम मिटाओ बाबर का।', 'बाबरवंशी होश में आओ, मस्जिद-मस्जिद मत चिल्लाओ।' एक ओर ऐसी नारेबाजियां हैं तो दूसरी तरफ मुसलमानों को लेकर, इस्लाम को लेकर मनगढंत, बेतुके कुतर्क हैं जिनके द्वारा मुसलमानों के खिलाफ माहौल बनाने की कोशिश की जा रही थी।

ट्रेन में चौधरी द्वारा कही गयी बातों से इस बात की भनक मिल जाती है कि बाबरी मस्जिद ध्वंश केवल कुछ बेकाबू या भावुक कारसेवकों की कारस्तानी का परिणाम मात्र नहीं था बल्कि यह कुछ लोगों की सोची-समझी साजिश की परिणति थी।चौधरी लगभग गरजते हुए कहते हैं- " अरे नहीं, कभी नहीं, दीक्षित जी, मेहरा जी, कभी नहीं।अच्छा दीक्षित जी पहले यह बताइए आप क्या है...हिन्दू या मुसलमान ? लेकिन एक सच्चा और पक्का हिन्दू म्लेच्छ लोगों की प्रथा को कभी नहीं अपनाएगा।और सुनिए, कल हम सिद्ध कर देंगे कि हम कौन हैं।बहुत हो चुका।दीक्षित जी, अब अयोध्या में साफ हो जाएगा कि कौन क्या है।और सुनिए, इधर देखिए...हमारी ओर...अयोध्या तो बस शुरुआत है।असली लड़ाई तो अभी बाकी है।हिन्दुओं में अब जागरण आ चुका है।अच्छा, आप अयोध्या क्यों नहीं चलते हमारे साथ।चलकर देखिए न कि हिन्दुत्व आखिर है क्या ! यह देश अब बदल कर रहेगा।हिन्दू अब और अत्याचार नहीं सहेगा, नहीं सहेगा, नहीं सहेगा...नहीं...।"[48]

चौधरी, सुमित्रा और इनके जैसे हजारों हिन्दुओं के उन्माद को देखकर ही फरीद यह सोचने को मजबूर हो जाता है- " ये सभी कारसेवक थे जो अपने सर पर भगवा कफन बाँधकर एक मिशन पर निकले थे।इतिहास को मिटाने, इतिहास को रचने, वास्तविकता को नेस्तनाबूत करने, मिथक को पुनर्जीवित करने।वे तारीख से बदला लेने जा रहे थे।वे जान देने जा रहे थे।वे जान लेने जा रहे थे।वे हिन्दुस्तानी तहजीब को भूल

भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए और उसके गौरव के लिए जा रहे थे। वे एक कौम को शर्मसार करने और उसे उसकी औकात बताने जा रहे थे।"[49] कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस ध्वंश के बाद भारत ने अपनी धर्मनिरपेक्षता के वादे को खोया है। वह सहिष्णुता, जिसकी मिसाल पूरा विश्व दिया करता है, उसे खोया है और इस ध्वंश के पश्चात पाया है तो केवल अविश्वास। हर व्यक्ति इस बात को समझ चुका था कि बाबरी मस्जिद के ध्वंश ने भारत ने क्या खोया और क्या पाया है।

जिस स्थल पर आकर मोहम्मद आरिफ कथाकार राही मासूम रजा से आगे निकल जाते हैं वह है आत्मालोचन। राही ने भी मुस्लिम बस्तियों का उल्लेख अपने उपन्यासों में किया है लेकिन एक सम्मोहन भाव में रहते हुए। वे कहीं भी उसकी आलोचना करते हुए नजर नहीं आते। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्हें इससे भी गहरा लगाव हो लेकिन मो. आरिफ के साथ ऐसा नहीं है। उन्होंने मुस्लिम बस्तियों की इन हालतों पर तीखा प्रहार किया है। इन बस्तियों में घूमते हुए इसे आसानी से महसूस किया जा सकता है कि हम अपने समय से काफी पीछे लौट आये हैं। लगभग मध्ययुगीन दौर में। लेखक ने इस स्थिति को भी उपन्यास में बड़ी ही शिद्दत से उजागर करने का प्रयास किया है। बिना किसी द्वंद्व या आदरभाव के कथाकार ने मुस्लिम समाज पर प्रहार किया है। उसके पिछड़ेपन के वास्तविक कारणों का उल्लेख उपन्यासकार ने किया है। ऐसा नहीं है कि केवल मात्र आर्थिक रूप से पिछड़ेपन के कारण मुसलमानों की यह हालत है। यह माना हुआ सत्य है कि खाड़ी के देशों में सबसे ज्यादा मुसलमान भारत से जाकर काम करते हैं लेकिन उन मुसलमानों की सामाजिक स्थिति में कोई बड़ा फर्क देखा नहीं गया है। कथाकार स्वयं इसे स्वीकार भी करते हैं- " दरअसल खाड़ी की कमाई भी मुहल्ले के मुसलमानों की न तो इमेज बदल सकी, न ही उनकी तकदीर और न ही उनके हालात। वे हँसी और अपमान के पात्र तब भी थे, अभी भी हैं। सबको शिकायत है,

मुझे भी शिकायत है कि ये लोग तरक्की-पसन्द नहीं हैं। ये लोग आजाद-ख्याल नहीं है। ये भीड़, गन्दगी और गुरबत-पसन्द कौम है। खाली रहती है और खाली बच्चे पैदा करती हैं।"[50] जरूरत है मानसिकता में परिवर्तन की। इसे हर कोई महसूस करता है लेकिन सवाल यह भी खड़ा होता है कि मानसिकता में परिवर्तन कैसे आयेगा ? जब तक इनके मन से अल्पसंख्यक होने के कारण अस्तित्व के समाप्त होने का भय खत्म नहीं किया जाता तब तक मानसिकता में परिवर्तन ला पाना मुश्किल है।

सांप्रदायिकता विरोधी मुहिम के सामने बड़ी समस्या तब खड़ी हो जाती है जब समाज का वह तबका जिसका सवर्णो ने सदियों से शोषण किया है, वे दलित समाज के लोग भी हिन्दू-मुसलमान के झगड़ों में पड़ जाते हैं जबकि स्वयं दलितों में सवर्णों को लेकर घृणा-भाव है। जन्म के आधार पर काम का विभाजन दलितों ने अस्वीकार किया लेकिन जहां धर्म की बात आ जाती है वहां दलित हिन्दू भी बन जाता है और कट्टर भी। इस स्थिति को उपन्यास में बहुत ही खूबसूरती के साथ उभारा गया है।

उपन्यास में कुल मिलाकर तीन पीढ़ियां दिखायी गयीं हैं। एक फरीद की अपनी पीढ़ी जो यह मानकर चल रही है कि इस देश में उन्हें किसी से खतरा है, दूसरी पीढ़ी है फरीद के माता-पिता की जो द्वंद्व में जी रही है और यह निश्चय नहीं कर पा रही कि आखिर इस देश में उनकी स्थिति है क्या और तीसरी पीढ़ी है फरीद के दादा-दादी की जो यह मानने को तैयार ही नहीं कि इस देश में, इस गांव में उनके लिए भय की कोई बात है। इस उपन्यास में तीन ऐसे चरित्र हैं जो अपनी बुद्धिमता और कतिपय गुणों के कारण पाठकों के लिए आकर्षक बन जाते हैं। वे पात्र है रजनीश दीक्षित, फरीद के दादा और दादी। रजनीश दीक्षित एक ऐसा चरित्र है जो फरीद के हॉस्टल के दिनों का मित्र है। दोनों एक ही कमरे में रहा करते थे मगर उनके बीच वैमन्स्य की बू तक नहीं मिल सकती। दोनों एक-दूसरे के बर्तन में खाना-

पिना किया करते। रजनीश हिन्दू-मुसलमान, छुआछूत जैसी बातों को नहीं मानता था। फरीद के पहचान की एक मुस्लिम औरत के साथ उसके शारिरिक संबंध भी बनते हैं। इन चीजों से भी उसे कोई परहेज न था। रजनीश के सान्निध्य के कारण ही फरीद स्वयं को सुरक्षित और खुला हुआ महसूस कर पाता है।

फरीद के दादा के भी कई हिंदू मित्र थे। वे उन्हें घर पर खाने का न्यौता भी दिया करते और वे मित्र दिन में हलवाई और रात में मीट खाने के लिए जमावड़ा लगाये रहते। फरीद के दादा का नाम था हुसैन अली हिन्दावल। 'हिन्दावल', हिन्द से, हिन्दुस्तान से है जिसे वे फक्र की बात समझते हैं। अपने हिन्दू मित्रों के कारण उनके समाज के लोग ईर्ष्या भी करते थे मगर फरीद के दादा इस ईर्ष्या को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा समझते थे। दादी भी कुछ इसी प्रकार के मिजाज वाली औरत थी।

फरीद का गांव हुसैनपुरा अयोध्या से बस साठ किलोमटर ही दूर था लेकिन बकौल लेखक हुसैनपुरा के लोगों को यह पता ही नहीं था कि आयोध्या में कोई मस्जिद भी थी। उनके लिए तो अयोध्या का मतलब भगवान श्री राम की जन्मस्थली थी। हुसैनपुरा में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने रामायण और महाभारत धारावाहिकों को श्रद्धानत भाव से न देखा हो। कथाकार के शब्दों में- "हुसैनपुरा के वासी राम जैसी औलाद की दुआ करते हैं और भरत और लक्ष्मण जैसा भाई चाहते हैं। और हाँ, दुलहिन हो तो जनक-दुलारी जैसी। कैकयी, मंथरा और विभीषण से पूरा हुसैनपुरा चिढ़ता है। रावण के बारे में दो राय हैं तो हनुमान जैसा दूजा न कोई। हुसैनपुरा में कौन माई का लाल है जिसका कलेजा राम-भरत मिलाप से ठंडा न हुआ हो, सूपनखा की नाक कटने से जो हँसा न हो, मन्दोदरी विलाप से जिसकी आँखें न भीगी हों, मृत्यु-शय्या पर पड़े रावण के अन्तिम वचनों को सुनकर जो रोया न हो, जिसने कुछ सीखा न हो, और राम के अयोध्या आगमन पर जिसने चिल्ला-चिल्लाकर

बोलो सियावररामचन्द्र की जय न कहा हो।"[51] मगर अयोध्या में हो रहे भीषण तांडव से घबराकर कई लोग अपने परिवार समेत गांव से पलायन कर जाते हैं।

बाबरी मस्जिद ध्वंश को निश्चित रूप से रोका जा सकता था यदि प्रशासन पहले ही सतर्क हो गया होता और सारे घटनाक्रमों को गंभीरतापूर्वक लिया होता। प्रशासन का व्यवहार भी निष्पक्ष नहीं था जिसका परिणाम बाबरी मस्जिद ध्वंश एवं उसकी प्रतिक्रिया में हुए दंगों के रूप में सामने आया। गांव में भी इंस्पेक्टर त्रिपाठी का व्यवहार मुसलमानों के प्रति निष्पक्ष न था। शक के आधार पर नज्जू इमाम, रहीमुद्दीन और गांव के कुछ मुसलमान लड़कों को रात के अंधेरे में गिरफ्तार कर लिया जाता है। ऐसे में अपने बचाव के लिए कोई उपाय न देखकर बाबा और अन्य गांव वाले हथियारों के जुगाड़ में लग जाते हैं। शहर में मस्जिद के पास से विजय जुलूस निकालने की तैयारी की जाती है, वह भी शुक्रवार के दिन और ऐन नमाज के वक्त ही। जुलूस निकलता है लेकिन मस्जिद को किसी प्रकार की हानि नहीं होती जिसमें दादा के हिन्दू मित्रों की सहायता और उनका आश्वासन काम करता है।

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि बाबरी मस्जिद ध्वंश के बाद हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक खाई पैदा हो चुकी थी। वे लोग जिनमें परस्पर मित्रता का भाव भी था, वह भी कहीं न कहीं खत्म होने लगा। हिन्दू के लिए मुसलमान मित्र बनाना सामाजिक एवं धार्मिक नजरिये से गलत कदम था तो मुसलमान के लिए हिन्दू से मित्रता हिकारत का सबब बनी। इस स्थिति से फरीद के बाबा को भी दो-चार होना पड़ता है जब उनके मित्र उनके आमंत्रण पर भी घर के उत्सव में शरीक नहीं होते। तब बाबा को पाकिस्तान न जाने के अपने फैसले पर गहरा अफसोस होता है। यह बात भीतर ही भीतर उन्हें कचोटती है और दीमक की तरह अंदर ही अंदर कमजोर कर देती है। अन्तत: बाबा की मौत हो जाती है।

बाबा का मरना इस उपन्यास में बड़ा ही सांकेतिक है क्योंकि बाबा का मरना उस साझी संस्कृति, परस्पर विश्वास का मरना है जिसे सदियों की मेहनत से संजोया गया था।

मोटे तौर पर यदि उपन्यास पर विचार किया जाय तो यह कहना होगा कि कथाकार मो. आरिफ ने बड़ी ही बेबाकी के साथ आलोच्य उपन्यास में वास्तविकता से नज़रें मिलायीं हैं।इस उपन्यास में इस्लाम और मुसलमानों के जीवन पर, उनकी बुराइयों पर, उनके पिछड़ेपन के पीछे मौजूद उनकी मध्ययुगीन सोच पर कड़ा प्रहार किया गया है।बहरहाल यह कहा जा सकता हैं कि लेखक ने बाबरी मस्जिद ध्वंश के बाद देश के मुसलमानों की मानसिक एवं सामाजिक स्थिति का बड़ा ही यथार्थपरक विश्लेषण अपने उपन्यास में किया है।

उपरोक्त उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि युवा कथाकार भी अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति उसी तरह गंभीर है जिस तरह हिंदी के वरिष्ठ कथाकार हैं।उपरोक्त उपन्यासों में यह देखने को मिला है कि लगभग हर कथाकार बदली हुई सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों में आये परिवर्तन पर पैनी नजर रखे हुए है।इन परिवर्तनों के कारण सांप्रदायिकता की समस्या में आये परिवर्तन को भी कथाकारों ने दर्शाने का प्रयास अपनी लेखनी के माध्यम से किया है।राजनीति द्वारा अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए धर्म के इस्तेमाल को लेखकों ने पाठकों के समक्ष ला खड़ा किया है।युवा कथाकारों के इन प्रयासों को देखकर एक आश्वस्ति मिलती है कि प्रतिरोध के स्वर अभी भी बुलंद हैं।सांप्रदायिकता जोर लगा रही है परंतु वह तब तक अपने मंसूबों में कामयाब नही होगी जब तक प्रतिरोध होता रहेगा।

**संदर्भ ग्रंथ सूची -**


1. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-09
2. वही, पृष्ठ संख्या-10
3. वही, पृष्ठ संख्या-11
4. वही, पृष्ठ संख्या-13
5. वही, पृष्ठ संख्या-26
6. वही, पृष्ठ संख्या-40
7. वही, पृष्ठ संख्या-47
8. वही, पृष्ठ संख्या-55
9. वही, पृष्ठ संख्या-100
10. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-269
11. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-114
12. वही, पृष्ठ संख्या-124
13. वही, पृष्ठ संख्या-125
14. अहमद, डॉ. एम. फ़िरोज (संपादक), वाङ्मय (नासिरा शर्मा विशेषांक), अलीगढ़, प्रकाशन वर्ष-जून, 2009, पृष्ठ संख्या-111
15. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-381
16. श्री, गीतांजलि, हमारा शहर उस बरस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-193
17. वही, पृष्ठ संख्या-07
18. वही, पृष्ठ संख्या-10
19. जोशी, ज्योतिष, उपन्यास की समकालीनता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-99
20. राय, शशिकला, कथा समय: सृजन और संदर्भ, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-113
21. श्री, गीतांजलि, हमारा शहर उस बरस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-16
22. राय, शशिकला, कथा समय: सृजन और संदर्भ, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-114
23. वही, पृष्ठ संख्या-221
24. मोहन, कृष्ण, आधुनिकता और उपनिवेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- 2006, पृष्ठ संख्या-195
25. वही, पृष्ठ संख्या-262
26. राय, शशिकला, कथा समय: सृजन और संदर्भ, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-

2008, पृष्ठ संख्या-114

27. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-395
28. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-277
29. माजी, महुआ, मैं बोरिशाइल्ला, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-75
30. वही, पृष्ठ संख्या-79
31. वही, पृष्ठ संख्या-79
32. वही, पृष्ठ संख्या-83
33. वही, पृष्ठ संख्या-89
34. वही, पृष्ठ संख्या-170
35. वही, पृष्ठ संख्या-292
36. वही, पृष्ठ संख्या-387
37. वही, पृष्ठ संख्या-380
38. वही, पृष्ठ संख्या-399
39. वही, पृष्ठ संख्या-399
40. वही, पृष्ठ संख्या-399
41. जैन, कान्तिकुमार, *मैं बोरिशाइल्ला: शिखर से प्रारम्भ करने का दुस्साहस*, नया ज्ञानोदय, सं- रवीन्द्र कालिया, जनवरी-2007, पृष्ठ संख्या-24-25
42. आरिफ, मो., उपयात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-9
43. द्विवेदी, शशिभूषण, सृजन 2006, *उपयात्रा: यथार्थवादी रूढ़ियों के बावजूद*, नया ज्ञानोदय, सं- रवीन्द्र कालिया, जनवरी-2007, पृष्ठ संख्या-21
44. आरिफ, मो., उपयात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-28
45. वही, पृष्ठ संख्या-28
46. वही, पृष्ठ संख्या-29
47. वही, पृष्ठ संख्या-31
48. वही, पृष्ठ संख्या-75
49. वही, पृष्ठ संख्या-167
50. वही, पृष्ठ संख्या-105
51. वही, पृष्ठ संख्या-161

# अध्याय- 6

# सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन

6. 1. भाषा
6. 2. शिल्प

## सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन

सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासों का संरचनात्मक अध्ययन आवश्यक है क्योंकि एक कथाकार भाषा, शिल्प तथा पात्रों के प्रति दृष्टिकोण के स्तर पर दूसरे कथाकार से अलग होता है। कहीं-कहीं किसी-किसी बिंदु पर उनमें समानता भी देखी जा सकती है। ऐसे में संरचनात्मक अध्ययन का उद्देश्य भाषा और शिल्पगत स्तर पर विभिन्न विशेषताओं को रेखांकित करना है। यहाँ सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों का विस्तृत संरचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### 6. 1. भाषा

भाषा किसी भी रचना का एक मजबूत पक्ष है। भाषा वह तत्व है जो किसी रचना को अन्य रचनाओं से अलग स्थान दिलाती है। भाषा ही वह डोर है जो किसी रचना को बाँध कर रखती है। जब हम उपन्यास की बात करते हैं तो भाषा और भी महत्वपूर्ण पक्ष बन जाती है। यह माना जाता है कि उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसका सीधा संबंध हमारे जीवन जगत से है। रैल्फ फॉक्स कहते हैं- " उपन्यास केवल मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है-ऐसी पहली कला है, जब सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है। श्री ई. एम. फार्स्टर ने बताया है कि उपन्यास को अन्य कलाओं से अलग करने वाली महान विशेषता यह है कि उसमें गुप्त जीवन को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है।"[1] कथा में वर्णीत जीवन वास्तविक तभी बन सकता है जब उपन्यासकार ऐसी भाषा का प्रयोग करे जो वास्तविक जीवन-जगत से जुड़ी हुई हो। हिंदी उपन्यास के इतिहास में जिस यथार्थवादी उपन्यास की बात की जाती है उसमें भाषा भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो उपन्यास को यथार्थ के अत्यंत निकट ले आता है। साथ ही लेखक को भाषा को लेकर कुछ नये प्रयोग करने पड़ते हैं जिससे बात कहने में नयापन तो आता ही है साथ ही वह पाठकों

को अपनी ओर खींचने में भी अधिक समर्थ बन जाती है। उपन्यास की भाषा पर विचार करते हुए डॉ. गोपाल राय कहते हैं- " औपन्यासिक संरचना को यथार्थवादी स्वर प्रदान करने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उपन्यास का 'गद्य' में लिखे जाने का तर्क भी यही है कि गद्य वास्तविक जिन्दगी में 'व्यवहार' की भाषा है। यद्यपि 'रचना' का गद्य भी 'निर्मित' ही होता है, पर उसमें 'यथार्थ का भ्रम' पैदा करने की क्षमता 'कविता की भाषा' या 'पद्य' की तुलना में अधिक होती है। दुनिया की सभी भाषाओं में, अपवादों को छोड़कर, उपन्यास प्राय: गद्य में ही लिखे जाते हैं।"[2] भाषा ही वह तत्व है जिसके माध्यम से लेखक स्वयं को अभिव्यक्त कर पाता है। प्रतीक, चित्रात्मकता इत्यादि वे साधन हैं जिनके द्वारा लेखक अपने अभीष्ट की पूर्ति कर पाता है। कई बार जो बात कथाकार कहना चाहता है वह सीधे-सीधे कह नहीं पाता या फिर जिस गहराई तक पाठक के हृदय को बींधना चाहता है वह सपाटबयानी से नहीं हो पाता। ऐसे में संकेत, चित्र आदि का सहारा लेकर लेखक अपने कार्य की सिद्धि कर पाता है। सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों के संदर्भ में यह विचारणीय है कि हिंदी के उपन्यासकारों ने भाषा के ऐसे कौन-कौन से तत्वों को रचा और खोजा है जिनके माध्यम से अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति में वे सफल हो पाए हैं।

**6. 1. 1. प्रतीक-** हिंदी उपन्यासों पर यदि गौर किया जाय तो लगभग हर उपन्यास ही प्रतीक बनकर उभरता है। चाहे वह प्रेमचंद कृत **'गोदान'** हो या जैनेन्द्र विरचित **'त्यागपत्र'**। चाहे मन्नू भंड़ारी के उपन्यास **'महाभोज'** को लिया जाय या फिर फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास **'मैला आँचल'** को लिया जाय, सभी उपन्यास किसी न किसी रूप में प्रतीक बनकर उभरते हैं। **'आधा गाँव'**, **'तमस'**, **'कितने पाकिस्तान'**, **'सूखा बरगद'** इत्यादि नाम प्रतीकात्मक ही हैं। **'आधा गाँव'** शीर्षक से ही पाठक को यह पता चल जाता है कि उपन्यास के कथानक में गांव के आधे हिस्से का चित्रण किया गया है। वहीं **'तमस'** शब्द अंधकार एवं तामसी

प्रवृत्तियों का प्रतीक है जो विभाजन के दौरान मनुष्य के सिर चढ़कर बोल रही थी। **'कितने पाकिस्तान'** शीर्षक में प्रयुक्त शब्द 'पाकिस्तान' भी किसी राष्ट्र का नाम न होकर प्रतीक ही है। पूरे विश्व में धर्म, भाषा, क्षेत्र, वर्ण, जाति आदि के आधार पर नित हो रहे विभाजन को दर्शाता हुआ प्रतीक है 'पाकिस्तान' जबकि **'सूखा बरगद'** शीर्षक में 'बरगद' भारतीय संस्कृति का प्रतीक है जो कभी हरा-भरा था लेकिन सांप्रदायिक सोच रूपी दीमक ने इसे चाट-चाटकर खोखला बना दिया है। लहलहाता हुआ बरगद अब सूख चुका है।

**'आधा गाँव'** उपन्यास में कथाकार राही मासूम रज़ा ने गंगौली नामक ग्राम का चित्रण किया है। पूरे गाँव का नहीं बल्कि गाँव में रहनेवाले सैयदों के परिवार का जो लगभग गाँव की कुल आबादी का आधा हिस्सा हैं। गंगौली को भारतीय ग्रामों के प्रतीक के रूप में भी देखा जा सकता है। उपन्यास में वर्णित पाकिस्तान मुसलमानों के लिए एक प्रतीक बन चुका है। जिसे मुसलमान अल्लाह का घर मानने लगे। हर मुसलमान पाकिस्तान के स्वप्न देखने लगा। पढ़े-लिखे तबके में पाकिस्तान के प्रति मोह ज्यादा था जबकि ग्रामीण समाज में पाकिस्तान से ज्यादा हिंदुस्तान के लिए मोह था।

उपन्यास में ऐसे पात्र भी हैं जो विभाजनकारी ताकतों के हाथों का खिलौना बन बैठे हैं। ये उन भारतीयों के प्रतीक हैं जिन्होंने वर्षों की साझी संस्कृति भुला दी और एक-दूसरे के खिलाफ विष-वमन करने लगे। वहीं कुछ ऐसे लोगों को भी उपन्यासकार ने उपन्यास में दिखलाया है जिनके लिए पाकिस्तान का बनना-न बनना कोई मायने नहीं रखता था। वहीं इस उपन्यास में ऐसे भारतीयों को भी दिखलाया गया है जिन्होंने विभाजन के बाद पाकिस्तान चले जाना ही मुनासिब समझा। उनकी यही सोच थी कि केवल पाकिस्तान ही मुसलमानों का ऐसा राष्ट्र है जहां उन्हें बराबरी मिलेगी मगर कालान्तर में यह साबित हो गया कि यह सोच कितनी गलत थी। इन सभी प्रकार के व्यक्तियों को **'आधा गाँव'** उपन्यास के अलावा **'तमस'**,

**'सूखा बरगद'**, **'जिंदा मुहावरे'**, **'ज़िन्दगीनामा'**, **'हमारा शहर उस बरस'** आदि उपन्यासों में देखा जा सकता है।

कथाकार भीष्म साहनी ने **'तमस'** उपन्यास में प्रतीकों के माध्यम से कई बातें कहने का प्रयास किया है।उपन्यास की यह पंक्ति द्रष्टव्य है- " लगता है शहर पर चीलें उड़ेंगी।आसार बहुत बुरे हैं।"[3] उपन्यास के एक पात्र बख्शी जी के उपरोक्त कथन में प्रतीकात्मकता को आसानी से देखा जा सकता है।'शहर पर चीलें उड़ने' से सीधा तात्पर्य किसी विपत्ति से है।इस प्रकार के प्रयोग से पाठकों में कौतूहल की सृष्टि भी होती है।उसमें यह जानने की इच्छा प्रकट होने लगती है कि आने वाले समय में क्या होने वाला है ? ऐसे प्रतीकात्मक प्रयोग से उपन्यास की रोचकता और पठनीयता बनी रहती है।

युवा कथाकार मो. आरिफ के उपन्यास **'उपयात्रा'** में भी प्रतीकात्मक प्रयोग देखने को मिलते हैं।उदाहरणस्वरूप इस उद्धरण को देखा जा सकता है- " दरअसल पिछले कुछ महिनों में मैंने देखा था कि हर तरफ इसी रंग का बोलबाला था।रातोंरात मनुष्यों के सिरों से लेकर घरों की छतें और पेड़ों की फुनगियाँ सभी केसरिया रंग में रँग गए थे और मुसलमानों के दिल धड़कना शुरू हो गए थे।"[4] यहां केसरिया रंग आंतक का प्रतीक है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों द्वारा पोषित आतंक को उभारने में लेखकीय कौशल को उपरोक्त पंक्तियों में देखा जा सकता है।

प्रतीकात्मकता का एक और सुंदर उदाहरण गीतांजलि श्री के उपन्यास **'हमारा शहर उस बरस'** से भी देखा जा सकता है- " पता नहीं, कहाँ से पत्थर आया या गेंद थी, जो खेलते बच्चों ने झाड़ी पर दे मारी ? पर मठ छिड़ गया और कँटीली झाड़ी में छिपा मधुमक्खी का छत्ता छिड़ गया।सुना, भन-भन करती गुस्से से पागल मधुमक्खियों ने न जाने कितनों के चेहरे चूस डले और उनके चेहरों पर लोथ के टुकड़े लटक आए।"[5] विश्वविद्यालय के पास

बने मठ को लेखिका मधुमक्खी का छत्ता कहती हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी के छत्ते में कोई पत्थर लगने से ही छत्ता छिड़ जाता है और मधुमक्खियाँ टूट पड़ती हैं उसी प्रकार मठ पर चोट लगने की देर थी कि सभी संत, महात्मा अपना आपा को बैठते हैं। शहर का माहौल यकायक बिगड़ जाता है। धर्म के नाम पर मासूम लोगों की नृशंस हत्या की जाती है।

कथाकार नासिरा शर्मा के उपन्यास **'जिंदा मुहावरे'** में भी प्रतीकात्मक प्रयोग के सुंदर उदाहरण देखे जा सकते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- " पिंजड़े में कुल बारह मुनियाएं थीं। जब तक झोली में 'कंगनी' के दाने रहे, वे खाती रहीं और गाती रहीं, फिर कंगनी के अलावा उन्होंने किसी दाने को न छुआ। गेहूं और चावल कूटा, मगर बेकार। आटे की गोली दी, सूखी रोटी का चूरा दिया, मगर उन्होंने कुछ न खाया। चार दिन तक वे खाली पेट आदत के मुताबिक गाती रहीं और वह गली-गली, दुकान-दुकान कंगनी के दाने ढूंढ़ता रहा। उसके गले से भी रोटी फंस-फंस कर उतरती और पांचवे दिन जोड़े टूटने लगे। हर चिड़िया को वह उठाकर सहलाता, उसकी लाल चोंच और लाल काले डैनों पर पड़े सफेद मोतियों को थपकता, फिर उस सुहागिन चिड़िया के मुर्दा जिस्म को जमीन में गाड़ देता।"[6]

उपरोक्त उद्धरण में यह देखा जा सकता है कि आलोच्य उपन्यास का नायक निज़ाम जो लालमुनिया पक्षी के अलावा भारत से पाकिस्तान जाते वक्त और कुछ भी साथ नहीं लाया था, वे भी अब निज़ाम का साथ छोड़ कर काल कलवित हो गयीं। ये पक्षी ही पाकिस्तान में निजाम के परिचित थे। इनके अलावा निजाम पाकिस्तान में और किसी को पहचानता न था। अकेले देश में निजाम एकाकी जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। इसी अभिशप्त जीवन को उपरोक्त पंक्तियां बयां करती हैं। साथ ही लालमुनिया पक्षी का भोजन के अभाव में मर जाना केवल किसी पक्षी का भोजनाभाव में मरना नहीं बल्कि विषम परिस्थितियों में मनुष्य के टूटने का दर्द भी है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने प्रतीकात्मकता के माध्यम से कई संदर्भों को उजागर करने का प्रयास किया है। जो बात सीधे-सीधे कह पाने में लेखक कठिनाई महसूस करता है, वही बात बड़ी आसानी से वह प्रतीकों के माध्यम से समझा जाता है। अत: प्रतीकात्मकता की भूमिका स्वयंसिद्ध है। इन उपन्यासों में प्रतीकात्मक प्रयोग के ढ़ेरों उदाहरण भरे पड़े हैं।

**6. 1. 2. चित्रात्मकता-** उपन्यास लेखन में किसी घटना का दृश्य के रूप में उभरना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है कि जिस घटना का वर्णन कथाकार करने जा रहा है, वह पाठक को सजीव लगे। जरूरी नहीं कि वह कोई घटना ही हो, कथाकार किसी गाँव का भी वर्णन कर सकता है, दिन के किसी खास समय का भी वर्णन कर सकता है या किसी मानवेतर पात्र का भी वर्णन कर सकता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि जो वर्णन लेखक करना चाहता है वह पाठक के अनुभव जगत का भी हिस्सा हो। सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने भी गांवों, शहरों, सांप्रदायिक दंगों, मनुष्य की हैवानियत, दंगों के बाद की परिस्थितियों आदि का बड़ा ही मार्मिक एवं जीवंत चित्रण किया है।

**'आधा गांव'** उपन्यास के लेखक राही मासूम रज़ा एक ऐसे कथाकार रहे हैं जो दृश्य-श्रव्य माध्यम और दृश्य माध्यम के बीच के संवादों के अंतर को बखूबी समझते थे। कैसे किसी परिवेश को पाठक के सामने खड़ा करना है, इस कार्य को कथाकार राही मासूम रज़ा बेहतर ढंग से जानते थे। **'आधा गांव'** उपन्यास की बिल्कुल अंतिम पंक्तियां इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं- " बाहर सुबह बहुत खूबसूरत थी। सहान में एक मुर्गा एक मुर्गी का पीछा कर रहा था और एक कौवा खपरैल की कलस पर बैठा न मालूम किसे आवाज दे रहा था। गौरैया का एक ग़ोल फुस्सू मियाँ के कन्धे के ऊपर से उड़ता हुआ गुजर गया। गढ़ई के

किनारे दो-तीन नंग-धड़ंग बच्चे एक-दूसरे पर पानी उछाल रहे थे। और एक तरफ़ एक जवान लड़की साड़ी को घुटनों तक उठाये बैठी बरतन माँज रही थी। टेढ़ी-मेढ़ी कंकर की सफ़ेद सड़क पर एक जीप धूल उड़ाती चली आ रही थी। सामने तालाब के पास ईंटों के भट्टे की चिमनी से गाढ़ा धुआँ निकल रहा था। एक छोटा-सा बच्चा बग़ल में बस्ता लटकाये हुए तेजी से भागता हुआ गुजर गया।"[7] इस उद्धरण को पढ़ते वक्त सहज रूप से पाठक के अंतस् में एक दृश्य उभर आता है और सारी चीजें एक के बाद घटित होते चली जाती हैं और पाठक यह महसूस करने लगता है जैसे वह यह दृश्य साक्षात देखता है जबकि वह इसे पढ़ रहा है। यही लेखकीय कौशल का कमाल है।

**'तमस'** उपन्यास में किसी अनिष्ट के घटने के पहले की घटना का चित्रण करते हुए लेखक की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है- " तभी कुएँ की ओर से किसी के भागते कदमों की आवाज आयी। तीनों ने घूमकर देखा, एक गाय भागती आ रही थी। उसके पीछे-पीछे एक आदमी सिर पर मुँडासा बाँधे और हाथ में डण्डा लिये गाय के पीछे-पीछे भागता हुआ, उसे हाँके लिये जा रहा था। उसकी छाती खुली थी और गले में ताबीज झूल रहा था। चिकनी खालवाली, बादामी रंग की गाय थी, मोटी-मोटी चकित-सी आँखें। डर के ही मारे उसकी पूँछ उठी हुई थी। लगता जैसे रास्ता भटक गयी है।"[8] उपरोक्त पंक्तियों में न केवल कथाकार वातावरण में मौजूद भयावहता को चित्रित करने में सफल हुआ है बल्कि आनेवाले समय में किसी अनिष्ट की दस्तक भी इन पंक्तियों के माध्यम से कथाकार देता है।

कथाकार मो. आरिफ के उपन्यास **'उपयात्रा'** में ऐसे चित्रों की भरमार मिलती है। उदाहरणस्वरूप उपन्यास की निम्नलिखित पंक्तियां देखी जा सकती हैं- " लेकिन शाम के चार बजते-बजते हुसैनपुरा के मुसलमान खौफजदा होने लगे। नेशनल हाइवे एक युद्धमार्ग में तब्दील हो चुका था। पैदल कारसेवकों की लम्बी लाइनें, साइकिलें, गाड़ियाँ, सभी गायब थीं।

अब कारसेवक भयभीत कर देने वाले बड़े-बड़े समूहों में आ रहे थे।उसकी चाल ऐसी कि हुसैनपुरा के हिस्से की धरती काँप उठती थी।एक हाथ में ईंट, दूसरे में ध्वंस करने का कोई औजार लिए और जयश्रीराम का उद्घोष करते वे बढ़े जा रहे थे।एक समूह निकला नहीं कि दूसरे कि दिल दहला देने वाली खतरनाक आमद सुकून से बैठने न देती थी।उन्माद और प्रत्याशा से खिंचे जा रहे कारसेवकों के समूह रणक्षेत्र की ओर प्रस्थान कर रहे मध्यकालीन सैनिक गिरोहों जैसे प्रतीत हो रहे थे।बँधी मुट्ठियाँ, भिंचे दात, सुर्ख चेहरे, गर्दन की फूली नीली नसें—विजय-दुंदुभि बजाते गोलबन्द कारसेवकों का दृश्य असहनीय होता जा रहा था।"[9] बाबरी मस्जिद ध्वंस के लिए जा रहे कारसेवकों के जत्थों के द्वारा रचे जा रहे भयावह वातावरण का चित्रण लेखक ने उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से किया है।जब देश की बहुसंख्यक जनता ही ऐसा आचरण करेगी तो देश की अल्पसंख्यक जनता में सहज रूप से ही भय का होना लाज़मी है।अल्पसंख्यक समाज के एक छोटे से टुकड़े की मानसिक दशा का वर्णन करने के लिए ही लेखक कहता है- " कुछ दृश्यों को शब्दों में उतारने के लिए उपमाएँ बड़े काम की होती हैं।मैं कहूँगा कि अवसाद और चिन्ता से त्रस्त गाँव वाले भयाक्रांत भेड़ों जैसे लग रहे थे जिन्हें भेड़ियों ने चारों ओर से घेर लिया था।कारसेवकों की आँखों में जो कहर बरसाने वाली आग जल रही थी उसने मजबूत से मजबूत मुसलमानों की हवा निकाल दी।"[10] उपरोक्त पंक्तियां मुसलमानों की मानसिक दशा का वर्णन करने में सक्षम हैं।चारों ओर से घिरा हुआ मनुष्य स्वयं को सुरक्षित कैसे महसूस कर सकता है।भेड़ियों के बीच भेड़ जैसी उपमा से पूरा दृश्य मानों साक्षात नज़रों के सामने आ जाता है।

कथाकार नासिरा शर्मा के उपन्यास **'जिंदा मुहावरे'** में भी चित्रांकन का सुंदर नमुना देखने को मिलता है- " दोपहर की धूप घनघना कर जमीन पर पालथी मारकर बैठ गई थी।लालमुनियाओं ने दाना चुगना और पिंजड़े में झूला झूलना बन्द करके गाना गाना शुरू कर

दिया था। उनके गाने के सुरों में जाने क्या था कि आंखों के सामने घर का आंगन तैर गया और अमरूद के घने पेड़ की शाख पर टंगा पिंजड़ा और अम्मां की पुकार, " कहां जात हो, नन्हे ? तवे पर रोटी डल रही है, अब खाना खाए के बाहर निकलो।"[11] कथाकार नासिरा शर्मा एक ऐसी लेखिका हैं जिनके पास जीवंत भाषा का खजाना है। उपरोक्त उद्धरण में इसकी एक बानगी देखने को मिलती है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन उपन्यासकारों ने भाषा में चित्रात्मकता के माध्यम से अभिव्यक्ति का प्रयास किया है। दंगों, विभाजन के पहले और बाद के वातावरण को और भी अधिक व्यंजक ढंग से दिखाने में ये उपन्यासकार अत्यंत सफल रहे हैं।

**6.1.3. भाषायी प्रयोग- 'आधा गाँव'** उपन्यास अपने प्रकाशन के साथ ही उपन्यास लेखन की एक विशिष्ट धारा के अंतर्गत देखा जाने लगा जिसे आँचलिक उपन्यास के रूप में जाना जाता है। इससे पहले फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास **'मैला आँचल'** साहित्य जगत में अपनी आँचलिकता के कारण धूम मचा चुका था। रेणु के बाद ग्रामीण जीवन को लेकर, उसकी बोली, सामाजिक संरचना इत्यादि को लेकर उपन्यास लिखने का फैशन ही चल निकला। इसी क्रम में जोड़कर हिंदी के आलोचकों ने आधा गांव उपन्यास को भी देखा। इस उपन्यास में जिस गांव का चित्रण किया गया है, उनकी भाषा, रीति-रिवाज़ आदि का जिस तरह प्रयोग किया गया है, आलोचकों ने इस उपन्यास को आँचलिक उपन्यास की कोटि में रख दिया। आलोच्य उपन्यास में राही ने गंगौली गांव का वर्णन किया है और जिस भाषा का प्रयोग उपन्यास में किया गया है वह हिंदी के पाठकों के लिए सर्वथा नयी थी। इस उपन्यास के संबंध में अब्दुल बिस्मिल्लाह कहते हैं- " भाषा-चयन और भाषा-प्रयोग के मामले में राही साहब ने एक अद्भुत कारनामा किया है। वह यह कि उन्होंने खास तौर से 'आधा गांव' के मुस्लिम

परिवार की भाषा का प्रयोग किया है। यह भाषा बिलकुल टिपिकल है। गाजीपुर जिले के हिन्दुओं या दूसरे लोगों की भाषा वह नहीं है जो मुस्लिम परिवारों में बोली जाती है। वह विशेषीकृत भाषा है। भाषा विज्ञान में एक पारिभाषिक शब्द है-आई डाइलेक्ट। हर इलाके ही नहीं, बल्कि हर व्यक्ति की आई डाइलेक्ट होती है। हर व्यक्ति के बोलने का लहजा अलग होता है। इसे आई डाइलेक्ट कहा गया है। इसका अनुवाद 'व्यक्ति-बोली' किया जा सकता है। मैं समझता हूं, यह गाजीपुर की आई डाइलेक्ट है। क्योंकि एक विशेष समुदाय के लोग ही उस तरह की भाषा बोलते हैं। पड़ोसी हिन्दू वह भाषा नहीं बोलता जो मुस्लिम परिवार के लोग बोलते हैं। हिन्दी साहित्य में ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता।"[12] उपन्यास में देशज भाषा का प्रयोग उपन्यासकार ने स्थल-स्थल पर किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- "... बाक़ी हमहूँ बिवयने में रहीला। कुछ कह देइब त आप चिचियावत नुनहरा तक चल जइहें।"[13] भाषा किसी भी समाज की संस्कृति का प्रतिबिम्ब होती है। संस्कृति का एक बड़ा अटूट रिश्ता भाषा के साथ होता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह का यह मानना है कि राही वो पहले लेखक हैं जिन्होंने शिया समुदाय की संस्कृति और भाषा से पाठकों को परिचित कराया है। वे कहते हैं- " भाषा केवल शब्द और वाक्य नहीं होती, बल्कि जब हम भाषा कहते हैं तो उसका संबंध संस्कृति से जुड़ जाता है। हर भाषा की अपनी एक संस्कृति होती है और हर संस्कृति की अपनी एक भाषा होती है। मैं समझता हूं कि राही साहब अकेले ऐसे लेखक हैं जिन्होंने शिया समुदाय की संस्कृति और भाषा से पाठकों का परिचय कराया है। हर समुदाय की भाषा भिन्न होती है। जैसे आई डाइलेक्ट भिन्न होती है उसी तरह समुदाय की भाषा भी भिन्न होती है। दुनिया के दूसरे देशों के मुसलमान अपने-अपने देश की भाषा बोलते हैं-चाहे वे शिया हों या सुन्नी, लेकिन भारत के शिया और सुन्नी समुदाय की भाषा एक नहीं है। हिन्दी में जितनी विविधता है उतनी विविधता और कहीं नहीं है। हिन्दी की यह ताकत है, उसका अपना गुण है। राही

मासूम रजा को इस विविधता की पहचान थी और उन्होंने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।"[14] 'सय्यद', 'मुस्कियात', 'पकइबे', 'तोहरी' जैसे देशज शब्दों के ढ़ेरों उदाहरण उपन्यास में देखे जा सकते हैं।दरअसल ऐसी भाषा का प्रयोग उपन्यासकार ने कथा को विश्वसनीय बनाने के लिए किया है।उपन्यास से गुजरते हुए पाठक यह महसूस करता है कि वह सचमुच उत्तर प्रदेश के किसी गाँव के शिया मुसलमानों के बीच ही है।लेखक जान-बूझकर ऐसी भाषा का प्रयोग करता है क्योंकि उसका मानना है कि यही उसकी भाषा है जिससे वह अच्छी तरह परिचित भी है।वह किसी और भाषा का प्रयोग नहीं करता।उपन्यास के पढ़े-लिखे पात्रों के संवाद उर्दू में बदल जाती है जो नफ़ासत और नज़ाकत से लदी हुई है।कई स्थलों पर ग्रामीण पात्र इस भाषा से दूरी महसूस करते हैं और घृणा भी करते हैं साथ ही ऐसी भाषा का प्रयोग करनेवाले को उलाहना भी देते हैं।ऐसे स्थलों पर व्यंग्य की हल्की मार भी देखने को मिलती है।इन छोटे-छोटे स्थलों पर व्यंग्य के प्रयोग राही अत्यंत सफल हुए हैं।

**'तमस'** उपन्यास की भाषा पर नज़र ड़ालते हुए यह देखा जा सकता हैं कि उपन्यास के सभी पात्र चाहे वह सिक्ख हो या मुसलमान पंजाबी मिश्रित हिंदी का प्रयोग करता है।उपन्यास के हिन्दू पात्रों की भाषा में भी पंजाबी भाषा की सौधी-सौंधी खुशबू मिलती है। कथाकार कहीं भी यह खुलकर नहीं कहता कि कथा किस क्षेत्र की है लेकिन जिस प्रकार प्रभात फेरी के गीत पंजाबी में गाये जाते हैं पाठकों को यह समझते देर नहीं लगती कि यह कथा पंजाब के किसी शहर को केन्द्र में रखकर लिखी गयी है।हाकिम सिंह की पत्नी और दर्जी खुदाबख्श की बातचीत तो पूरी तरह से पंजाबी में ही होने लगती है।लेखक उसका अर्थ नीचे देता चलता है ताकी पाठकों को अर्थ समझने में किसी प्रकार का कष्ट न करना पड़े लेकिन अचानक इन दोनों का वार्तालाप हिंदी में होने लगता है जिससे प्रवाह में बाधा आती है।वार्तालाप उसी रूप में पंजाबी में ही होना चाहिए था जिस रूप में वह पहले चल रहा था।

उपन्यासकार उसी प्रकार अर्थ नीचे देकर कथा को आगे बढ़ा सकता था मगर ऐसा उसने क्यों किया ? कह पाना कठिन है।उपन्यास में लीजा और रिचर्ड की भाषा में अंग्रेजी का पुट देखने को मिलता है खासकर तब जब लीजा अपने हिन्दुस्तानी नौकरों से वार्तालाप करती है। जहाँ-जहाँ कथाकार नेरेटर के रूप में मौजूद है वहाँ-वहाँ उपन्यास की भाषा हिंदी है।**'तमस'** उपन्यास की भाषा सांप्रदायिक माहौल को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है।इसे लेखक का कौशल भी कहा जा सकता हैं।**'तमस'** उपन्यास एक शहर को केन्द्र में रखकर लिखा गया है इस कारण पात्रों की भाषा में आभिजात्यपन छलकता है।इसके पात्रों की भाषा **'आधा गाँव'** के पात्रों की तरह ग्रामीणपन और ठेठपन से परे है।भीष्म साहनी ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** बनारस के बुनकर समाज को ध्यान में लेकर लिखा गया है।उपन्यासकार ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उससे साफ-साफ समझ में आता है कि जिस समाज को ध्यान में रखकर लिखा गया है वह अनपढ़ है, गँवई संस्कृति से पूरी तरह सराबोर है।भाषा किसी भी उपन्यास को विश्वसनीय बनाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है और अब्दुल बिस्मिल्लाह भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे पाठक को उपन्यास में वर्णित घटनाऐं विश्वसनीय प्रतीत हों।उपन्यास में प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-' तूँ केहर के हों म्याँ ?', 'केत्तर क हउरा है म्याँ ?', 'एकबलवा क नउवाँ लिखाय दो एनापारी।' 'तोरे में एतनी दम्मो है ? तोरे बाप तो मारी नाँहीं सकतेन, तैं का मरबे बे ?' इन उदाहरणों में देखा जा सकता है कि भाषा बिल्कुल देशज रूप में है।हिन्दी का परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप नहीं है।ग्रामीण बोली और देशज शब्दों की महक से भरी हुई भाषा इस उपन्यास में प्रयोग की गयी है।

उपन्यासकार ने मुहावरों का भी देशज प्रयोग किया है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है- 'मसल है कि थाली हेराती है तो लोग उसे सुराही में भी ढूँढते हैं।'[15]

जहाँ कहीं उपन्यासकार नेरेटर के रूप में उपन्यास में खड़ा है वहीं भाषा में बदलाव देखा जा सकता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- " लेकिन मतीन अपने तीस आदमियों की तलाश में घूम रहा है। जब तक वह तीस आदमी इकट्ठे नहीं कर लेगा, उसे चैन नहीं। अगर कुल मिलकर साठ हजार भी मिल गये लोन के तो दो-दो हजार हिस्सा आयेगा। इतना बहुत है। जिसके पास करघा नहीं है वह करघा गाड़ लेगा, जिसके पास करघा है वह कतान गाड़ लेगा और जिसके पास करघा भी है और कतान भी है वह अपने कारोबार को और भी बढ़ा लेगा।"[16] यहाँ यह देखा जा सकता है कि भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित है और बिल्कुल ही बदल गयी है।

**'सूखा बरगद'** उपन्यास में लेखक ने जैसी भाषा का प्रयोग किया है वह देखने योग्य है। एक ओर इनकी भाषा में कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता है वहीं दूसरी ओर भोपाल शहर को केन्द्र में रखकर लिखे जाने के कारण वहाँ के कुछ शब्दों का भी उपन्यासकार ने प्रयोग किया है। भोपाल शहर में बोली जानेवाली हिंदी और अन्य हिन्दी प्रदेशों में बोली जानेवाली हिंदी में कोई खासा फर्क नहीं है। कुछ शब्द हिंदी की प्रकृति से मेल नहीं खाते और अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं उदाहरणस्वरूप एक शब्द है 'अपन'। यह शब्द भोपाल में 'हमलोग' के तौर पर प्रयोग में लाया जाता है जबकि मानक हिंदी में ऐसा कोई शब्द मौजूद नहीं है। उपन्यास की भाषा भोपाल के रंग से पूरी तरह सराबोर है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

" आओ, आओ, बिटिया आओ।" जब कभी मैं उनके घर के सामने से निकलती तो इब्बू दादा बड़े दुलार से आवाज देते- " अरी ओ हरामजादी कल्लो !" दूसरी साँस में

वह अपनी बेटी को फटकारते- " अरे मैने कित्ती देर पेले तुझे खली भिगोने को कहा था ! काँ रेता है तेरा दिमाग ! दारी बिलकुल अपनी मय्यो पे गई है ! जबान या लाठी, किसी का असर नहीं होता !"[17]

उपरोक्त उद्धरण में यह देखा जा सकता है कि उपन्यासकार ने यथासंभव भाषा को देशज रूप देने का प्रयास किया है। पूरे उपन्यास में रशीदा 'मैं' बनकर उपन्यास में उपस्थित है और पाठक तमाम घटनाओं और पात्रों को रशीदा की नजर से ही देखता है। घटनाओं के वर्णन के दौरान भी उपन्यासकार ने यथासंभव यह कोशिश की है कि रशीदा की भाषा भी पात्रों के अनुरूप बदलती रहे। जब कभी अब्बू, सुहेल, विजय, परवेज आदि पात्रों के बीच का वार्तालाप उपन्यास में आया है तो भाषा में एक शहरीपन, आभिजात्यपन देखने को मिलता है। भाषायी स्तर पर एक और प्रयोग उपन्यास में किया है। पात्रों के वार्तालाप के दौरान कभी भी पूरा का पूरा वाक्य कोई भी पात्र नहीं कहता। रशीदा और रशीदा के माध्यम से उपन्यासकार बीच में उपस्थित होकर यह बताता है कि अमुक बात किसने कही और फिर बाकी का अंश दिया गया है। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है- " मेरे भरोसे रही तो जाने क्या हो," अब्बू ने कुछ-कुछ मायूस-सी हँसी हँसते कहा था- " आज तक जो भी मेरे जिम्मे छोड़ा, कुछ भी तो तुम्हारी मर्जी के मुताबिक नहीं हो पाया।"[18] यहाँ लेखक ने अब्बू की मायूसी से भरी बात का जिक्र बीच में किया है न कि आरंभ में। लेखन की इस प्रविधि के कारण उपन्यास पठनीय बन जाता है।

**'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास अब तक लिखे गये उपन्यासों की लेखन परम्परा में भाषा, शिल्प और रूप के मामले में बिल्कुल ही हटकर लिखा गया है और इसी कारण यह उपन्यास पठनीयता के मामले में सर्वाधिक लोकप्रिय भी रहा। इसकी लोकप्रियता को देखकर तो यह कहा ही नहीं जा सकता कि हिन्दी के पास पाठकों की कमी है। **'कितने पाकिस्तान'**

उपन्यास की भाषा पर विचार करते हुए यदि यह कहा जाय कि अबतक हिन्दी में लिखे गये उपन्यासों में प्रयोग की गयी भाषा से बिल्कुल हटकर कमलेश्वर ने उपन्यास लेखन के लिए बिल्कुल नयी भाषा इजाद की है तो अतिशयोक्ति न होगी। ध्यातव्य है कि कमलेश्वर न केवल एक बड़े कथाकार थे बल्कि हिंदी के कथाकारों में सर्वाधिक ऐसे सफलतम शख़्सियत हैं जिन्हें सिनेमा जगत में प्रसिद्धि मिली। न केवल यह बल्कि विभिन्न कार्यक्रमों में सफलता के साथ कमलेश्वर ने धारावाहिकों के लिए संवाद भी लिखे। किसी भी धारावाहिक को रोचक बनाने के लिए उसकी भाषा को चुस्त-दुरुस्त रखना आवश्यक है। इसलिए कमलेश्वर भी यह अच्छी तरह से जानते हैं कि उपन्यास की भाषा को चुस्त-दुरुस्त कैसे रखा जाय। भाषा को जानदार बनाये रखने के लिए लेखक ने कहीं फिल्मों की भाषा का प्रयोग किया है तो कहीं उनकी भाषा पाठकों के सम्मुख विम्ब खड़ा कर देती है। उपन्यास में लेखक ने प्रागैतिहासिक काल के पात्रों को चुना है, तो मुगलकाल के कुछ पात्रों को भी उपन्यास में स्थान दिया है और आधुनिक काल के पात्रों का भी जमावड़ा पूरे उपन्यास में मौजूद है।

उपन्यास में इतने पात्रों का बड़ा जमावड़ा है इसलिए हर युग के पात्रों के अनुरूप कथाकार ने भाषा का प्रयोग किया है। उपन्यास की भाषा पर विचार करते हुए डॉ. विजय बहादुर सिंह कहते हैं- " यह कहानी जिस भाषा में कही गई है वह जितनी हिंदी है, उतनी ही उर्दू भी। वस्तुत: यह न तो ठेठ हिंदी है न ठेठ उर्दू। दो साहित्यिक विरासतों के मेल-जोल से पैदा हुई यह वह हिन्दुस्तानी हिंदी है जिसे कुछ लोग खुशफहमी में भारतीय हिंदी भी कहना चाहेंगे। सच जबकि यह है कि यह आधुनिक हिंदी है जिसमें परम्परा की जानी-पहचानी सुगंधों के साथ उसकी गहरी अर्थ-छायाएँ भी मौजूद हैं। यह जितना कहती है उतना ही सोचती भी है। जितना तर्क करती है उससे कई गुना संवेदन-प्रखर है। इसके शब्द शताब्दी की पीड़ाओं में डूबे रहकर भी भविष्यहीन नहीं हुए हैं। इसके संस्कारों में अनौपचारिकता,

आत्मीयता और परिचयों के अनेकानेक मुकाम हैं।पुराण, इतिहास, प्रश्न- जिज्ञासा, क्षोभ-रोष, प्रभु और आस्था में डूबी इसकी प्रतिध्वनियाँ इतनी करुण, मार्मिक किंतु संगीतमय है कि लगता है हम किसी महासमर की तमाम चीत्कारों के बीच जीवन का कोई कोमल, मधुर कोमल और करुण संगीत सुन रहे हों।"[19] **'कितने पाकिस्तान'** लिखकर कमलेश्वर ने सभी कथाकारों के सम्मुख एक चुनौती पेश की है।भाषा के स्तर पर कमलेश्वर ने जो प्रयोग किया है उस स्तर को छू पाना किसी भी कथाकार के लिए दु:साध्य कार्य है।एक ओर इतिहास को साधना है और दूसरी वर्तमान को अपनी लेखनी द्वारा बांधना है और यह कार्य कमलेश्वर जैसा सिद्धहस्त लेखक ही कर सकता है।

एक ओर कमलेश्वर के पास इतिहास का गहरा अध्ययन और गहरी समझ है तो दूसरी ओर भारतीय कथा-परंपरा का व्यापक अध्ययन भी है।कमलेश्वर ने अपने इस अध्ययन का पूरा उपयोग **'कितने पाकिस्तान'** में किया है और इसी कारण कमलेश्वर का आलोच्य उपन्यास अपने आप में बेजोड़ उपन्यास बन जाता है।ध्यान देने की बात यह है कि तमाम तरह के प्रयोग करने के बावज़ूद यह उपन्यास पठनीय और रोचक है जिसका पूरा श्रेय इसकी भाषा को दिया जाना चाहिए।अमूमन यह देखा गया है कि इतिहास कई बार उबाऊ होता है क्योंकि वह केवल तथ्यों का संग्रह भर होता है लेकिन कमलेश्वर ने अपने उपन्यास में इतिहास के कई मुद्दों को उठाया है, इसके बावज़ूद यह उपन्यास कहीं भी उबाऊ अथवा बोझिल नहीं बनता।शुरू से लेकर अंत तक उपन्यास धाराप्रवाह चलता रहता है और सभ्यता-विर्मश के कई मुद्दों को उठाता चलता है।यह उपन्यास एक साथ भूतकाल, वर्तमान और भविष्यकाल में चलता है।भूतकाल की घटनाओं को यह उपन्यास बार-बार उठाता है और वर्तमान की घटनाओं के साथ हर बार यह जुड़ता चला जाता है।साथ ही हमें यह आगाह भी करता चलता है कि यदि समय रहते हम सचेत न हुए तो भविष्य अंधकारमय हो

जायेगा। यह समस्त कौशल उपन्यास की भाषा और शिल्प के कारण ही देख सकते हैं। इस उपन्यास की भाषा की आलोचना साहित्यिक जगत में काफी हुई और उसपर यह आक्षेप लगाया गया कि यह न केवल दुर्बोध है बल्कि हिंदी की प्रकृति के अनुरूप भी नहीं है लेकिन जिस रूप में केवल 6 वर्षों के अन्तराल में इस उपन्यास के दस संस्करण निकल चुके हैं यह स्वयं ही सिद्ध करता है कि **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास की भाषा पर लगाये गये सभी आरोप कितने बेबुनियाद हैं।

कृष्णा सोबती द्वारा लिखित **'जिंदगीनामा'** उपन्यास भाषायी स्तर पर अपने नयेपन के कारण चर्चित रहा है। भाषायी स्तर पर यह उपन्यास एक नया विमर्श हिंदी कथा-साहित्य में खड़ा करता है। **'जिंदगीनामा'** की भाषा सभी आलोचकों के सम्मुख यह सवाल खड़ा करती है कि क्या किसी प्रदेश विशेष की या अंचल विशेष की भाषा भी हिंदी उपन्यास या कहानी की भाषा बन सकती है। **'जिंदगीनामा'** से पहले फणीश्वरनाथ रेणु ने भी अपने उपन्यास **'मैला आंचल'** में ऐसा ही एक प्रयोग किया था लेकिन चूंकि **'मैला आंचल'** में प्रयुक्त भाषा एक हिंदी प्रदेश की ही भाषा थी अतएव इसकी भाषा को लेकर कोई विरोध नहीं हुआ बल्कि उसे सराहा गया। इसके ठीक उलट **'जिंदगीनामा'** उपन्यास में स्वतंत्रतापूर्व के पंजाब प्रांत के 'डेराजट्टां' की भाषा का प्रयोग किया गया है जो खालिस पंजाबी है। इसे साधारणत: किसी हिंदीभाषी के लिए समझ पाना कठिन है। कई पाठकों एवं आलोचकों ने इस उपन्यास की भाषा को लेकर अपनी आपत्ती जतायी है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी इस उपन्यास की भाषा पर विचार करते हुए कहते हैं-" इस उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें सब कुछ बेतरतीब और अनियंत्रित है। कथा-विन्यास में कसावट का नितान्त अभाव है। इसकी भाषा में पंजाबीपन इतना अधिक है कि कहीं-कहीं हिन्दी का सामान्य पाठक विचलित हो जाता है। पूरा उपन्यास, हिन्दी-उपन्यास के वर्तमान ढाँचे के लिए चुनौती बनकर उपस्थित

हुआ है।"[20] निश्चित रूप से आलोच्य उपन्यास हिंदी उपन्यास के ढांचे के सम्मुख एक चुनौती है।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि हिंदी में किसी और भाषा का आना वर्जित है।एक ओर हिंदी में दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रवेश पर निषेध वहीं दूसरी ओर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग।क्या अन्य भारतीय भाषाओं को ठुकराकर यह लक्ष्य पाना संभव है ? स्वयं कृष्णा जी को **'जिन्दगीनामा'** उपन्यास की भाषा पर पूछे गये सवाल का उत्तर देते हुए कहती हैं- " कुछ ढपोरपंथी आलोचक अपनी एकपक्षीय दृष्टि और तथाकथित 'वैचारिक दृष्टिकोण' से अनजाने में ही अपनी सीमाओं को स्थानीय मानदण्डों से सजा-भिड़ाकर रचनाओं की अरख-परख करते हैं तो यह भूल जाते हैं कि हिन्दी संसार अब इतना छोटा नहीं कि जिसे आप अपने ही भौगोलिक तराजू में तौलते रहें।ऐसी सँकरी दृष्टि का 'अनुमान' नि:सन्देह आलोचना के विरुद्ध जाता है।ख़ास तौर पर यह भंगिमा भी कि भाषा का मानक विन्यास सिर्फ उन्हीं के पास है।

जब हिन्दी जैसी किसी भी विकासशील भाषा अपने विस्तार में प्रादेशिक और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर रही हो तो उसकी दिन-ब-दिन बढ़ती शब्द सम्पदा को रोकने के प्रयत्न उसके हक़ में नहीं। ...अंग्रेज़ी में लिखनेवाले भारतीय उपन्यासकार भारतीय जीवन के संस्कारी और सांस्कृतिक शब्दों के असंख्य मुखड़े अपने पाठ में गूँथ रहे हैं। ध्वनियों को अंकित कर रहे हैं।भारतीय जीवन के कोलाहल को मूल शब्दों से अंकित कर रहे हैं।क्या विश्व-भर के अंग्रेजी पाठकों को उस पर नाक-मुँह सिकोड़ना चाहिए ? कोई भी भाषा बोलियों और दूसरी भाषाओं के आदान-प्रदान से नुकीली बनती है।

'ज़िन्दगीनामा' एक ऐसे कालखण्ड और भू-खण्ड का पाठ है जो विभाजन के फलस्वरूप पीछे छूट गए वतन की, उसके शोर की, कोलाहल की स्मृति मात्र है।कोई भी

भाषा आपको विभिन्न-विभिन्न प्रदेशों में कितनी ही कर्कश क्यों न लगे, उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक सन्दर्भों को अहंकारी मुद्रा में नकारना अच्छी आलोचना का गुण नहीं।"[21] कृष्णा सोबती का उपरोक्त कथन अक्षरश: सटीक है। हिंदी को यदि विश्व में अंग्रेजी की चुनौती के सम्मुख खड़ा होना है तो इसके लिए हिंदी को अपनी शब्द सम्पदा को बढ़ाना होगा। अंग्रेजी भी लगातार अपनी शब्द सम्पदा बढ़ा रही है। 'धोती', 'रोटी', 'चपाती' जैसे शब्दों को ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने भी स्थान दिया है और अब ये शब्द अंग्रेजी में भी प्रचलित हैं। इसका बहुत बड़ा श्रेय उन भारतीय कथाकारों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने अंग्रेजी साहित्य में अपने परचम लहराये हैं। चेतन भगत, सलमान रुश्दी, अरुंधती राय जैसे लेखक किसी परिचय के मुहताज नहीं हैं। इन्होंने हिंदी के कई शब्दों का प्रयोग अपने लेखन में किया है जिस कारण धीरे-धीरे हिंदी के शब्दों को अंग्रेजी भाषा में भी स्थान मिल गया। इससे अंग्रेजी भाषा भी समृद्ध हो गयी। किसी प्रकार की संकीर्ण सोच हिंदी के लिए अत्यंत घातक साबित हो सकती हैं।

हिंदी को अपनी शब्द सम्पदा को बढ़ाने के लिए किसी विदेशी भाषा की ओर रुख करने की आवश्यकता नहीं है। हिंदी के पास अपनी ही कई समृद्ध बोलियां हैं। इसके अलावा भारत में हिंदी के अलावा **30** से भी ज्यादा भाषाएं मौजूद हैं जिनके पास अपना समृद्ध साहित्य है। हिंदी इन्हीं भाषाओं के माध्यम से शीर्ष तक पहुंचने का माद्दा रखती है। ऐसे में भाषायी वैमनस्य भी दूर होंगे और दो संस्कृतियों के बीच सेतु भी बन सकेगा। इसमें कोई शक नहीं कि हिंदी भारत में सबसे अधिक बोली जानेवाली भाषा है लेकिन जन-जन की भाषा बनना अभी बाकी है। कृष्णा सोबती अपनी लेखनी से यही कार्य कर रही हैं। हिंदी में उन भाषाओं और बोलियों के शब्दों को वे ला रही हैं जो कहीं न कहीं हिंदी को समृद्ध ही करती है। इसी कारण प्रसिद्ध आलोचक डॉ. गोपाल राय कृष्णा सोबती के समस्त उपन्यासों

को ध्यान में रखते हुए कहते हैं- " इन कथाकृतियों में कृष्णा सोबती की भाषा पंजाबीपन की गमक लिए, पंजाबी शब्दों और मुहावरों से तड़कती हुई एक जानदार, यथार्थ भाषा है जो इसके पहले हिन्दी कथा साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुई थी। हिन्दी का स्वभाव यह है कि उसमें सर्जनात्मक सजीवता उसकी विभिन्न बोलियों के माध्यम से आती है। पर पंजाबी के मिश्रण से हिन्दी को सजीव बनाने का कृष्णा सोबती का प्रयास अनूठा है। जिस समाज का चित्रण इन कथाकृतियों में हुआ है, यह भाषा उसके सर्वथा अनुरूप है।"[22] डॉ. गोपाल राय का यह कहना बिल्कुल ठीक है। किसी भी कथाकृति की भाषा उसी समाज के अनुरूप होनी चाहिए जिसका चित्रण कथाकृति में किया जाना चाहिए। इससे रचना में प्रामाणिकता तो आती ही है साथ ही भाषा को जीवंतता भी मिलती है। आलोच्य उपन्यास में कृष्णा सोबती ने कई देशज मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग किया है जिसमें पंजाब की मिट्टी की खुशबू आती है जो इसे आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में ला खड़ा करता है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिंदी कथा साहित्य में कृष्णा सोबती जी का यह अभिनव प्रयोग स्वागत योग्य है।

समकालीन हिंदी उपन्यास के परिदृश्य पर नजर डालें तो एक आश्वस्ति सी मिलती है क्योंकि कई युवा उपन्यासकारों ने भी सांप्रदायिकता की समस्या को ध्यान में रखते हुए उपन्यास लिखे हैं। नासिरा शर्मा का नाम इस संदर्भ में लिया जा सकता है। नासिरा शर्मा ने अपने उपन्यास **'जिंदा मुहावरे'** में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह हिंदी की अपनी चिर-परिचित भाषा है। अरबी-फारसी के शब्दों से लदी हुई भाषा के लिए अपरिचित नहीं है। इससे भाषा में एक नया निखार देखने को मिलता है। नासिरा जी सायास ऐसा प्रयोग करती हैं। मेराज़ अहमद को दिये गये एक साक्षात्कार में उर्दू एवं हिन्दी के अन्तर्सम्बन्ध पर पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहती हैं- "...मगर हकीक़त यह है कि उर्दू जब अरबी से और हिन्दी जब संस्कृत के शब्दों से बोझिल बना दी जाती है तो उतनी जानदार और हसीन नहीं

लगती है जितना की दोनों बहनें जब आपस में मिलती हैं इसके प्रमाण आप हिन्दी के अनेक लेखकों की भाषा को पढ़कर महसूस कर सकते हैं। इस ज़िन्दादिली को देखकर बहुत से उर्दू लेखकों ने पाकिस्तान में हिन्दी शब्द अपनाना शुरू कर दिये हैं।"[23] जगह-जगह उपन्यास की भाषा में अवधी की छौंक भी देखने को मिलती है। जिससे उपन्यास की अभिव्यक्ति क्षमता और भी तीव्र हो जाती है। इस उपन्यास में एक ओर अवध का प्रांत है तो दूसरी ओर कराची शहर। उपन्यास की भाषा इन दोनों स्थानों के अनुरूप बदलती रहती है। निज़ाम जब तक अवध का निवासी था तब तक उसकी भाषा में अवधी का पुट देखा जा सकता है। कालान्तर में जब निज़ाम कराची शहर का सफल, सभ्य व्यवसायी बन जाता है तो उसके बोलने के तौर-तरीके में भी वह सलीका झलकने लगता है।

कथाकार दूधनाथ सिंह का उपन्यास **'आख़िरी कलाम'** न केवल वैचारिक दृष्टि से बल्कि भाषायी नजरिये से भी एक नायाब कृति है। कहानीकार के रूप में दूधनाथ सिंह की कीर्ति का एक प्रमुख कारण उनकी भाषा भी है। रचना में प्रयुक्त भाषा ही रचना में जान फूंकती है और दूधनाथ सिंह जैसा सिद्धहस्त कथाकार इस कला में माहिर हैं। उनके पात्रों के अनुरूप भाषा भी बदलती रहती है। शहरी पात्रों की भाषा जहां एक ओर भाषायी सुगढ़पन लिये हुए है वहीं ग्रामीण पात्रों की भाषा में देशजपन की खुशबू आती है। कहा भी गया है 'सात कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर वाणी'। इसका सुदंर उदाहरण आलोच्य उपन्यास भी है। इस उपन्यास की बोलियों के बीच के अन्तर को आसानी से समझा जा सकता है। **'आख़िरी कलाम'** उपन्यास की भाषा एवं शिल्प पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह का कथन बिल्कुल सटीक लगता हैं- " निस्संदेह उनके पास जबरदस्त भाषा-निपुणता और शैल्पिक अनोखापन है। वे एक ताजे गद्य के समर्थ निर्माता रचनाकार है। एक ऐसा गद्य, जो है तो पढ़ाकू बुद्धिजीवियों के लिए, पर अपनी रोचकता और उत्तेजकता में

पांडित्य के वैभव के साथ-साथ, लोक की सहजता, बेतकल्लुफी और जीवंतता के सौंदर्य से लहराता हुआ। कवि का गद्य, यदि वह कवि का गद्य है तो उसे चित्रात्मक क्यों नहीं होना चाहिए। उपन्यासकार या कथाकार का गद्य तो वृत्तांतपरक होता ही है। दूधनाथ सिंह ने यहाँ दोनो रूपों का समर्थ उपयोग किया है और चरित्र प्रधान कथानकों में तोड़-फोड़ करते हुए भी अंतत: वे यही साबित कर सके हैं कि चरित्र से छुटकारा पाना कथाकार के लिए लगभग असंभव है।"[24]

युवा कथाकार महुआ माजी का उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** न केवल अपने कथ्य के लिए बल्कि अपनी भाषा के कारण भी प्रसिद्ध रहा है। कथाकार ने जान-बूझकर पात्रों के नाम बंगाली परिवेश को उभारने के लिए हिन्दी के अनुरूप न रखकर बांग्ला के अनुरूप रखा है मसलन उपन्यास के एक पात्र का नाम ऑलोक है जिसे हिन्दी में आलोक कहा जायेगा लेकिन बांग्ला में उसका उच्चारण ऑलोक ही है अतएव लेखिका ने उसे ऑलोक ही रखा है, आलोक नहीं। इसी तर्ज पर अन्य पात्रों के नाम भी हैं। जॉगाई दा, माशी माँ आदि नाम बांग्ला में जिस प्रकार उच्चरित होते हैं उसी प्रकार लेखिका हिंदी में ला रखे हैं। लेखिका स्वयं कहती है- " उपन्यास में बांग्ला शब्दों तथा नामों को हिन्दी में लिखते समय मैंने कुछ धृष्टता की है। बांग्ला लिपि को हू-ब-हू देवनागरी में न लिखकर उन्हें बंगालियों द्वारा किए जानेवाले उच्चारण के अनुरूप लिखा है। यही कारण है कि बारिसाल-बोरिशाल, सपना-शॉप्ना, अनिच्छा-ऑनिच्छा वगैरह हो गया है। पाठक मुझे इसके लिए क्षमा करेंगे।"[25] बांग्ला भाषा का यह अभिनव प्रयोग हिंदी में दुर्लभ है और ऐसे प्रयोगों से हिंदी और भी समृद्ध होगी। कृष्णा सोबती, महुआ माजी जैसे कथाकार भारत की विभिन्न समृद्ध भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर हिंदी की शब्द सम्पदा में ही इजाफ़ा कर रहे हैं। ऐसे प्रयोगों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

भाषायी दृष्टि से यदि मोहम्मद आरिफ के उपन्यास **'उपयात्रा'** पर विचार किया जाय तो थोड़ी निराशा होती है। ऐसा इसलिए क्योंकि जिस समाज को लेकर यह उपन्यास 'डील' करता है, वह अपने वास्तविक रूप में उभर कर नहीं आ पाता। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि भाषा और बोली का एक गहरा रिश्ता समाज के साथ होता है और भाषा के माध्यम से चरित्रों एवं वातावरण को और भी विश्वसनीयता मिलती है लेकिन **'उपयात्रा'** उपन्यास में लेखक ने इसे नजरअंदाज कर दिया है या फिर विषय की गंभीरता की ओर विशेष ध्यान देने के कारण ये भाषायी पक्ष अछूता रह गया है। उपन्यास का मुख्य पात्र फरीद एक पढ़ा-लिखा युवक है अतएव जब वह उपन्यास की घटनाओं का वर्णन करता है तो भाषायी सुगढ़पन नजर आता है लेकिन जब बात ग्रामीण पात्रों के बीच के संवाद की आती है तो आवश्यकता इस बात की होती है कि भाषा देशज रूप में रहे लेकिन ऐसा उपन्यास में हो नहीं पाया है। भाषायी नजरिये से यह उपन्यास का कमजोर पक्ष है। परंतु इस बात की तारीफ करनी होगी कि भयावह माहौल का चित्रांकन करने में लेखक को सफलता मिली है। ट्रेन की यात्रा में, गांव में, लखनऊ में, स्टेशन परिसर में उन्मादी भीड़ द्वारा लगाये जा रहे नारों का प्रयोग कुशलता से भयावह माहौल को उजागर करता है। ऐसे माहौल की सृष्टि कर पाने के लिए मोहम्मद आरिफ प्रशंसा के हकदार हैं।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों को पठनीय एवं अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए भाषायी स्तर पर कई प्रयोग किये। किसी उपन्यासकार ने देशज भाषा की सौंधी खुशबू से अपने उपन्यास को लबरेज़ किया तो किसी उपन्यासकार ने भारतीय समाज के तथाकथित सभ्य समाज की कलई खोलने के लिए भाषा का प्रयोग अपने उपन्यास में किया है। हिंदी क्षेत्र की व्यापकता को इन उपन्यासों के अध्ययन के माध्यम से देखा जा सकता है। किसी उपन्यास में अवध प्रांत की

देशज बोली नज़र आती है तो किसी उपन्यास में भोपाल शहर की भाषा का आस्वादन मिलता है। कुछ उपन्यास ऐसे भी देखने को मिले हैं जिनमें कराची और बांग्लादेश की भाषा की महक महसूस की जा सकती है। यही हिंदी की सबसे बड़ी खासियत है और यही इसकी ताकत भी है।

**6.1.4. भाषा के पक्ष से श्लीलता बनाम अश्लीलता-** एक दौर हिंदी कथालोचन में ऐसा भी आया जब उपन्यासों पर अश्लील होने का आरोप लगाया गया। इसके कारण कई थे। मसलन उपन्यास में गालियों का प्रयोग, स्त्री और पुरुष के संभोग के क्षणों का खुला चित्रण, स्त्री की कामेच्छा का खुला चित्रण इत्यादि। अश्लीलता का आरोप यशपाल, राही मासूम रज़ा, श्रीलाल शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों पर लगाया गया है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि श्लील और अश्लील की परिभाषा क्या है अथवा हो सकती है ? दूसरा प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि क्या गालियों का प्रयोग अथवा स्त्री-पुरुष के संभोग के अंतरंग दृश्यों को दिखाना आवश्यक है ?

जहां तक गालियों का सवाल है गालियां भारतीय ग्रामीण एवं शहरी समाज के भाषा का अहम हिस्सा हैं। ग्रामीण समाज पर यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। सामान्य स्थितियों में भी वार्तालाप के दौरान गालियों का प्रयोग होता है और इसे कोई बुरा भी नहीं मानता। यदि कोई कथाकार ग्रामीण समाज का चित्रण करते हुए गालियों का प्रयोग नहीं करता तो उसकी भाषा में कृत्रिमता दिखने लगती है। वह सहज नहीं रहती। ऐसे में वातावरण की दृष्टि से उपन्यास अपनी विश्वसनीयता खोने लगता है। जहां तक स्त्री-पुरुष के संभोग के अंतरंग दृश्यों के वर्णन का प्रश्न है वहां भी अश्लीलता का आरोप लगाने के पहले यह देखना आवश्यक है कि कहीं यह उपन्यास की आवश्यकता तो नहीं। यदि अनावश्यक रूप से ऐसा चित्रण किया गया है तो वह अश्लील माना जा सकता है लेकिन किन्हीं कारणों से अगर

अंतरंग क्षणों के वर्णन हैं तो उन्हें अश्लील कहना लेखक के साथ अन्याय होगा। उपन्यास मानव जीवन का विशाल चित्रपट्ट है और कामक्रीड़ा इस संसार के समस्त जीव-जन्तु, प्राणी का सहज दैनिक व्यापार है। अतएव ऐसे चित्रण के पीछे निश्चित रूप से लेखकीय उद्देश्य निहित होता है। इसे समझने की जरूरत है।

**'आधा गाँव'** उपन्यास में कई स्थलों पर गालियों का प्रयोग किया है जिस कारण इस उपन्यास पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। पहली बात यह है कि किसी भी रचना में अश्लीलता तभी आती है जब उन तत्वों का अतिरेक प्रयोग किया जाता है। अनावश्यक, बेमानी, अनुपयोगी और अर्थहीन रूप में शव्दों का प्रयोग अश्लील कहा जा सकता है। अब उन स्थलों को लिया जाय जहाँ राही के पात्रों ने गालियों का प्रयोग किया है। अगर वहाँ से गालियों को हटा दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि वाक्य प्राणहीन हो गये हैं। कही गयी बात अपना प्रभाव खो देती है और उस रूप में जेहन से नहीं टकराती जिस रूप में वह गालियों के साथ मस्तिष्क पर प्रभाव छोड़ती हैं। **'आधा गांव'** उपन्यास पर अश्लीलता का जो आरोप लगाया गया है उसे उपन्यास के कुछ अंशों को प्रस्तुत करते हुए विचार करना आवश्यक है।

उदाहरण सं. **1** - "फुन्नन दादा जुलाहों के घर तक लपक गये और लाठी बजा-बजाकर उन्हें गाली देने लगे।"[26]

उदाहरण सं. **2** - " मास्टर साहब झल्ला गये। उन्होंने मुसलमानों को बड़ी गालियाँ दीं।"[27]

उदाहरण सं. **3** - " हमरी माँ-बहिन को कउन बहनचोद निकाल के ले जा सकता जी !"[28]

उदाहरण सं. **4** - " काहे न मारा सबन ने मिल के ओ बहनचोद बादशाह को...लेयो ! मन्दिर तोड़ें बादशाह लोग और गाँड़ मरावे हम...वाह !"[29]

उपरोक्त प्रथम दो उदाहरणों में देखा जा सकता है कि उपन्यासकार ने किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है।केवल यह उल्लेख मात्र किया है कि अमुक पात्र ने गालियाँ दीं।लेखक यह भी उल्लेख नहीं करता कि गालियाँ माँ की थीं या बहन की।तृतीय एचं चतुर्थ उदाहरण को यदि देखा जाय तो स्थिति के अनुरूप गालियों का प्रयोग निरर्थक प्रतीत नहीं होता बल्कि ये गालियाँ ही पंक्तियों के अर्थ को और उपन्यासकार के लक्ष्य को और भी अधिक व्यंजक बनकर पेश करती हैं।साथ ही यह बात भी ध्यान देने लायक है कि उपन्यास जिस ग्रामीण परिवेश को आधार में रख लिखा गया है उसमें गालियों का होना स्वाभाविक है।गाँवों में बात-बात पर गालियों का प्रयोग सहज स्वीकार्य है।ग्रामीण बोली का सौंदर्य ही इन गालियों और लोक प्रचलित मुहावरों के कारण निखरता है।इन गालियों के प्रयोग के कारण ही पाठक यह महसूस करता कि वह सचमुच ग्रामीण पात्रों के बीच ही मौजूद है। गालियों के प्रयोग के कारण ही उपन्यास की भाषा कृत्रिमता से बच पायी है अन्यथा **'आधा गाँव'** उपन्यास की भाषा ग्रामीण पात्रों की स्वाभाविक भाषा न होकर राही की कृत्रिम भाषा होती।

**'आधा गांव'** उपन्यास की ही तरह **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** में भी जगह-जगह गालियों का प्रयोग किया गया है।स्वयं कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह के विचारों में- " इस उपन्यास पर समीक्षकों-आलोचकों ने बहुत कुछ लिखा है।कमियाँ भी गिनाई गई हैं। निस्संदेह कमियाँ तो हैं, मगर उनका निवारण सम्भव नहीं है।मुझे अपनी सफाई देने का भी कोई हक नहीं है।लेकिन कुछ बातें अटपटी जरूर लगीं।जैसे यही कि उपन्यास में 'गालियाँ' बहुत हैं।राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' पर भी यही आरोप था और शायद इसलिए कुछ लोगों ने 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' की तुलना 'आधा गाँव' से कर डाली।उर्दू में जब यह उपन्यास छपा तो वे तथाकथित गालियाँ 'सम्पादति' कर दी गईं।पता नहीं लोग क्यों नहीं

समझते कि गाली नियत में होती है, शब्द में नहीं। शब्द तो भाषा का अंग है। और मैंने वही भाषा लिखी है, जो मेरे पात्र बोलते हैं। मैं भला उनकी भाषा को बदलनेवाला कौन होता था ?"[30] यह कहना होगा कि अगर गालियों से उपन्यासकार ने परहेज किया होता तो जिस यथार्थ को लेखक उभारना चाहता है उससे भी यह उपन्यास चूक जाता और विश्वसनीयता तो यह खो ही देता। जिस नरकीय जीवन का चित्रण उपन्यास में किया गया है वह अपने आप में ही एक गाली है। ऐसे में अगर गालियों का प्रयोग किया गया है तो वह उपन्यास की भाषा को स्वाभाविकता ही प्रदान करतीं हैं और कृत्रिमता से बचाती हैं। किसी भी दृष्टि से **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** को भी अश्लील नहीं कहा जा सकता।

**'तमस'** उपन्यास में भी नत्थू चमार और उसकी पत्नी के बीच के शारीरिक संबंध के चित्रण को आलोचक चंद्रकांत बांदिवडेकर बेकार मानते हैं। उनके विचारों में- " नत्थू चमार और उसकी पत्नी के बीच के मधुर प्रेम-संबंध अपने आप में उत्तेजक होने पर भी उपन्यास के मूल स्वर से असंबद्ध लगते हैं।"[31] आलोच्य उपन्यास में यदि देखा जाय तो नत्थू चमार की स्थिति अत्यंत ही दयनीय है। मुराद अली के कहने पर वह सूअर की हत्या करता है लेकिन उसे यही बताया जाता है कि यह सूअर डॉक्टर साहब को चाहिए लेकिन मुराद अली उस सूअर को मस्जिद के दरवाजे पर फिकवा देता है जिसके परिणामस्वरूप कौमी दंगे होते हैं। निर्दोष लोग मारे जाते हैं। नत्थू चमार को जब इसका पता चलता है तो उसके भीतर अपराध बोध जन्म लेने लगता है साथ ही वह स्वयं को छला हुआ भी महसूस करता है। कुछ क्षणों तक तो उसे यही लगता है कि यह वह सूअर तो हो ही नहीं सकता लेकिन कुछ समय के बाद उसकी खामखयाली दम तोड़ देती है।

अपनी पत्नी के साथ एकांतिक क्षणों में भी वह इस अपराधबोध से निकल नहीं पाता कि आज शहर में जो कुछ भी घटा, जितनी मार-काट मची कहीं न कहीं उसके लिए

वह भी जिम्मेवार है। पत्नी के साथ बिताये उन क्षणों में वह यह सबकुछ भूल जाना चाहता है। इसी कारण लेखक के लिए नत्थू चमार और उसकी पत्नी के अंतरंग क्षणों का चित्रण करना आवश्यक था क्योंकि इसके माध्यम से नत्थू चमार की मानसिक दशा का सटीक चित्रण लेखक कर पाने में सफल हुआ है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने अपने समय और समाज को एक दिशा देने के लिए भरसक प्रयास किये। जिस क्षेत्र विशेष को अपनी कथा में लिया वे अपनी संपूर्णता में उभरकर इन उपन्यासों में आये हैं। इसके लिए लेखकों ने कई प्रयोग भी किए। सांप्रदायिक दंगों की भयावहता को उभारने के लिए जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग इन उपन्यासकारों ने किया, जिस विश्वसनीयता के साथ उपन्यासकारों ने इसे चित्रित किया वह प्रशंसा के काबिल है। एक क्षण के लिए सारे दृश्य मानों आंखों के सामने नाचने लगते हैं। साथ ही कई कथाकारों की भाषा में देशज बोलियों का पुट देखने को मिलता है जो स्वागत योग्य है क्योंकि इससे न केवल हिंदी भाषा का शब्द भंडार समृद्ध होता है बल्कि हिंदी का क्षेत्र भी व्यापक होता है। साथ ही कुछ उपन्यासकार ऐसे भी देखने को मिले हैं जिन्होंने हिंदीतर प्रांतों को अपनी कथा का केंद्र बनाया। इतना ही नहीं बल्कि उन हिंदीतर प्रांतों की भाषा, संस्कृति इत्यादि को बिना नुकसान पहुंचाये अपने उपन्यास में दिखलाने का प्रयास किया है। इससे हिंदी पट्टी का पाठक वर्ग हिंदीतर प्रांत से अवगत होता है और हिंदी का दायरा भी बढ़ता है।

## 6.2. शिल्प

उपन्यास के शिल्प पर विचार करते हुए सबसे पहली बात जिसका ध्यान रखना आवश्यक है कि उपन्यास लेखन का कोई बंधा-बंधाया रूप(फॉर्मेट) नहीं है। लगातार नये-नये रूप में उपन्यास लिखे जा रहें हैं और अब तो कथानक विहीन उपन्यास भी साहित्य के धरातल पर

दस्तक दे रहे हैं। इसलिए किसी एक घेरे में रखकर उपन्यासों को नहीं देखा जा सकता। शिल्प को लेकर लगातार प्रयोग हुए हैं जिनमें कुछ प्रयोग अत्यंत सफल हुए तो कुछ उपन्यास नया प्रयोग करने की होड़ में अपनी कोई छाप छोड़ पाने में नाकाम भी रहे हैं। अगर सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास लिखे गये हैं तो चरित्रप्रधान उपन्यासों का भी प्रणयन किया गया है। डायरी शैली में उपन्यास लिखे गये हैं तो ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये हैं। इसलिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि उपन्यास का शिल्प लगातार बदलता रहा है अतएव उपन्यासों के शिल्प को किसी बंधी-बंधायी कसौटी पर कसकर नहीं देखा जा सकता। दरअसल उपन्यास के विषय द्वारा ही उसका शिल्प निर्धारित किया जा सकता है और विषय के आधार पर ही उपन्यास की शैल्पिक विशेषताओं और खामियों का निर्धारण भी किया जा सकता है।

**6. 2. 1. कथन प्रणाली-** उपन्यास में उपन्यासकार की कथन शैली ही सबसे ज्यादा अहमियत रखती है। कभी उपन्यासकार किसी पात्र में घुसकर अपने विचार रखता है जिसे हम 'परकाय प्रवेश' कहते हैं तो कभी उपन्यासकार स्वयं उपन्यास में 'मैं' बनकर खड़ा होता है। 'परकाय प्रवेश' का श्रेष्ठ उदाहरण हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत **'वाणभट्ट की आत्मकथा'** उपन्यास है। 'मैं' शैली में महुआ माजी का उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।

सर्वप्रथम **'आधा गांव'** उपन्यास के शिल्प पर विचार करते हुए यह देखा जा सकता है कि उपन्यासकार ने कई प्रयोग किये हैं जिनमें काफी हद तक वे सफल भी हुए हैं। सबसे पहली बात की राही स्वयं इस उपन्यास के भोक्ता के रूप में पाठकों के समक्ष खड़े हैं। कभी नेरेटर के रूप में तो कभी उपन्यास का पात्र 'मैं' बनकर उपन्यासकार घटनाओं का वर्णन करता है। कहीं-कहीं राही उपन्यासकार के रूप में भी खड़े होकर टिप्पणी करते नज़र

आते हैं। कभी-कभी नेरेटर और 'मैं' के बीच फर्क करना भी मुश्किल हो जाता है और कभी-कभी कथाकार राही और उपन्यास के पात्र 'मासूम' के बीच भी फर्क करना मुश्किल हो जाता है। ऐसा उपन्यासकार ने सायास किया है ताकी पाठकों को उपन्यास और इसकी घटनाऐं यथार्थ प्रतीत हों। स्वयं उपन्यासकार कहता है- "...और यह कहानी जितनी सच्ची है उतनी ही झूठी भी। मुझे झूठ में सच और सच में झूठ की मिलावट की कला आती है। इस कहानी में जगह-जगह 'मैं' इसलिए इस्तेमाल कर रहा हूँ कि यह कहानी मुझसे दूर न जा सके कि मैं जब चाहूँ इसे छू लूँ। अपने-आपको ढ़ाढ़स देने के लिए कि जो कहानी मैं सुना रहा हूँ वह आपको और अपने-आपको यह विश्वास दिलाने के लिए कि इसी कहानी की तरह मैं खुद भी हूँ। इसलिए यह आपबीती भी है और जगबीती भी।"[32] उपन्यास के प्रारंभ में ही उपन्यासकार पाठकों को यह यकीन दिलाने का प्रयास करता है कि इसमें जितनी घटनाओं का वर्णन किया गया है वे सभी सच्ची घटनाएं हैं। इस कारण पाठकों के मन में एक सहज कौतूहल की सृष्टि होती है और पाठक आगे की घटनाओं को जानने के लिए उत्सुक हो जाता है लेकिन तभी उपन्यासकार फिर हस्तक्षेप करते हुए यथार्थ को और सघन बनाने के लिए गांव और उसके पात्रों के संबंध में भी स्पष्टीकरण देता है- " यह गंगौली कोई काल्पनिक गाँव नहीं है और इस गाँव में जो घर नज़र आयेंगे वे भी काल्पनिक नहीं हैं। मैंने तो केवल इतना किया है कि इन मकानों को मकानवालों से खाली करवाकर इस उपन्यास के पात्रों को बसा दिया है। ये पात्र ऐसे हैं कि इस वातावरण में अजनबी नहीं मालूम होंगे और शायद आप भी अनुभव करें कि फुन्नन मियाँ, झंगटिया बो, मौलवी बेदार, कोमिला, बबरमुआ, बलराम चमार, हकीम अली कबीर, गया अहीर और अनवारुलहसन राकी और दूसरे तमाम लोग भी गंगौली के रहनेवाले हैं लेकिन मैंने इन काल्पनिक पात्रों में कुछ असल पात्रों को भी फेंट दिया है। ये असली पात्र मेरे घरवाले हैं जिनमें मैंने यथार्थ की पृष्ठभूमि बनायी है और जिनके कारण इस कहानी के

काल्पनिक पात्र भी मुझसे बेतकल्लुफ़ हो गये हैं।"[33] इस तरह उपन्यासकार पाठकों को यह यकीन दिलाने में सफलता अर्जित कर लेता है कि इस उपन्यास की कहानी सच्ची है। यह आपबीती भी है और जगबीती भी। ऐसा उपन्यासकार को इसलिए करना पड़ा है क्योंकि जिस विषय को उपन्यास में लिया गया है वह यह माँग करता है कि उपन्यास की घटनाएँ, उसके पात्र आदि यथार्थ के करीब हों। भारतीय समाज की मिली-जुली संस्कृति पर पाठक तभी विश्वास कर सकता है जब लेखक के भोगे हुए जीवन का वह हिस्सा हो। सांप्रदायिकता और आज़ादी के बाद भारत में रहनेवाले मुसलमानों के नरकीय जीवन का चित्रण उपन्यासकार का उद्देश्य है जिसके लिए उपन्यासकार को उपरोक्त स्पष्टीकरण देने पड़ते हैं।

कथाकार राही मासूम रज़ा ने **'आधा गांव'** उपन्यास में कथा वार्तालाप करने के अंदाज में लिखी है। उपन्यास पढ़ते वक्त पाठक को यह भ्रम हो जाता है कि वह उपन्यास पढ़ नहीं रहा बल्कि स्वयं उपन्यासकार वार्तालाप के रूप में कथा कह रहा है। **'आधा गांव'** उपन्यास की इस खूबी की प्रशंसा करते हुए आलोचक चंद्रकांत बांदिवडेकर कहते हैं- " रज़ा की शैली बतकहिया शैली है और उसमें व्यंग्य, विनोद, वक्रता का पर्याप्त उपयोग किया गया है। भोजपुरी, उर्दू की प्राकृतिक चित्रवत्ता और मिठास, पिछड़े हुए अंचल के लोगों की बोलचाल, विचार, रहन-सहन और संवादों में प्रतीत होने वाली गज़ब की स्वच्छंदता, उनके भोलेपन में छिपी हुई बेवकूफी की सीमा को छूनेवाली सादगी, चुलबुलापन, अनागरिकता और खुरदुरापन ये चीजें इस उपन्यास को रोचक बनाती हैं।"[34] उपन्यास में ऐसे स्थल भरे पड़े हैं जहां आलोचक चंद्रकांत बांदिवडेकर की उपरोक्त बातों को महसूस किया जा सकता है।

उपन्यास के लगभग तीन-चौथाई कहानी के बाद 'प्यास' अध्याय समाप्त होते ही राही पाठकों को चौंकाते हुए उनके समक्ष 'भूमिका' में खड़े हो जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण देते हुए वे कहते हैं- " आप सोच रहे होंगे कि कहानी के बीच में यह भूमिका कैसी ! मैं भी

यही सोच रहा हूँ। लेकिन यह कोई और कहानी नहीं है। बात कह सकने का काम अब हर लाइन के बाद मुश्किल होता जा रहा है। क्योंकि मैं जिस गाँव, और जिन लोगों की बातें कर रहा हूँ वह मेरा गाँव है और मेरे लोग हैं और मैं उनसे प्यार करता हूँ। यही प्यार बात कह सकने की राह में दीवार बना हुआ है। ...मैं इन तमाम लोगों को जानता हूँ, फिर भी कहानी के नियम तोड़कर मैं यह भूमिका लिख रहा हूँ। बात यह है कि अब हमारी कहानी एक ऐसी जगह है जहाँ एक युग समाप्त हो रहा है और दूसरा आरम्भ। तो क्या हर युग एक भूमिका की माँग नहीं करता ?"[35] दरअसल यहाँ तक आते-आते देश विभाजन के कगार पर है और ठीक 'भूमिका' के बाद के अध्याय का नाम 'तनहाई' है। यह वह तनहाई है जिसे शब्दों में बयाँ कर पाना मुश्किल है क्योंकि यह तनहाई सिर्फ बाहर ही नहीं बल्कि मन के भीतर भी है। इसलिए कथाकार को बीच में यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक प्रतीत हुआ है। तनहाई से गुजरते हुए पाठक यह महसूस भी करता है कि जीवन में एक अजीब सा खालीपान आ गया है और उपन्यासकार जितना कहता है उससे कहीं ज्यादा कह नहीं पाता लेकिन पाठक उस अनकहे को महसूस जरूर कर पाता है।

यथार्थवादी उपन्यास में उपन्यासकार के पास कथा कहने की दो प्रविधियां होती हैं-दृश्यात्मक और परिदृश्यात्मक। दृश्यात्मक प्रविधि के अन्तर्गत उपन्यासकार किसी घटना को दृश्य के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कथा कहता है जबकि परिदृश्यात्मक प्रविधि अपनाते हुए उपन्यासकार उसे प्रस्तुत करता है और भरसक प्रयास करता है कि वह खुद को अप्रत्यक्ष बनाये रखे। **'तमस'** उपन्यास में भीष्म साहनी इन दोनों ही प्रवृधियों का प्रयोग करते हैं-" आले में रखे दिये ने फिर से झपकी ली। ऊपर, दीवार में, छत के पास से दो ईंटें निकली हुई थीं। जब-जब वहाँ से हवा का झोंका आता, दीये की बत्ती झपक जाती और कोठरी की दीवारों पर साये से डोल जाते। थोड़ी देर बाद बत्ती अपने-आप सीधी हो जाती और उसमें से

उठनेवाली धुएँ की लकीर आले को चाटती हुई फिर से ऊपर की ओर सीधे रुख जाने लगती। नत्थू का साँस धौंकनी की तरह चल रहा था और उसे लगा जैसे उसके साँस के कारण ही दीये की बत्ती झपकने लगी है।"[36] उपन्यास के प्रथम अनुच्छेद में ही यह देखा जा सकता है कि कथाकार नत्थू के मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए कथा की शुरुवात करता है और नत्थू की द्वंद्वात्मक स्थिति से ही पाठकों को यह आभास करा देता है कि कुछ गलत होनेवाला है। दूसरे अध्याय में भी उपन्यासकार कुछ क्षण के लिए नेरेटर के रूप में खड़ा नजर आता है और फिर कथा सूत्रों को अपने पात्रों के हाथ में सौंप कर कथा को आगे बढ़ा देता है। मगर पूरे उपन्यास में कथाकार जहाँ-तहाँ अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हुए नज़र आता है। मुख्य रूप से तब जब वह पात्रों का परिचय पाठकों को करवाता है या फिर जब प्रकृति का वर्णन करता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- " शहर का सारा व्यापार किसी मीठी सहज धुन पर चल रहा है। लगता इसकी एक कड़ी टूटेगी तो साज के सारे तार टूट जायेंगे। या यों कहो कि शहर की सभी क्रियाएँ मिलकर किसी सतत संगीत का निर्माण करतीं जो शहर की दिल की धड़कन के साथ बजता था। शहर में लोग जवान होते हैं तो इसी लय पर, बूढ़े होते हैं तो इसी लय पर, इसी पर पीढ़ियाँ अपना जीवन व्यतीत करती हुई चली जाती हैं।"[37] उपरोक्त अंश उपन्यास का कोई पात्र नहीं कहता। स्वयं उपन्यासकार यह कहता है। कथाकार यदि चाहे तो किसी पात्र के माध्यम से भी दूसरे पात्रों का परिचय करवा सकता है लेकिन **'तमस'** में भीष्म साहनी ऐसा नहीं करते।

**'आधा गाँव'** उपन्यास में जिस तरह राही कभी 'मैं' बनकर तो कभी 'मासूम' बनकर कथा प्रस्तुत करते है भीष्म साहनी **'तमस'** उपन्यास में ऐसा कुछ भी नहीं करते। इसे **'तमस'** उपन्यास की शिल्पगत सीमा भी कहा जा सकता हैं। फिर भी सांप्रदायिक समस्या को प्रस्तुत करने में इस उपन्यास का शिल्प पूर्णतया सफल हुआ है। यह उपन्यास समय की

आवाज बन पाया है। भीष्म साहनी जैसे उपन्यासकार के लिए यह कार्य कठिन भी नहीं है। आलोचक प्रफुल्ल कोलख्यान भीष्म साहनी के इस कौशल की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हुए कहते हैं- " भीष्म साहनी उन थोड़े से कथाकारों में से हैं जिनके माध्यम से हम अपने समय की नब्ज पर भी हाथ रख सकते हैं और उनके समय की छाती पर कान लगाकर उनके समय के दिल की धड़कनें भी साफ-साफ सुन सकते हैं। क्योंकि एक कथाकार के रूप में भीष्म साहनी 'वास्तविकता को गल्प में बदलने' की कला जानते हैं और संभवत: यह जानते हैं कि पाठक भी अंतत: कई बार जान बूझकर और कई बार बिना जाने भी 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया अपनाता है।"[38] इस 'वास्तविकता को गल्प में बदलने' और 'गल्प को वास्तविकता' में बदलने की कला के कारण ही **'तमस'** उपन्यास पठनीय बन जाता है। साथ ही सांप्रदायिक दंगों एवं अमानवीयता के अंधकार का जीवंत दस्तावेज भी बन जाता है। उपन्यास का प्रारंभ नाटकीय ढंग से होता है। एक बंद, बदबूदार और कचरे से भरे कमरे में नत्थू सूअर के साथ बंद है और भयानक मानसिक द्वंद्व से गुजर रहा है। बाहर हवा के झोंके से दीये का फड़फड़ा उठना और सायों का डोल जाने का वर्णन एक नाटकीय आरंभ का आभास देता है। दंगों का अन्त भी अत्यंत ही नाटकीय ढंग से होता है। शहर और आस-पास के गाँवों के ऊपर से हवाई जहाज का उड़ना और उसे देखकर दंगों का खत्म हो जाना अस्वाभाविक लगता है और नाटकीय भी।

**'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने उपन्यास में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह उपन्यास को यथार्थ का रूप देता है। यह प्रयोग उपन्यासकार ने सायास किया है। यह उपन्यास बनारस में रहनेवाले बुनकर समुदाय को केंद्र में रखकर लिखा गया है। उपन्यास दो खंडों में विभक्त है-ताना और बाना। गौर करने लायक बात यह है कि साड़ी बुनने के लिए भी ताना और बाना की ही आवश्यकता होती है। इस

उपन्यास के स्वरूप-विन्यास पर विचार करते हुए आलोचक डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं- " इस उपन्यास में जिस बात पर सचेत पाठक की पहली दृष्टि पड़ती है, वह है इसका स्वरूप-विन्यास। इसके अभाव में उपन्यास को निचोड़कर जो कुछ पाया जाएगा वह न तो रचनात्मक होगा और न सौंदर्यमूलक। चादर या साड़ी बुनने के लिए ताने-बाने की जरूरत होती है। सभी को इस तथ्य का पता है। यह उपन्यास दो भागों में विभक्त है-ताना और बाना। इसकी बिनकारी के दौरान काढ़ी गई डिजाइनें लेखक की हैं, ठीक वैसे ही जैसे साड़ियों के बीच-बीच काढ़ी गए फूल-पत्ते मतीन के। लेखक ने फ्लैश बैक की पिटी पिटाई प्रणाली को किनारे कर दिया है। वह ताने और बाने के रंगीन रेशमी धागे डालता है-ताने और बाने का हर धागा अलग, फिर भी एक। इस तरह लेखक ने उपन्यास की एक नई डिजाइन बनाई है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह बाहर से उधार ली गई डिजाइन नहीं है और न इसे पारम्परिक अर्थ में एक्सपेरिमेन्टल कहा जा सकता है। यह ठेठ बनारसी डिजाइन है-'इनडेजिनस'।"[39] भले ही बच्चन सिंह जी इस उपन्यास के स्वरूप को एक्सपेरिमेन्टल न मानें लेकिन एक्सपेरिमेन्ट उपन्यासकार ने किया जरूर है। जैसा एक्सपेरिमेन्ट राही ने **'आधा गांव'** में किया, रेणु ने **'मैला आँचल'** में किया, कमलेश्वर ने **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में किया।

वे एक्सपेरिमेन्ट क्या थे और लेखक को उन एक्सपेरिमेंन्ट्स में कहाँ तक सफलता मिली इसका आकलन करना आवश्यक है। उपन्यास पढ़ते वक्त पाठकों को यह विश्वास हो कि जिस समाज से वह उपन्यास के द्वारा रू-ब-रू हो रहा है वह वास्तविक है कोई कपोल कल्पना नहीं है इसके लिए उपन्यासकार कुछ प्रयोग करता है जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई है। भाषा के रूप में यह प्रयोग उपन्यासकार ने किस प्रकार किया है यह तो देखा जा चुका हैं लेकिन शिल्प के स्तर पर इसे परखा जाना बाकी है। पाठकों को यह विश्वास दिलाने के लिए कि यह उपन्यास में जिस समाज का चित्रण किया गया है वह लेखक

द्वारा देखा गया है और अनूभूति के आधार पर लिखा गया है इसलिए स्वयं उपन्यासकार क्षेपक खंड में उपन्यास में आ खड़ा होता है। हाजी अमीरुल्लाह से बातचीत के क्रम में यह बात भी सामने आती है कि उसका नाम अब्दुल बिस्मिल्लाह है। साथ ही वह यह भी बताता है कि वह बनारस के बुनकरों को ध्यान में रखकर एक उपन्यास लिखना चाहता है। साथ ही लेखक पाठकों को यह बताना नहीं भूलता कि हाजी साहब को इस बात पर आपत्ती है कि गिरस्ता लोग बुनकरों का शोषण कर रहे हैं। स्वयं उपन्यास का लेखक अब्दुल बिस्मिल्लाह है, उपन्यास में बनारस के बुनकरों को ही केंद्र में रखकर उपन्यास लिखा गया है और उपन्यास में जो लेखक अब्दुल बिस्मिल्लाह हाजी साहब से मिलता है उसकी भी ऐसी ही इच्छा है। पाठक आसानी से यह मानने को बाध्य है कि लेखक स्वयं उपन्यास में वर्णित गलियों, घरों में घूम चुका है और उपन्यास के हर एक पात्र से भलिभाँति परिचित भी है। अतएव पाठकों को यह यकीन हो जाता है कि उपन्यास में वर्णित घटनाएं एवं स्थितियां काल्पनिक न होकर वास्तविक हैं। कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह का मानना है कि इस उपन्यास के लेखन के क्रम में स्वयं वे भी खुद को जुलाहा महसूस करने लगे थे- " मगर अब सोचता हूँ तो लगता है, मेरा वह उत्तर पूरी तरह सही नहीं था। इस उपन्यास की तैयारी के दौरान क्या मैं वास्तव में 'काशी का जुलाहा' नहीं हो गया था ? जब कबीर यह बात सीना फुलाकर कह सकते थे तो उस वक्त मैं क्यों नहीं कह सका ? यह बात कभी-कभी मुझे बहुत कचोटती है क्योंकि अगर मैं खुद को भीतर से नहीं बदलता तो शायद यह उपन्यास इस रूप में न लिख पाता।"[40] जिस प्रकार **'आधा गांव'** उपन्यास में राही मासूम रज़ा ने प्रयोग किया है बहुत दूर तक अब्दुल बिस्मिल्लाह भी ऐसा ही प्रयोग करते हुए नजर आते हैं लेकिन राही की तरह कभी 'मैं' या कभी 'मासूम' के रूप में अब्दुल बिस्मिल्लाह उपन्यास में मौजूद नहीं हैं। यहीं आकर राही, अब्दुल बिस्मिल्लाह से यथार्थ की प्रस्तुति के मामले में आगे निकल जाते हैं। जब राही **'आधा**

**गांव'** उपन्यास में कभी 'मैं' या कभी 'मासूम' के रूप में उपस्थित रहते हैं तो पूरा उपन्यास राही की स्वानुभूति का प्रतिफलन लगता है जबकि अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास उसकी सहानुभूति का प्रतिफलन बन जाता है क्योंकि **'आधा गांव'** में घटी हुई घटनाऐं राही का भोगा हुआ यथार्थ बन जाती हैं जबकि अब्दुल बिस्मिल्लाह द्वारा वर्णित घटनाऐं उनका देखा हुआ यथार्थ लगने लगती हैं। यहीं शैल्पिक प्रयोग के मामले में राही अब्दुल बिस्मिल्लाह से बीस ठहरते हैं।

पूरे उपन्यास में कई स्थलों पर अब्दुल बिस्मिल्लाह नेरेटर के रूप में भी उपस्थित है। उपन्यास के प्रारंभ में ही बिना किसी पूर्व भूमिका के कथा प्रारंभ हो जाती है। बीच-बीच में उपन्यासकार कई चीजों का वर्णन कराता चलता है जैसे पात्रों का परिचय, उनका विवरण, कद-काठी का वर्णन, आस-पास के परिवेश का वर्णन आदि। कई स्थलों पर उपन्यासकार वर्णन करते हुए भी भाषा को बदलने नहीं देता वैसी ही देशज भाषा रहने देता है जिससे पूरे उपन्यास में एक कसाव बना रहता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- " सुबरात का दिन है। घर-घर में हलवे बन रहे हैं।"[41] यहाँ यह आसानी से लक्षित किया जा सकता है कि उपन्यासकार 'शब्ब-ए-बारात' शब्द का प्रयोग नहीं करता बल्कि 'सुबरात' शब्द का प्रयोग करता है जिससे उपन्यास में सहज प्रवाह बना रहता है, कोई बाधा नहीं आती। जहाँ उपन्यास के पात्रों का परिचय उपन्यासकार देता है वहाँ उपन्यासकार प्रेमचंद की परम्परा का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- "हाजी अमीरुल्लाह का खानदान बहुत बड़ा है। चार भाई और पाँच बहिनें। फिर हर भाई का अलग-अलग परिवार। सबसे बड़े हैं हाजी मतिउल्लाह, उनसे छोटे हैं हाजी मिनिस्टर, फिर हाजी अमीरुल्ला और अन्त में हवीबुल्ला। हवीबुल्लाह अभी हाजी नहीं हैं, पर जल्द ही मक्का जानेवाले हैं।"[42] फिर

उपन्यासकार यह बताना शुरू करता है कि हाजी मिनिस्टर का नाम हाजी मिनिस्टर क्यों पड़ा। यहाँ जो वर्णन पद्धति अपनायी गयी है वह प्रेमचंदीय स्कूल की प्रतीत होती है।

किसी भी उपन्यास में लेखक के मूल उद्देश्य को सफल बनाने में शिल्प प्रमुख भूमिका अदा करता है। **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** में उपन्यासकार का मूल उद्देश्य है बुनकर समुदाय के नरकीय जीवन का चित्रण करना। इस नरकीय जीवन के कारणों को उभारने के लिए उपन्यासकार को कई प्रासंगिक कथाओं को जोड़ना पड़ता है। उपन्यासकार भी यह अच्छी तरह से जानता है कि बिना इन प्रासंगिक कथाओं को उठाये समस्या के कारणों को उसके मूल के साथ पकड़ना भी मुश्किल है और समाधान भी निकाल पाना मुश्किल है। इन प्रासंगिक कथाओं के कारण ही बुनकर समाज की दुरावस्था पूर्ण रूप से उभरकर आ सकी है। ऐसे में लेखक अपने उद्देश्य को भलीभाँति प्राप्त करने में सफल हुआ है। कुल मिलाकर शिल्प के धरातल पर यह उपन्यास सफल ही प्रतीत होता है।

**'सूखा बरगद'** उपन्यास सांप्रदायिकता संदर्भित उपन्यासों में शिल्प के धरातल पर अपना अलग स्थान रखता है। उपन्यास में लेखक मंजूर ऐहतेशाम कहीं भी साक्षात् अपनी उपस्थित दर्ज नहीं कराते। उन्होंने कथा प्रस्तुत करने की जिस प्रणाली का प्रयोग किया है हिंदी का पाठक समुदाय इससे भी पहले इस प्रणाली से रू-ब-रू हो चुका है और वह प्रणाली है उपन्यास के किसी पात्र को 'मैं' के रूप में उपन्यास में खड़ा कर देना और उसी के माध्यम से कथा को आगे बढ़ना। मंजूर ऐहतेशाम से पहले यह प्रणाली जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों में देखी जा चुकी है। यहाँ उपन्यासकार पूरे उपन्यास में अपनी उपस्थिति छुपाये रखता है और उपन्यास के किसी एक पात्र की काया में प्रवेश कर अपनी बात कहता है। यथार्थवादी उपन्यासों में इस प्रकार की प्रविधि के प्रयोग से यथार्थ को और पुष्ट बानकर पेश किया जाता है। उपन्यास ऐसे में कहीं न कहीं आत्मकथा या डायरी का सा

आभास देने लगती है। यहीं उपन्यासकार का कलात्मक कौशल काम आता है कि रचना डायरी या आत्मकथा न बनकर उपन्यास बन जाती है। परकाय प्रवेश का सुंदर नमूना इस उपन्यास में देखा जा सकता है। मंजूर ऐहतेशाम का कलात्मक कौशल देखते ही बनता है।

उपन्यास की भाषा के स्तर पर जिस नवीन प्रयोग की बात की गई है उपन्यास के शिल्प के स्तर पर भी यही बात इस उपन्यास की अद्वितीय विशेषता बनकर उभरती है। उपन्यास में इस प्रकार के शिल्प के प्रयोग के कारण पाठकों को अधिक सजग होकर उपन्यास पढ़ना पड़ता है। ऐसे में पाठक का उपन्यास के साथ अधिक जुड़ाव हो पाता है, पाठक अधिक इनवॉल्व हो पाता है। दूसरी बात जो उपन्यास के शिल्प को और अधिक प्रभावित बनाती है वह यह कि यदि उपन्यास में कोई नया पात्र या नई घटना घटती है तो रशीदा और रशीदा के माध्यम से उपन्यासकार उस व्यक्ति द्वारा कही गयी कुछ बातों का जिक्र करके या फिर घटना का प्रारंभ कर रुक जाता है और उस पात्र की पिछली किसी बात या उसके परिचय या फिर उस घटना से जुड़ी कुछ पुरानी बातों के माध्यम से उसे एक आकार देने का प्रयास करता है ताकि पाठक पूरी बात को समझ सके, घटना को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में समझ सके। उदाहरण के तौर पर उपन्यास का अध्याय एक लिया जा सकता है जहाँ रशीदा फफू के घर का सबसे पहले वर्णन करती है, फिर फफू और उनके रिश्तेदारों का परिचय देती है, फिर फफू का अंधविश्वास, तस्वीर खिंचवाने के प्रति घृणा और उसके बाद परत-दर-परत फफू के जीवन के अंतर्विरोध पाठकों के सामने खुलते जाते हैं।

**'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास अब तक लिखे गये उपन्यासों की लेखन परमपरा में शिल्प और रूप के मामले में बिल्कुल ही हटकर लिखा गया है और इसी कारण यह उपन्यास पठनीयता के मामले में सर्वाधिक लोकप्रिय भी रहा। शिल्प के स्तर पर कमलेश्वर ने वह सब संभव कर दिखलाया है जो अब तक हिन्दी उपन्यास के लेखन-जगत के लिए

असंभव था। उपन्यासकार ने इस असंभव को संभव बनाने के लिए ही फैंटसी का प्रयोग किया है। उपन्यास में कमलेश्वर ने धर्म, राजनीति जैसी कई गंभीर मुद्दों पर विचार करते हैं। गंभीर विषयों पर चिंतन करते हुए कई बार यह खतरा बना रहता है कि रचना अपनी रोचकता खो देती है मगर आश्चर्यजनक ढंग से **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास के साथ ऐसा कुछ भी नहीं होता। आलोचक ज्योतिष जोशी कहते हैं-" राजनीति, धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय, संविधान, सरकार, नागरिक, सुरक्षा जैसे गम्भीर प्रश्न एक उपन्यास में उठें, यह अजूबा लगता है; पर एक महाकाव्यात्मक रचना को इनसे बिना टकराये क्या निस्तार है ? सामान्यत: अपनी जटिल संरचना के कारण ऐसे उपन्यास पठनीय नहीं रह पाते, कथा बहुत पीछे छूट जाती है, लेखकीय हस्तक्षेप उभरकर आता है और चरित्र अपना स्वरूप गवाँ बैठते हैं लेकिन आश्चर्य है कि कमलेश्वर के इस उपन्यास में ऐसा कुछ भी घटित नहीं होता, बल्कि अपने गहन विमर्शों में उपन्यास पाठकों की जिज्ञासा को तीव्र करता जाता है। कथा की जरूरत एक सीमा के बाद स्वत: खत्म हो जाती है और चरित्रों के वक्तव्यों में पाठकों के आत्म की आवाज घुलने लगती है।"[43] जैसा कि आलोच्य उपन्यास की भूमिका में ही लेखक ने लिखा है कि यह उपन्यास लेखक के मन में उठनेवाले एक लंबे जिरह का परिणाम है। इस दौरान लेखक ने फिल्म जगत में कई फिल्मों के लिए पटकथा लिखी जो काफी सफल भी रहीं। दूसरी ओर कमलेश्वर ने दूरदर्शन पर प्रसारित होनेवाले कार्यक्रमों के भी संवाद वगैरह लिखे। इस कारण फिल्म के संवाद प्रविधि का अनायास ही उपन्यास में प्रवेश हो गया है। यह प्रविधि उपन्यास लेखन में बिल्कुल नयी प्रविधि तो नहीं है लेकिन कमलेश्वर के हाथों में आकर इस प्रविधि में और भी निखार आ गया है।

जैसे कथ्य एवं भाषा के स्तर पर कृष्णा सोबती ने नया प्रयोग कर बहस का एक नया मुद्दा, नया विमर्श खड़ा किया है वैसे ही शिल्प के स्तर पर भी एक नया विमर्श

कृष्णा सोबती खड़ा करती हैं। जब भी बनी-बनायी परिपाटी में कुछ नया घटता है तो थोड़ी बहुत हलचल तो होती ही है। ऐसे में कृष्णा जी कथ्य, भाषा और शिल्प तीनों ही स्तरों पर नया प्रयोग करती हैं तो एक बड़ी हलचल होना लाज़मी है। सबसे बड़ी बात की इस पूरे उपन्यास में कोई मुख्य कथा नहीं है। सारी कथाएं गौण रूप में ही हैं। शाह और शाहनी के इर्द-गिर्द कथा घूमती जरूर है लेकिन शाह और शाहनी की कथा जिंदगीनामा की मुख्य कथा है ऐसा कहना गलत होगा। शाह और शाहनी की कथा भी उसी रूप में चलती रहती है जिस रूप में अन्य कथाएं। अर्थात् यह उपन्यास उस बनी-बनायी परिपाटी को सीधे नकारती है जहां उपन्यास के लिए एक मुख्य कथा और कुछ गौण कथाओं का होना आवश्यक माना गया है। शैल्पिक स्तर पर इसे निभाना बड़ा ही कठीन कार्य है लेकिन कृष्णा सोबती जैसी लेखिका के लिए यह बाएं हाथ का खेल है।

शैल्पिक स्तर पर दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कि दो या उससे अधिक पात्रों के बीच के संवाद के दौरान कृष्णा सोबती उनके हाव-भाव भी बताती चलती हैं जिस कारण पाठक को उस पात्र के 'टोन' को समझने में ज्यादा मशक्कत नहीं करनी पड़ती। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियां देखी जा सकती हैं जहां कथाकार संवाद शुरु होने से पहले खड़ी हैं और पात्रों के मनोभावों को दिखला रही हैं-

> " कर्मइलाहीजी ने हुक्के के साथ-साथ खूब मज़ा खींचा इस बात का-...
> गंडासिंह की ढ़ीली पगड़ी को बैठे-बैठे कलफ़ लग गई-...
> शाहजी ने ऐसी निगाह दी कि सुरंग में सुराख़ देख लिया हो...
> दीन मुहम्मद ने झट डोर पकड़ ली-..."[44]

यहां यह देखा जा सकता है कि लेखिका हर एक पात्र का वर्णन करते हुए उसके मनोभावों को भी दिखाती चलती हैं। हुक्के से धुंआ खींचा जाता है लेकिन कर्मइलाही

जी धुंऐं के साथ खूब मज़ा भी खींचते हैं। एक ओर हुक्के का धुंआ जिसे कुछ क्षणों के लिए देखा जा सकता है दूसरी तरफ मज़ा जिसे देखा नहीं जा सकता मगर मज़ा लिया जा सकता है। मज़ा, आनंद मन का एक भाव है जिसे कृष्णा जी अपनी लेखनी के माध्यम से दिखा भी देती हैं। पाठक सहजता से इसे देख सकता है, समझ सकता है।

शैल्पिक स्तर पर एक और प्रयोग कृष्णा सोबती ने किया है। अब तक जितने भी उपन्यास देखे गये हैं उन सबमें यह देखा गया है कि दो दृश्यों के बीच विभाजन या तो अंक के रूप में रहा है जो उपन्यास लेखन की पाश्चात्य शैली है या फिर उच्छवास के रूप में रहा है जो कथा लेखन की भारतीय या देशज शैली है। आलोच्य उपन्यास में कृष्णा सोबती ऐसी किसी भी परंपरा या शैली को नहीं अपनाती। वे दृश्य लगातार बदलते भी हैं और कथा के साथ जुड़कर चलते भी रहते हैं। आलोचक डॉ. गोपाल राय इस उपन्यास के शिल्प पर विचार करते हुए कहते हैं- " शिल्प की दृष्टि से विचार करें तो *जिन्दगीनामा* में दृश्यों का ही एकाधिपत्य है। पर ये दृश्य, दृश्य कम, वार्तालाप अधिक हैं। इन्हें जोड़ने वाले कथाकार की भूमिका रंग-निर्देशक जैसी है। इसके फलस्वरूप कथा-रस तो बाधित हुआ ही है, प्रयोग की कोई सार्थकता भी प्रमाणित नहीं होती।"[45] आलोचक गोपाल राय का यह कथन सटीक हैं क्योंकि दृश्यों के बेतरतीब ढंग से चलने के कारण ही कथा से पाठक जुड़ नहीं पाता है। पंजाब की भाषा से अनभिज्ञ पाठक जब इस प्रकार के उपन्यास से गुजरता है तो उसे स्वाभाविक रूप से उपन्यास को समझने के लिए थोड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। शैल्पिक स्तर पर अगर यह प्रयोग कृष्णा सोबती ने न भी किया होता तो उपन्यास की कथा में कोई बाधा नहीं आती और न ही इसकी आंचलिकता में।

नासिरा शर्मा के उपन्यास **'जिंदा मुहावरे'** पर विचार करें तो, **'जिंदगीनामा'** की तरह इस उपन्यास का शिल्प जटिल नहीं है, जबकि यह उपन्यास दो अलग-अलग स्थानों को

एक साथ लेकर चलता है। नासिरा जी बड़ी ही कुशलता के साथ एक स्थान की घटनाओं को उजागर करते हुए दूसरे स्थान की भी कुछ सूचनाओं को बताती चलती हैं। जैसे निज़ाम की अम्मी की मृत्यु की खबर पाठकों को तब मिलती है जब कराची का कोई दृश्य चल रहा है जहां यह सूचना निजाम बातों ही बातों में देता है। जब पाठक इमाम के आस-पास है तब यह सूचना पाठक को नहीं मिलती। दूसरी बात शिल्प के संदर्भ में गौर करने लायक यह है कि जगह-जगह पर कथाकार परिस्थितियों को नैरेटर के रूप में प्रस्तुत करता है लेकिन इससे कथा में किसी प्रकार की बाधा खड़ी नहीं होती, बल्कि संवेदना और भी सघन रूप में उभरती है। उदाहरणस्वरूप उपन्यास के इस अंश को देखा जा सकता है-" निजाम एक ऐसा शख़्स था, जो अकेला ख़ाली हाथ जा रहा था। इन सब के बीच वह अजनबी था। न कोई उसे जानता था, न वह किसी को पहचानता था। जो भी थे, वे सब लुटे-पिटे आहत थे। कुछ भयभीत से घर-बार छोड़कर भाग निकले थे। कुछ दूसरों की देखा-देखी साथ हो लिए थे। इनमें से कई के दिल व दिमाग में कुछ भी साफ नहीं था। भगदड़ में सिर्फ इतना सोच पाए थे कि जान बचाने के लिए जाते हुए लोगों में शामिल हो जाओ, जब कल खतरा टल जाएगा, फसाद ठंडा हो जायेगा, तो फिर पुराने ठौर-ठिकाने को लौट आएंगे। कुछ बूढ़े यह भ्रम पाले हुए थे कि वह कहीं दूर थोड़े ही बल्कि अपने मुल्क के दूसरे हिस्से में पनाह लेने जा रहे हैं, हालात के ठीक होते ही अपने गांव वापस आ जाएंगे। उनकी बातें सुनकर निज़ाम तल्खी से हंसा था।"[46] यहां कथाकार निज़ाम और उसके जैसे हजारों लोगों की दयनीय परिस्थिति का वर्णन कर रहा है जिसे पढ़कर पाठक की संवेदना इन लोगों के प्रति और बढ़ जाती है क्योंकि इनमें से कई लोग ऐसे हैं जिन्हें यह पता भी नहीं है कि वे क्या करने जा रहे हैं। इसके आगामी परिणाम से भी वे वाकिफ नहीं हैं। ऐसे में पाठक का मन स्वाभाविक रूप से द्रवित हो उठता है। नासिरा शर्मा जैसी सिद्धहस्त कथाकार के लिए ही यह कौशल संभव है।

शैल्पिक प्रयोग के नजरिये से कथाकार दूधनाथ सिंह का उपन्यास **'आख़री कलाम'** कई स्थलों पर सफल है तो कई स्थलों पर उपन्यासकार की बेवजह उपस्थिति ने उपन्यास के शिल्प, उसकी गति को गहरा आघात पहुँचाया है। साथ ही एक स्थल पर समाचार पत्रों के गैरजिम्मेदाराना रवैये को दिखाने के लिए कथाकार ने अखबार की कतरनों को उपन्यास में जोड़ा है। यह नया प्रयोग है लेकिन अख़बार की नौ कतरनों को जोड़ना व्यर्थ प्रतीत होता है। कथाकार यहां दो-तीन कतरनों के माध्यम से भी अपने अभीष्ट की पूर्ति कर सकता था लेकिन यहां कथाकार चूक जाता है। आलोच्य उपन्यास में कथाकार ने कई स्थलों पर छोटी-छोटी कथाओं का इस्तेमाल किया है। ये कथाएं कथाकार के अभीष्ट की पूर्ति में सहायक बनी हैं। जैसे कई सहायक नदियां मिलकर किसी एक नदी की धारा को मजबूत बनाती हैं वैसे ही इन छोटी-छोटी कथाओं ने मिलकर मुख्य कथा को आगे बढ़ने में सहायता प्रदान की है। इस प्रयोग में कथाकार को सफलता मिली है। आलोचक विजय बहादुर सिंह के शब्दों में कहें तो- "निस्संदेह यहाँ एक अनोखे शिल्प को साधने की कोशिश की गई है। एक अंतर्गुंफनकारी औपन्यासिक शिल्प जिसमें लेखक एक ऐसा मकड़जाल रचता है जो पाठक को व्यामोहित कर फँसा लेता है। वह उसमें फँसता, धँसता और उलझता ही चला जाता है..."[47]

**'मैं बोरिशाइल्ला'** उपन्यास का शिल्प देखकर यह यकीन कर पाना मुश्किल है कि यह लेखिका महुआ माजी का पहला उपन्यास है। बंग भूमि की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह उपन्यास वह पाठकीय आनंद नहीं दे पाता अगर लेखिका ने हिंदी पट्टी के अनुरूप उपन्यास लिखा होता। बंगीय संस्कृति को उभारने के लिए लेखिका ने बांग्ला भाषा के लेखकों और कवियों की पंक्तियां बांग्ला में देकर जिस असाध्य वीणा को साधा है, वह प्रशंसा योग्य है। हिन्दी के ऐसे पाठक जिन्हें बांग्ला का ज्ञान नहीं उनके लिए लेखिका ने उन बांग्ला कविता की पंक्तियों का हिंदी अनुवाद भी उपलब्ध करा दिया है, ताकि पाठकों को कोई असुविधा न

हो। साथ ही उपन्यास में प्रयोग किये गये बांग्ला शब्दों का तात्पार्य फुटनोट के रूप में भी दिया गया है। लेखिका ने उपन्यास की बागडोर 'केष्टो' नामक पात्र के हाथ में सौंप दी है जो उपन्यास में 'मैं' बनकर खड़ा है। केष्टो के जीवन की घटनाओं को दर्शाने के क्रम में लेखक सांप्रदायिकता की समस्या के कारणों और उसके प्रभाव को चित्रित करता है। इस प्रकार शिल्प के स्तर पर भी लेखिका अत्यंत सफल रही हैं।

कथाकार मोहम्मद आरिफ का उपन्यास **'उपयात्रा'** 'मैं' शैली में लिखा गया उपन्यास है जहां फरीद के रूप में कथाकार स्वयं पाठकों से मुखातिब है। **6** दिसंबर **1992** के आस-पास के दिनों के भयावह माहौल को उजागर करती कथाकार की लेखनी वास्तव में सफल रही है। हॉस्टल के माहौल का, मुस्लिम बस्तियों के तंगहाल का बेबाक वर्णन करने में लेखन की शैली का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

**6. 2. 2. फैंटेसी-** फैंटेसी अभिव्यक्ति की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सबकुछ बेतरतीब होता है। सपनों की तरह। परन्तु उसका मनुष्य के जीवन के साथ एक रिश्ता जरूर होता है। समय और समाज की वर्त्तमान जटिलतम गुत्थियों को रचनाकार अभिव्यक्त करने के लिए फैंटेसी का प्रयोग करता है। जब स्वयं को अभिव्यक्त करना कठिन हो जाय तो अभिव्यक्ति के दूसरे रास्ते रचनाकार को चुनने पड़ते हैं। सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी कथाकारों ने फैंटेसी का प्रयोग भी किया है। इस समय तक आते-आते फैंटसी का प्रयोग हिंदी जगत के रचनाकारों एवं आलोचकों में से किसी के लिए भी नवीन कथन प्रणाली नहीं थी। हिंदी जगत इस प्रणाली से सर्वथा परिचित था। मगर उपन्यासों में इसका प्रयोग उस रूप में नहीं हुआ था जिस रूप में इसका सफल प्रयोग कविताओं में हुआ। **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में कमलेश्वर ने फैंटसी का प्रयोग अत्यंत ही सफलता के साथ किया है। कथ्य के बाद **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास के शिल्प की दूसरी महत्वपूर्ण बात है फैंटसी का प्रयोग। फैंटसी के प्रयोग का कारण भी था

क्योंकि जिस लंबे समय के अंतराल को कमलेश्वर अपने उपन्यास में लेते हैं उसे साधने के लिए फैंटसी का प्रयोग आवश्यक था। बाबर, दाराशिकोह, औरंगजेब, जिन्ना जैसे इतिहास पुरुषों को उपन्यास में लाना और उनके मुँह से उन तथ्यों को प्रस्तुत करना जो आधुनिक समय में आजादी के बाद प्राप्त हुए थे, जो व्यक्तिगत कारणों से जनसाधारण के सामने न आ सके, उन बातों को ऐतिहासिक पात्रों से कहलवाने के लिए फैंटसी का प्रयोग आवश्यक था। इस संबंध में विष्णु प्रभाकर कहते हैं- " उनका लिखने का तरीका भी बहुत खूबसूरत है। सबसे बड़ी बात है कि इतनी बड़ी चीज कैसे लिखें। तो इसके लिए उन्होंने फैंटसी बनायी है। महत्वपूर्ण यह भी है कि कमलेश्वर ने उपन्यास के बने-बनाये ढाँचे को तोड़ा है और अभिव्यक्ति के लिए सब कुछ संभव बना देने का दुर्लभ और नया प्रयोग किया है। इस फैंटसी के साथ प्यार भी है। पढ़ने में उसकी भाषा भी बहुत सुंदर लगती है, जो कि काफ़ी शक्तिशाली है।"[48] कमलेश्वर जैसे सिद्धहस्त व्यक्ति को लिए यह कोई बड़ी बात नहीं मगर अपने समकालीन एवं परवर्ती रचनाकारों के लिए वे एक चुनौती जरूर पेश करते हैं।

आलोच्य उपन्यास की भूमिका से गुजरने पर ही पता चल जाता है कि यह उपन्यास शिल्प के स्तर पर भी कितनी बेहतरीन रचना बन पायी है। कमलेश्वर ने अपने समकालीन लेखकों और आलोचकों की बातों को तो भूमिका भाग में रखा ही है स्वयं उपन्यास में किये गये प्रयोग पर विचार करते हुए कहा है- " ...मैं कहना चाहता हूँ कि जो भी प्रयोग इस रचना में हुआ या हो गया है, वह मेरे कारण नहीं बल्कि 'कथ्य' के कारण हुआ है। लेखक प्रयोगवादी होने का दंभ पाल सकता है पर प्रयोग की सारी संभावनाएं केवल कथ्य में निहित होती हैं।"[49] दरअसल यह प्रयोग कमलेश्वर से सायास नहीं किया बल्कि अनायास हो गया है। फिल्मी तकनीक, फैंटसी का प्रयोग इत्यादि कमलेश्वर के लिए साध्य नहीं बल्कि अभिव्यक्ति का साधन मात्र है।

**'उपयात्रा'** उपन्यास में भी एक ऐसा मौका भी आया है जहां बाबर को स्वप्न में खड़ा किया गया है। यह फैंटसी का प्रयोग है। लेखक को अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए फैंटसी का प्रयोग करना पड़ा है। जिस बात को लेखक कहना चाहता है वह सीधे-सीधे कह देने से जो प्रभाव नहीं छोड़ती, उससे कई गुना ज्यादा प्रभाव तब छोड़ती है जब बाबर के मुख से वह बात कही जाती है।

**6. 2. 3. फिल्मी तकनीक-** फिल्म या सिरियल्स में दो घटनाओं के बीच टाइम शिफ्टिंग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और यह टाइम शिफ्टिंग अंक दर अंक **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में भी चलता रहता है। यह कार्य उपन्यास जैसी विधा में कमलेश्वर जैसे सिद्धहस्त सर्जक द्वारा ही संभव था। आलोचक डॉ. बच्चन सिंह टाइम शिफ्टिंग की बात से भी आगे निकलकर 'स्पेस-टाइम-कान्टीन्यूॲम' की बात करते हैं- " 'कितने पाकिस्तान' का स्थापत्य थोड़ा जटिल और रोचक है। उपन्यास की तह तक पहुँचने के लिए उसे बेधना पड़ता है। अब तक हिन्दी में लिखे गए उपन्यासों से इसका कला-विन्यास अलग है। आधुनिक उपन्यास तो टाइम शिफ्टिंग से भरे पड़े हैं। इसकी शुरुआत जैनेन्द्र और अज्ञेय से हो चुकी थी। यह टाइम शिफ्टिंग का नहीं, स्पेस-टाइम-कान्टीन्यूॲम का उपन्यास है। इसमें अतीत नहीं, वर्तमान है। अब तक के उपन्यास भूतकाल के उपन्यास होते थे। इसमें भूतकाल भी वर्तमान काल है। सिने पर्दे पर सबकुछ बिम्बित-वर्तमान में जीवन्त। फिल्मी तकनीकी को लेखक कमलेश्वर ने बड़े ही सार्थक ढंग से इस्तेमाल किया है। उन्हें सीरियलों के लिए एपिसोड लिखने के साथ-साथ फिल्म बनाने का भी अनुभव है। सारा उपन्यास एपिसोड में बँटा हुआ है। एपिसोड में समय आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ होता रहता है, स्थान-व्यक्ति बदलते रहते हैं। पात्र अपने क्रिया-कलापों का इजहार करते हैं, क्रुद्ध होते हैं, असहाय होते हैं। स्थितियाँ सहसा बदल जाती हैं, वस्तुएँ अपनी विचित्रता और अजनबीयत में उजागर होती हैं। इसके भीतर घुसने के लिए

पाठक को इसे पुनर्निर्मित करना पड़ता है, उसे देश-विदेश के इतिहासों, संस्कृतियों के अन्तरालों और पूर्वजों के साक्षात्कारों के 'हेलुसनेशन' से गुजरना पड़ता है।"[50] पहले भी कहा जा चुका है कि यह उपन्यास कमलेश्वर के लंबे चिंतन-मनन का प्रतिफलन है।इसी कारण यह उपन्यास वैश्विक सरोकारों से जुड़ पाता है।देश-विदेश में मौजूद विभाजक तत्वों और साम्राज्यवादी ताकतों की शिनाख्त करने के लिए लेखक को उन देशों और उनकी संस्कृतियों से होकर गुजरना पड़ता है।ऐसे में पाठक तटस्थ होकर नहीं रह सकता, उसे भी, उपन्यासकार कहें या अदीब ही कह लें, के साथ-साथ चलना पड़ता है।इसी कारण यह उपन्यास सांप्रदायिक समस्याओं पर लिखे गये उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास बन पाता है।

**'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास अपने सामाजिक सरोकारों के लिए जितना चर्चित रहा उतना ही अपने शिल्प के कारण भी चर्चा का विषय रहा।डॉ. विजय बहादुर सिंह इस उपन्यास की कथन प्रणाली एवं शिल्प पर विचार करते हुए कहते हैं- " लेखक संभवत: इस धारणा से बहुत इत्तफाक रखता है कि संप्रेषण ही किसी लेखन का परम धर्म है और उसे किसी भी हद तक जाकर संपन्न करना हमारे समय के प्रतिबद्ध लेखन का धर्म है।

पुनश्च क्या इससे उपन्यास का कोई ऐसा ढाँचा बनता है, जिसे आनेवाले रचनाकार अपना पाएँगे ? क्या वे किसी ऐसी कहानी की परिकल्पना कर पाएँगे जिसमें पुराण, इतिहास और राजनीति की घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर किसी ऐसी परंपरा की पुनर्व्याख्या संभव हो पाएगी जिससे न केवल मुक्त होना जरूरी हो बल्कि उससे मुठभेड़ करना भी अवश्यंभावी हो।

कमलेश्वर जैसे लेखक जिन्हें मुद्रित शब्दों के शिल्प से लेकर छोटे-बड़े परदों पर चित्रित शब्दों की तकनीकी का गहरा अनुभव है, वे ही ऐसी त्रिस्तरीय कथा रच सकते थे जिसमें आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं का ऐसा जटिल सामरस्य हो।"[51]

**6. 2. 4. व्यंग्य-** व्यंग्य लेखन की एक ऐसी कला है जिसके माध्यम से लेखक अपनी बात को और भी धारदार बनाकर कहता है जिसकी मार पाठक के मन के अंतरतम् स्थल को लगती है। सीधे तौर पर कहने से जो बात अपनी अर्थवत्ता खो देती है, व्यंग्य के माध्यम से कहने पर वही बात और भी अधिक निखर कर आती है, उसका असर और भी गहरा हो पाता है। लेखक के पास केवल मात्र शब्द ही वे साधन हैं जिसके माध्यम से वह अभिव्यक्ति कर पाता है। अतएव लेखक को अत्यंत सावधानीपूर्वक शब्दों का, वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है। व्यंग्य लेखन की एक ऐसी शैली है जिसके माध्यम से लेखक अपने अभीष्ट की पूर्ति तो कर लेता है लेकिन पढ़ने वाले पाठक पर उसका असर लंबे समय तक रहता है। स्वयं की नादानी को पाठक महसूस कर पाता है परन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ न कर पाने की विवशता उसे और भी अधिक खलती है। जिस व्यक्ति पर व्यंग्य कसा जाता है वह भी इसे भलिभांति समझ पाता है लेकिन वह कर कुछ नहीं पाता। व्यंग्य हास्यात्मक ढंग से भी कसा जा सकता है और परोक्ष रूप में भी व्यंग्य कसा जा सकता है। सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासों में भी व्यंग्य का प्रयोग कथाकारों ने कई स्थलों पर किया है।

कथाकार राही के उपन्यास में व्यंग्य का प्रयोग अनेकों स्थलों पर हुआ है। ग्रामीण समाज की बोलचाल की भाषा में व्यंग्य का प्रयोग अक्सर देखने को मिलता है। स्वयं राही भी गंगोली की मिट्टी से बने थे इस कारण वार्त्तालाप के दौरान व्यंग्य का आना स्वाभाविक ही है। उपन्यास का एक अंश उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है-

" काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का हाल है ?"

" वह तो बन रहा है। "

" काहे न बनिहे, भैया। तूँ कहि रइयो तो जरूर बनिये। बाक़ी ई गंगौली पाकिस्तान में जईहे कि हिन्दुस्तान में रईहे ?"

" ई तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में तो सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध और बंगाल होगा। और कोशिश कर रहें हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाय।"

" गंगौली के वास्ते ना न करिह्यो कोशिश ?"

" गंगौली का क्या सवाल है ?"

" सवाल न है त हमें पाकिस्तान बनने न बनने से का ?"

" एक इस्लामी हकूमत बन जायेगी।"

" कहीं इस्लामु है कि हुकूमतै बन जहिए। ऐ भाई, बाप-दादा की क़बर हियाँ है, चौक इमामबाड़ा हियाँ है, खेत-बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जायँ !"

" अंग्रजों के जाने के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा !"

" हाँ-हाँ, त हुये बा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो जैसे हिन्दुवा सब भुकाऊँ हैं कि काट लीहयन। अरे, ठाकुर कुँवरपाल सिंह त हिन्दूए रहे। झिंगुरियो हिन्दू है। ए भाई, ओ परसरमुवा हिन्दुए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरमज़दगी कीहन कि हम हज़रत अली का ताबूत न उठे देंगे, काहे को कि ऊ में शीआ लोग तबर्रा पढ़त हएँ त परसरमुवा ऊधम मचा दीहन कि ई ताबूत उट्ठी और ऊ ताबूत उठा। तोरे जिन्ना साहब ताबूत उठवाये न आये !"[52]

उपरोक्त उद्धरण अलीगढ़ से आये अनवारुलहसन राक़ी के बेटे फ़ारुक़ और गांव के फुन्नन मियाँ के संवाद का अंश है। फ़ारुक पाकिस्तान बनने का हिमायती है जबकि फुन्नन मियाँ पाकिस्तान बनने के पीछे दिये जा रहे तर्कों को समझ नहीं पाते। बार-बार अलीगढ़ से मुस्लिम लीग के समर्थक नौजवान गंगोली में आकर लोगों को हिन्दुओं के खिलाफ

भड़काते हैं और जबकि गंगोली में और ऐसे हजारों गांवों में मुसलमान और हिन्दू सदियों से एक साथ जीवन व्यापित कर रहे हैं। उनमें कोई बैर-भाव मौजूद नहीं है। इसी कारण फुन्नन मियाँ के मन में मुस्लिम लीगी नौजवानों के प्रति चिढ़ पैदा होने लगती है। इसी चिढ़ का परिणाम है उपरोक्त संवाद। इस उद्धरण में लेखक ने 'ह्यूमरस' व्यंग्य का प्रयोग किया है। आधा गांव में अधिकतर व्यंग्य इसी प्रकार के हैं।

कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने भी **'झीनी झीनी बीनी चदरिया'** उपन्यास में व्यंग्य का प्रयोग किया है। मुस्लिम समाज में तलाक देने की प्रवृत्ति और छूट पर, स्त्री की दुरावस्था पर मतीन के विचारों के माध्यम से लेखक व्यंग्यात्मक लहज़े में कहता है-" अलीमुन ने जब यह खबर मतीन को सुनायी तो उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। तलाक तो बिरादरी में आम बात हो गयी है। औरत जात की आख़िर हैसियत ही क्या है ? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो ! औरत का और इस्तेमाल ही क्या है ? कतान फेरे, हाँड़ी-चूला करे, साथ में सोये, बच्चे जने और पाँव दबाये। इनमे से अगर किसी भी काम में हीला-हवाली करे तो कानून-इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तलाक ! तलाक ! तलाक ! बिरादरी में तो 'महर' का झंझट भी नहीं है।"[53] यहाँ लेखक ने मुस्लिम समाज और इस्लाम में औरत की दुरावस्था को व्यंग्यात्मक लहजे में उभारा है। इस प्रकार के व्यंग्य को 'सटायर' कहते हैं जहाँ बात को सीधे-सीधे कह दिया जाता है और जो पाठक को नश्तर की तरह चुभती है। उपन्यास की उपरोक्त पंक्तियां हर उस व्यक्ति को चुभेगी जो औरत को अपने पाँव की जूती से ज्यादा नहीं समझता।

**'आखिरी कलाम'** उपन्यास का मुख्य पात्र आचार्य तत्सत पांडे को देखकर ऐसा ही महसूस होता है कि वह व्यक्ति न केवल स्वयं से बल्कि अपने आस-पास की तमाम व्यवस्था से नाखुश है। जिसका परिणाम यह निकलता है कि बात-बात पर वे भारतीय समाज

पर व्यंग्य ही कसते नज़र आते हैं। बाबरी मस्जिद जाने के क्रम में सर्वात्मन और बिल्लेश्वर के साथ हुई बातचीत का एक अंश द्रष्टव्य है-

" 'उनके पैरों में जूते नहीं होंगे।' आचार्य ने फिर कहा।

सर्वात्मन की कुछ समझ में नहीं आया।

'अगर उनके पैरों में जूते हुए तो वे पुलिस के जवान होंगे और नहीं होंगे तो वे रामजी के सेवक हुए।' उन्होंने हँसते हुए कहा।

सारी बात सर्वात्मन के भीतर कौंध गई। वह अपने गुरु को चकित होकर देखने लगा।

'देखना, नहीं होंगे।' उन्होंने निश्चयात्मक स्वर में कहा।

तभी वे बाड़े से निकलकर मेटल डिटेक्टर के दरवाज़े पर पहुँचे। वहाँ पुन: पुलिस के जवान खड़े थे।

'आपके पैरों में जूते नहीं हैं ?' मेटल डिटेक्टर के 'पास' होते हुए आचार्यजी ने कहा। कहते हुए उन्होंने सर्वात्मन की तरफ़ मुड़कर देखा, जो मेटल डिटेक्टर के दरवाज़े में झुका हुआ खड़ा था।

'रामलला यहाँ जनम लिए थे।' सिपाही ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया।

'मस्जिद में ?' आचार्यजी ने कहा।

पुरबिया जवान उनकी ओर देखकर हँसा। उसे फुर्सत नहीं थी।

'चलिए, चलिए...आगे बढ़िए।' एक जवान लगातार भीड़ को हाँक रहा था।

'क्या हम मस्जिद का फेरा लगा सकते हैं ?' आचार्यजी ने उस नौजवान से पूछा।

'मस्जिद कौन सी ?' नौजवान सिपाही हक्का-बक्का उस बूढ़े को देखने लगा।

'यही...तीन गुम्बदोंवाली।' आचार्यजी ने ऊपर गुम्बदों की ओर उँगली से इशारा किया।

'पागल हो का बुढ़ऊ ?' नौजवान ने कहा।

'शायद।'

'तवै !'

'आपके पैरों में सिर्फ़ मोज़े हैं ?' आचार्यजी ने नीचे की ओर देखा।

'अबे, हट्।चल उधर दर्शन कर, और नहीं तो भाग यहाँ से।' सिपाही ने आचार्यजी का पँखुरा पकड़, लाइन की ओर ढकेला।

'ले जा रहे हैं।'सर्वात्मन ने उन्हें थाम लिया।

'और तुम ? बाप को दर्शन कराने लाए कि पुरान कथने के लिए ?' सिपाही ने कहा।

'बिल्लेश्वर ने उन्हें दूसरी ओर से पकड़ा और सिपाही को समझाया, 'आस्ते...आस्ते।'

'चुप बे, रामलला के जन्म-अस्थान को मस्जिद बोलता है ? फेरा लगाएगा ?' सिपाही दर्शनार्थियों की लाइन में आगे खिसककर उनके बराबर पर आ गया, '...दिखाएँ जूता ?"[54]

उपरोक्त उद्धरण में देखा जा सकता है कि सिपाही आचार्य तत्सत पांडे के साधारण से सवालों पर भी तिलमिला उठता है।इसका कारण यह है कि सुरक्षा बल में होने के नाते जो कार्य सिपाही को करना चाहिए वह कार्य न करके वह रामलला का सुरक्षा गार्ड ज्यादा लगता है।उसका यह कर्तव्य है कि वह निष्पक्ष होकर कार्य करे लेकिन वह निष्पक्ष रह नहीं पाता।इसी कारण आचार्य जी के द्वारा पूछे गये सवालों से वह तिलमिला उठता है।ये

प्रश्न, प्रश्न के रूप में व्यंग्य हैं जिनकी धार इतनी तेज़ है कि सामने वाला व्यक्ति और कुछ कर ही नहीं पाता।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता संदर्भित समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने भाषायी एवं शैल्पिक स्तर पर भी कई प्रयोग किये। इन प्रयोगों में वे अत्यंत सफल भी रहे हैं। अभिव्यक्ति के विविध माध्यमों का लेखकों ने अपने उपन्यास में प्रयोग किया है। दरअसल उपन्यास विधा ऐसी तरल विधा है जिसे जिस साँचे में ढ़ाला जाय उसी का रूप ले लेता है। साथ ही कथाकारों ने विविध आधुनिक तकनीकों का प्रयोग कर असंभव को भी संभव कर दिखाया है। चाहे वह उपन्यास में फिल्मी तकनीक का प्रयोग हो या फिर फैंटेसी का प्रयोग। अभिव्यक्ति के खतरों को यथासंभव कथाकारों ने उठाया है और अपने लेखन कौशल का परिचय दिया है।

**संदर्भ ग्रंथ सूची -**


1. फॉक्स, रैल्फ (अनु.-नरोत्तम नागर), उपन्यास और लोकजीवन, पीपुल्स पब्लिशींग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नयी दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-10
2. राय, डॉ. गोपाल, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-33
3. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-59
4. आरिफ, मो., उपयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-28
5. श्री, गीतांजलि, हमारा शहर उस बरस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-27
6. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-57
7. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-361
8. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-59
9. आरिफ, मो., उपयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-131
10. वही, पृष्ठ संख्या-131
11. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-09
12. राय, चन्द्रदेव एवं धूमकेतु, जयप्रकाश (संपादक), अभिनव कदम 6-7, मऊ, उत्तर प्रदेश, नवम्बर 2001-अक्टूबर-2002, पृष्ठ संख्या-240
13. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-118
14. राय, चन्द्रदेव एवं धूमकेतु, जयप्रकाश (संपादक), अभिनव कदम 6-7, मऊ, उत्तर प्रदेश, नवमबर 2001-अक्टूबर-2002, पृष्ठ संख्या-243
15. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-33
16. वही, पृष्ठ संख्या-19
17. ऐहतेशाम, मंजूर, सूखा बरगद, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-24
18. वही, पृष्ठ संख्या-140
19. सिंह, डॉ. विजय बहादुर, उपन्यास:समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-211
20. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-257
21. सोबती, कृष्णा, शब्दों के आलोक में, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण- 2010, पृष्ठ संख्या- 319-320
22. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-321
23. अहमद, डॉ. एम. फ़िरोज (संपादक), वाङ्मय (नासिरा शर्मा विशेषांक), अलीगढ़, पृष्ठ संख्या-271
24. सिंह, डॉ. विजय बहादुर, उपन्यास:समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-

2007, पृष्ठ संख्या-223
25. माजी, महुआ, मैं बोरिशाइल्ला, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-8
26. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-36
27. वही, पृष्ठ संख्या-182
28. वही, पृष्ठ संख्या-251
29. वही, पृष्ठ संख्या-309
30. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-134
31. बांदिवडेकर, चंद्रकांत, उपन्यास : स्थिति और गति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-398
32. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-12
33. वही, पृष्ठ संख्या-15
34. बांदिवडेकर, चंद्रकांत, उपन्यास : स्थिति और गति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-169
35. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-302
36. साहनी, भीष्म, तमस, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-07
37. वही, पृष्ठ संख्या-92
38. शाही, विनोद (संपादक), तमस : एक पुनर्पाठ, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-28
39. सिंह, बच्चन, उपन्यास का काव्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-149
40. सिंह, डॉ. नामवर (संपादक), आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-132
41. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-19
42. वही, पृष्ठ संख्या-24
43. जोशी, ज्योतिष, उपन्यास की समकालीनता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-72
44. सोबती, कृष्णा, जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-247
45. राय, गोपाल, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2005, पृष्ठ संख्या-322
46. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-13
47. सिंह, डॉ. विजय बहादुर, उपन्यास:समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-

2007, पृष्ठ संख्या-234

48. सिंह, कुंवरपाल (संपादक), वर्तमान साहित्य, अलीगढ़, सितम्बर-2007, पृष्ठ संख्या-90
49. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण-2007, पाँचवे संस्करण की भूमिका से
50. सिंह, बच्चन, उपन्यास का काव्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-156
51. सिंह, डॉ. विजय बहादुर, उपन्यास:समय और संवेदना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-212
52. रज़ा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-2004, पृष्ठ संख्या-162
53. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी झीनी बीनी चदरिया,राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृष्ठ संख्या-49
54. सिंह, दूधनाथ, आखिरी कलाम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या-320

# उपसंहार

# उपसंहार

'समकालीन हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता का संदर्भ' विषय पर कार्य करते हुए कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने निकलकर आती हैं। सबसे पहली बात तो यह कि धर्म की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत मौजूद हैं। भारतीय मनीषा में धर्म को कर्म के साथ जोड़कर देखने की परंपरा रही है। मनुष्य के आचार-विचार-व्यवहार के साथ धर्म को जोड़कर देखा गया है वहीं पाश्चात्य जगत में धर्म की उत्पत्ति के कारणों को खोजने की कोशिश की गई है। साथ ही सांप्रदायिकता के साथ धर्म को जोड़कर देखा जाता है जबकि धर्म का सांप्रदायिकता के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं है। किसी भी धर्म में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैमनस्य का भाव रखने जैसी बातें नहीं कही गयी हैं। दूसरे धर्मों का आदर करने जैसी बात हर धर्म में कही गयी है लेकिन हुआ यह कि एक धर्म के अनुयायी ने दूसरे धर्म के अनुयायी को घृणा की दृष्टि से देखा है। एक धार्मिक व्यक्ति सांप्रदायिक नहीं भी हो सकता है जबकि एक नास्तिक व्यक्ति भी सांप्रदायिक हो सकता है। जैसे महात्मा गांधी और मौलाना अबुल कलाम आजाद, दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के लोग थे परन्तु इन दोनों को सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता जबकि मुहम्मद अली जिन्ना, जो धार्मिक नहीं थे मगर उनके विचार सांप्रदायिक जरूर थे। जिन्ना की महात्वाकांक्षा का परिणाम पाकिस्तान के रूप में सामने आया।

ध्यातव्य है कि जब-जब किसी खास धर्म को सत्ता का साथ मिला है तब-तब उस धर्म की दुंदभी चारों ओर गूंजने लगी है। उदाहरणस्वरूप कलिंग के युद्ध के बाद सम्राट अशोक ने जब बौद्ध धर्म को राजधर्म के रूप में अपनाया तब बौद्ध धर्म ने वैश्विक धर्म का आकार पाया। इसके पहले बौद्ध धर्म की सीमा केवल भारत में ही थी। यह बात अशोक के पहले भी मौजूद थी और अशोक के बाद भी यह परम्परा भारत में चलती रही। धर्म के सत्ता के साथ गठजोड़ काफी पहले से मौजूद रहे हैं।

जब-जब धर्म किसी व्यक्ति के हाथों का खिलौना बना है, तब-तब धर्म में संकीर्ण प्रवृत्तियों ने जन्म लिया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि धर्म का सांप्रदायिकता के साथ कुछ भी ताल्लुक नहीं है। धर्म का इस्तेमाल अन्य धर्मावलम्बियों के खिलाफ किया जाता है क्योंकि धर्म के नाम पर लोगों को एकजुट करना बहुत आसान है। साधारणत: यह देखा गया है कि सांप्रदायिकता के लिए केवल धर्म को जिम्मेवार माना गया है, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं है। सांप्रदायिकता के भाषायी कारण भी रहे हैं। भारत की आजादी से पहले हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक वैमनस्य भाषा के आधार पर ही खड़ा किया गया। बाद में इसने धार्मिक रूप धारण किया। सांप्रदायिकता के आर्थिक कारण भी मौजूद हैं। सांप्रदायिकता वर्ण के आधार पर भी होती है। सांप्रदायिकता क्षेत्र के आधार पर भी अपना अस्तित्व जमाये हुए है। अतएव सांप्रदायिकता को केवल धर्म के साथ जोड़कर देखना इसके केवल एक आयाम को देखना होगा। इसे और भी व्यापक स्तर पर देखने की आवश्यकता है।

सांप्रदायिकता को राष्ट्रवाद के साथ जोड़कर देखने की परंपरा भी रही है, जबकि मैंने अध्ययन के दौरान यह पाया है कि सांप्रदायिकता की विचारधारा के ठीक उल्टी अवधारणा है राष्ट्रवाद। राष्ट्रवाद शब्द राष्ट्र और राष्ट्रीयता से होकर जन्म लेता है। राष्ट्रवाद की अवधारणा के तहत राष्ट्र के प्रति समर्पण का भाव बिना किसी विशेष पहचान के होना चाहिए। धर्म, जाति, वर्ण, भाषा, क्षेत्र इत्यादि के रूप में किसी व्यक्ति की पहचान बाद में आती है जबकि एक राष्ट्र के नागरिक की रूप में उसकी पहचान पहले आनी चाहिए। भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद की अवधारणा इसके ठीक उलट रूप में है।

भारतीय संदर्भ में यदि देखा जाय तो भारत में राष्ट्रवाद की अवधारणा खंडित रूप में विकसित हुई है। औपनिवेशिक सत्ता ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारत में

राष्ट्रवाद हिंदू राष्ट्रवाद एवं मुस्लिम राष्ट्रवाद के रूप में उभरा। भारतीयता पूरी तरह से गौण रह गयी या यह कहे कि भुला दी गई। भारतीय मुसलमानों ने एक अलग राष्ट्र में अपने सुनहरे भविष्य का दिवा स्वप्न देखा तो हिंदू राष्ट्रवाद ने अपने व्यवहार से मुस्लिम राष्ट्रवाद की चिंगारी को दावानल में बदलने में सहायता की। औपनिवेशिक शासकों ने इस आग में घी डालने का कार्य किया। उन्होंने इन राष्ट्रवादी तत्वों द्वारा मांगी गयी मांगों को तुरंत स्वीकार कर लिया क्योंकि इससे समाज में पड़नेवाली दरार और भी चौड़ी होगी वहीं समाज के वे तबके जो सामाजिक विभाजन के विरोधी थे, उनकी मांगों को सिरे से खारिज कर दिया। औपनिवेशिक शासकों के आने के बाद ही भारत का मुकम्मल इतिहास लिखा गया है। उसके पहले जितने इतिहास लिखे गये वे खंडित इतिहास थे। अंग्रेज शासकों ने जो इतिहास लिखा वह भी विभाजन खड़ा करने वाला इतिहास ही था। उन्होंने भारत के प्राचीनकाल के इतिहास को हिंदूराज कहा, वहीं मध्यकालीन दौर को मुस्लिम राज कहा और स्वयं के समय को ब्रिटिश राज कहकर संबोधित किया। जहां भारत के प्राचीन और मध्यकालीन समय को धर्म के आधार पर चिन्हित किया गया वहीं स्वयं के शासन को ब्रिटिश राज कहकर धार्मिक गंध देने से बचा लिया गया। तब से लेकर आजतक कई इतिहास लिखे गये लेकिन अभी भी उसी इतिहास का अनुसरण किया जा रहा है जो इतिहास अंग्रेजों ने लिखा था। भारतीय समाज में एक प्रकार की अंध भक्ति है और अंध भक्ति के परिणाम भी खतरनाक होते हैं। भारतीय समाज को विभाजन की ज्वाला में जलना पड़ा, जिसके छाले रह-रहकर परवर्ती समाज को झेलने पड़े।

विडंबना यह है कि विभाजन और उससे पैदा हुए सांप्रदायिक दंगों को देखने के बावजूद भारतीय समाज ने कोई सीख नहीं ली। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी यह देखा गया कि सांप्रदायिक ताकतें लगातार मजबूत बनती गयी। भारतीय समाज लगातार खण्डों में

विभक्त होने लगा। शासक वर्ग ने समाज में आये इस विभाजन को रोकने के बजाय और भी प्रश्रय दिया। भारतीय राजनीति में इन खण्डों की भूमिका अब महत्वपूर्ण हो गयी है या यह कहें कि दलित और अल्पसंख्यक जिसे समर्थन दें उसे केंद्र की सत्ता पर आने से कोई रोक नहीं सकता। भारत की राजनीतिक पार्टियां इसे अच्छी तरह से जानती हैं और जब कभी उन्हें मौका मिलता है तो इसे भुनाने से बाज नहीं आती। कई बार किसी खास कौम के लोगों को भड़काकर कौमी दंगे करवाये जाते हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर भारत में हिंदुत्ववादी शक्तियां भी बड़ी ही तेजी से अपने पैर पसार रही हैं। इसने भी रूप बदलकर उग्र हिंदुत्ववाद का चोला धारण कर लिया है। कभी लोगों को क्षेत्र के नाम पर भड़काया जाता है, तो कभी भाषा या जाति के नाम पर।

भारतीय समाज का ध्रुवीकरण बड़ी तेजी से होने लगा है। कुल मिलाकर हम एक ऐसे ज्वालामुखी पर बैठे हैं जो कभी भी फूट सकता है। इन स्थितियों के मद्देनजर कई कमेटियां बनायी गयीं, कई आयोग गठित किये गये, सांस्थानिक एवं वैयक्तिक स्तर पर अध्ययन-चिंतन-मनन के माध्यम से कई निष्कर्ष भी निकाले गये किंतु ये सभी चीजें मात्र कागजी कार्रवाही बनकर रह गयीं, क्योंकि अगर इन पर अमल किया जाता तो सत्तासीन एवं सत्तारूढ़ होने को आतुर रहनेवाले दलों के निजी हितों को नुकसान होगा। शोध-ग्रंथ प्रस्तुत करने के बिल्कुल अंतिम क्षणों में असम में भीषण सांप्रदायिक हिंसा इसका ताज़ातरीन उदाहरण है। असम में घटनेवाली इस हिंसा की गूंजें भारत के विभिन्न कोनों में सुनने को मिल रही है। आज पूरी ताकत झोंक देने के बावजूद प्रशासन इन दंगों को रोक पाने में असफल है और देश के विभिन्न कोनों में रहनेवाले पूर्वोत्तरवासियों को सुरक्षा की गारंटी दे पाने में सक्षम नहीं है। इसका कारण देश की न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका का ढुलमुल रवैया है। अब तो न्यायपालिका भी आस्था के आधार पर फैसले सुनाने लगी है जबकि फैसले सबूतों

और गवाहों के आधार पर होते हैं। समय रहते अगर इन परिस्थितियों से सीख न ली गयी तो आनेवाले समय में और भी बुरी परिस्थितियों से दो-चार होना पड़ सकता है।

गौर से यदि भारतीय समाज को देखा जाय तो यह बड़ी ही आसानी से देखा जा सकता है कि सामंतवाद, पूंजीवाद और जनतंत्र की विकृतियों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भारतीय समाज है। एक ओर भारतीय समाज में मध्ययुगीन सामंती प्रवृत्तियां अभी भी मौजूद हैं, जैसे- धार्मिक आडंबर, अंधविश्वास, स्त्री को भोग्या के रूप में देखना, दलितों के प्रति दुर्व्यवहार आदि। वहीं पूंजीवाद की विकृतियों को भी भारतीय समाज में देखा जा सकता है। अमीर दिन पर दिन अमीर बनता जा रहा है वहीं गरीब और भी गरीब। इसके कारण भारतीय समाज में अमीर और गरीब के बीच खाई दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इस खाई को खत्म करने की कोशिश नहीं की जा रही। उद्योगपतियों को करोड़ों रुपयों की सहायता राशि दी जा रही है जबकि भंडारगृहों में लाखो टन अनाज सड़ रहा है मगर गरीबों में वितरित नहीं किया जा रहा। तीसरी तरफ जनतंत्र की विकृतियां भी हैं। कभी-कभी यह बात शिद्दत से महसूस होने लगती है कि क्या वाकई भारतीय समाज जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए तैयार हो पाया था, जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ। जैसे ही सत्ता का हस्तांतरण हुआ वैसे ही संसाधनों को हथियाने के लिए लूट मच गई। सत्ता कुछ लालची लोगों के हाथों में चली गयी और जनतंत्र उनके चौखट पर दम तोड़ने लगा। इन तथाकथित जनतांत्रिक प्रहरियों ने पूंजीपतियों के साथ हाथ मिला लिये जिस कारण संसाधनों का समान वितरण हो नहीं पाया। विषमता से भरे इस समाज में घुटन के अलावा और कोई रास्ता न था।

जहां तक कानून, विधि और व्यवस्था की बात की जाय तो यह बात शिद्दत से महसूस की जा सकती है कि भारत में अघोषित रूप से दो तरह के कानून हैं। एक गरीबों के लिए, जिन्हें कभी न्याय नहीं मिलता या न्याय मिलता भी है तो इतनी देर से की फरीयादी

न्याय, कानून, विधि, व्यवस्था इत्यादि जैसी चीजों से विश्वास ही खो देता है। दूसरा कानून अमीरों के लिए, जिन्हें न्याय-अन्याय की कोई फिक्र ही नहीं। मजेदार बात यह है कि अल्पसंख्यक समुदाय के किसी व्यक्ति को घृणा फैलाने के कारण यदि गिरफ्तार किया जाता है तो बहुसंख्यक वर्ग के व्यक्ति को यही कार्य करने के लिए गिरफ्तार क्यों नहीं किया जाता। यदि कानून सबके लिए एक समान है तो ऐसा दोहरा बर्ताव क्यों ? बढ़ती हुई बेरोजगारी भी सांप्रदायिकता का कारण बन रही है। बेरोजगार युवा वर्ग में सांप्रदायिक शक्तियां ये विचार बो रही हैं कि किसी खास वर्ग या जाति में जन्म लेने के कारण उन्हें वंचित होना पड़ रहा है। आरक्षण की राजनीति ने इस आग में घी का काम किया है।

भारतीय समाज में आधुनिक विचारों के लिए स्थान नहीं बन पाया जिसके परिणामस्वरूप तमाम विकृतियां सिर उठाने लगीं। वैज्ञानिक सोच का अभाव भारतीय समाज में देखा जा सकता है। बीच-बीच में धार्मिक ढ़ोंग का ऐसा जोरदार बहाव देखने को मिलता है कि विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि क्या सच में हम आधुनिक समय में जी रहे हैं ? आये दिन नये-नये धर्मगुरुओं का उदय हो रहा है। वास्तव में, बाजारवाद के युग में धर्म भी एक धंधा बन चुका है जिसमें कभी मंदी नहीं आती। इन सब परिस्थितियों को देखने के बाद यह कहना गलत नहीं होगा कि जहाँ भारत में आज भी सामंती सोच बनी हुई है, वहीं पूंजीवादी ताकतों के और भी ज्यादा मजबूत होने के कारण समाज का कोई भी कोना शिकार होने से बचा नहीं है। जहां तक जनतांत्रिक व्यवस्था की बात है, तो जनतंत्र है क्या और एक जनतंत्र में रहनेवाले नागरिक के कर्तव्य और अधिकार क्या हैं, यह शायद देश की आधी से अधिक जनता जानती ही नहीं। जनतंत्र का मखौल भारत के नेताओं ने उड़ाया है। भारत में संविधान भले ही एक हो, कानून और न्यायिक प्रक्रिया दो प्रकार के हैं। एक उच्चवर्ग के लिए तो दूसरा मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के लिए। इसके उदाहरण भारतीय समाज में भरे पड़े हैं।

उपरोक्त परिस्थितियां चिंताजनक हैं। ऐसे वातावरण में स्वस्थ मानसिकता जन्म नहीं ले सकती। जब मानसिकता स्वस्थ नहीं होगी तो मनुष्यता स्वस्थ कैसे हो सकती है ? साहित्य के मानवीय सरोकार हमेशा से रहे हैं। हिंदी के रचनाकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता आदिकाल से ही चली आ रही है। हिंदी के रचनाकारों ने समाज की विद्रूपताओं पर कुठाराघात बहुत पहले से ही किया है। आधुनिक काल में भी यह प्रक्रिया बदस्तूर जारी रही है। सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर हिंदी में कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि विधाओं में प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। हिंदी के अलावा बांग्ला, उर्दू, पंजाबी, असमिया, उड़िया, अंग्रेजी आदि तमाम भाषाओं में लेखन किया गया है। हिंदी उपन्यास में सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर भारतेन्दु युग में ही **'निस्सहाय हिंदू'** जैसा उपन्यास लिखा गया। स्वाधीनतापूर्व के उपन्यासकारों में प्रेमचंद, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', राजा राधिकारमण सिंह इत्यादि के उपन्यासों में सांप्रदायिकता की समस्या को खड़ा किया गया है। स्वाधीनता के बाद यशपाल, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रज़ा, कमलेश्वर, मंजूर ऐहतेशाम, अब्दुल बिस्मिल्लाह, कृष्णा सोबती जैसे मंजे हुए कथाकारों ने भी सांप्रदायिकता की समस्या ध्यान में रखते हुए उपन्यास लिखे।

**1990** के बाद भूमंडलीकरण का दौर भारतीय समाज में प्रवेश करता है। भूमंडलीकृत शक्तियों ने 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा रखी। इसे हिंदी में 'वैश्विक ग्राम' कहा गया। इन शक्तियों ने लोक लुभावन धारणा यह रखी कि अब राष्ट्र या राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज नहीं रहेगी। पूरे विश्व को एक ऐसी दुनिया में बदल दिया जायेगा जिसमें राष्ट्र या राष्ट्रीयता जैसी चीजें गौण हो जायेंगी। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपने उत्पाद बेचने के लिए मनुष्य के अंत: करण पर हमला करना आरंभ कर दिया। सामूहिकता का स्थान अकेलेपन ने ले लिया। इस अकेलेपन को दूर करने के कृत्रिम साधन भी इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने

सुझाये लेकिन मनुष्य का स्थान वस्तु कभी नहीं ले सकती। जैसे-जैसे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है, वैसे-वैसे सांप्रदायिकता की विचारधारा भी तेजी से अपने पैर पसारने लगी है। **1990** के बाद नासिरा शर्मा, दूधनाथ सिंह, विभूति नारायण राय, गीतांजलि श्री, महुआ माजी, असगर वजाहत, मो. आरिफ, हरियश राय इत्यादि कथाकारों ने सांप्रदायिकता को ध्यान में रखते हुए उपन्यास लिखे। इन कथाकारों की रचनाओं में भूमंडलीकृत समाज में आयी विकृतियां भी नजर आती हैं। कैसे भूमंडलीकृत शक्तियां अपने हितों के लिए विभिन्न राष्ट्रों पर जबरन युद्ध थोप रही हैं। वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर के उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** में विशेष रूप से इसे दर्शाया गया है।

समग्रता में यदि बात करें तो **1960** से लेकर अबतक लिखे गये उपन्यासों को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे उपन्यास हैं जिनमें विभाजन के पहले के समय से लेकर विभाजन के बाद के दौर का समय लिया गया है। इसमें राही मासूम रज़ा का उपन्यास **'आधा गाँव'**, **'दिल एक सादा कागज़'**, भीष्म साहनी का उपन्यास **'तमस'**, कृष्णा सोबती का **'जिन्दगीनामा'**, कमलेश्वर का उपन्यास **'लौटे हुए मुसाफिर'**, बलवन्त सिंह का उपन्यास **'काले कोस'** इत्यादि को लिया जा सकता है। इन उपन्यासों में विभाजन के पहले का समाज दिखाया गया है जहां सांप्रदायिक विचारों का कोई अस्तित्व न था। जैसे-जैसे देश विभाजन की ओर बढ़ता गया वैसे-वैसे सांप्रदायिक विचारों ने अपने पैर पसारने आरंभ कर दिये। सदियों से जो लोग एक साथ रह रहे थे उनमें भी वैमनस्य आने लगा। इस पीड़ा को कथाकारों ने बहुत ही मार्मिकता के साथ दर्शाया है। इस पीड़ा को कुछ लेखकों ने भोगा है तो कुछ लेखकों ने इसे महसूस करते हुए अभिव्यक्त किया है।

दूसरे वर्ग में वे उपन्यास आते है जिनमें ऐसे लोगों को दर्शाया गया है जिन्होंने या तो विभाजन को स्वीकार कर लिया या सिरे से नकार दिया। वे लोग जो विभाजन को

स्वीकार कर पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान चले गये, उनकी दुर्दशा को इन उपन्यासों में दिखलाया गया है। साथ ही जिन लोगों ने विभाजन के बाद भी भारत में ही रहना मुनासिब समझा, उनकी भी दशा कुछ ज्यादा अच्छी न थी। विभाजन के बाद भी लगातार सांप्रदायिक दंगे भारत में घटित हुए हैं। जब कभी पड़ोसी राष्ट्र पाकिस्तान के द्वारा भारत पर हमले हुए हैं या आतंकवादी घटनाओं को अंजाम दिया गया है तब-तब भारतीय मुसलमानों की स्थिति अत्यंत ही दयनीय हो जाती है। हर बार उन्हें अपनी देशभक्ति का प्रमाण देना पड़ता है। विभाजनोपरान्त भारतीय मुसलमानों में आयी अजनबीयत का मार्मिक चित्रण इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। राही मासूम रज़ा के उपन्यास **'टोपी शुक्ला'**, बदीउज्जमाँ के उपन्यास **'छाको की वापसी'**, मंजूर एहतेशाम के उपन्यास **'सूखा बरगद'**, नासिरा शर्मा के उपन्यास **'जिन्दा मुहावरे'**, अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास **'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'**, महुआ माजी के उपन्यास **'मैं बोरिशाइल्ला'** में इसे देखा जा सकता है। भारतीय संविधान में सभी नागरिकों को बराबरी का हक देने के बावजूद भारतीय मुसलमानों के दूसरे दर्जे के नागरिक बन जाने की पीड़ा को इन उपन्यासों में देखा जा सकता है।

तीसरे वर्ग में वे उपन्यास आते हैं जिनमें स्वातंत्र्योत्तर भारत में हुए सांप्रदायिक दंगों के दौरान भारतीय समाज के बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक वर्ग का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में दूधनाथ सिंह का उपन्यास **'आखिरी कलाम'**, विभूति नारायण राय का उपन्यास **'शहर में कर्फ्यू'**, तरसेम गुजराल का उपन्यास **'जलता हुआ गुलाब'**, प्रियंवद का उपन्यास **'वे वहाँ कैद हैं'**, गीतांजलि श्री का उपन्यास **'हमारा शहर उस बरस'**, भगवानदास मोरवाल का उपन्यास **'काला पहाड़'**, मोहम्मद आरिफ का उपन्यास **'उपयात्रा'** आदि में इसे देखा जा सकता है।

इन सबसे इतर कथाकार कमलेश्वर का उपन्यास **'कितने पाकिस्तान'** है। इस उपन्यास की मुख्य चिंता यह है कि आखिर धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र, वर्ण इत्यादि के नामपर और कितने पाकिस्तान पूरे विश्व में बनने बाकी हैं। यह उपन्यास कथाकार के लंबे चिंतन और अध्ययन का परिणाम है। कथाकार ने उन सभी ऐतिहासिक चरित्रों को कटघरे में ला खड़ा किया है जिनके आधार पर पहले अंग्रेजों ने वैमनस्य के बीज बोये और स्वाधीनता के बाद देश के नेताओं ने। तथ्यों और प्रमाणों को ऐसी कलात्मकता के साथ कथाकार ने कथा में पिरोया है कि पाठक का मन-मस्तिष्क सोचने के लिए मजबूर हो जाता है। कथाकार भीष्म साहनी ने **'नीलू नीलिमा नीलोफर'** उपन्यास में हिंदू और मुसलमान के बीच वैवाहिक संबंध न होने की समस्या को उठाया है। आज भी एक हिंदू लड़के के लिए मुसलमान लड़की के साथ विवाह करना सहज संभव नहीं हो पाता और न ही मुसलमान लड़के के लिए यह सहज मुमकिन हो पाता है कि वह किसी हिंदू लड़की के साथ विवाह कर ले। यदि ऐसा हो भी जाय तो समाज में हलचल मच जाती है, विवाद छिड़ जाता है। बात यहां तक पहुंच जाती है कि दंगे भी होने लगते हैं।

**'आधा गांव'** उपन्यास में कथाकार **राही मासूम रजा** यह दिखाते है कि भारतीय ग्रामों में आजादी के दौर में जब पाकिस्तान की मांग उठी तब भी सांप्रदायिक विचार पनपे नहीं थे बल्कि तिरस्कार का भाव ही था। कालान्तर में जब पाकिस्तान की मांग जोर पकड़ती गई और पाकिस्तान वास्तविकता में एक सच्चाई में बदला, तब भारतीय ग्रामों में भी सांप्रदायिकता धीरे-धीरे अपने पैर पसारने लगी। कथाकार को अपने समाज के प्रति अगाध प्रेम था जिस कारण वे अपने समाज की कुरीतियों पर प्रहार नहीं कर पाते। वहीं **अब्दुल बिस्मिल्लाह** और **मो. आरिफ** जैसे कथाकार हैं जो अपने समाज की बुराइयों को केवल इंगित ही नहीं करते बल्कि उनपर कड़ा प्रहार करते हैं। कथाकार **नासिरा शर्मा** पाकिस्तान जाने वाले

मुसलमानों को अपने निर्णय पर पछताते हुए दिखलाती हैं तो भारत में रहनेवाले मुसलमानों की दयनीय दशा को कथाकार **मंजूर एहतेशाम** दिखलाते हैं। कथाकार **भीष्म साहनी** विभाजन के दौरान हुए दंगों और उसके परिणामों की शिनाख़्त करते हुए सांप्रदायिकता के लिए जिम्मेवार तत्वों की पहचान करते हैं, तो लेखिका **कृष्णा सोबती** पंजाब की पृष्ठभूमि पर **'जिंदगीनामा'** उपन्यास में लहलहाते हुए पंजाब की भूमि में विभाजन के बीज पड़ने से बंजर होती मानवीयता को दर्शाती हैं।

कथाकार **गीतांजलि श्री 'हमारा शहर उस बरस'** उपन्यास में हिंदुत्ववादी कट्टरपंथियों की करतूतों को दिखलाती हैं तो **दूधनाथ सिंह** अपने उपन्यास **'आखरी कलाम'** में बहुसंख्यक भारतीय जनता द्वारा अल्पसंख्यक भारतीय जनता की भावनाओं को चोट पहुंचाने की प्रक्रिया को दिखलाते नजर आते हैं। कथाकार **कमलेश्वर** की चिंता **'कितने पाकिस्तान'** उपन्यास में इस बात को लेकर है कि आखिरकार धर्म, जाति, वर्ण, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर और कितने पाकिस्तान पूरे विश्व में बनने बाकी हैं। इस रूप में कथाकार की चिंता वैश्विक बन जाती है। लेखिका **महुआ माजी 'मैं बोरिशाइल्ला'** उपन्यास में पाकिस्तान के बनने और फिर टूटकर बांग्लादेश के गठन को उपन्यास का मुख्य मुद्दा बनाती हैं। धर्म के नाम पर और फिर भाषा के नाम पर बननेवाले राष्ट्र की उपादेयता पर विचार करते हुए लेखिका यह दर्शाती है कि धर्म और भाषा के नाम पर दरअसल मनुष्य को छला जाता है।

इन उपन्यासों से गुजरने के बाद यह कहा जा सकता है कि तमाम कथाकारों की आस्था मनुष्यता पर टिकी हुई है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के कारण ही वे उन तत्वों की पड़ताल भी कर पाये हैं, जो मुख्य रूप से विभाजन के लिए जिम्मेवार हैं। यदि ये कथाकार किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित होते तो शायद उस सत्य को देख नहीं पाते जिसे वे अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करते हैं। सांप्रदायिकता की समस्या आज के समय में एक ऐसी समस्या

बन चुकी है जिसका निदान जल्द से जल्द खोजना होगा वरना भारत का लोकतांत्रिक ढांचा ढहने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। यदि लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाना है, भारत की धर्मनिरपेक्ष छवि को बनाये रखना है तो इसके लिए पहल भारत की बहुसंख्यक जनता को ही करनी होगी। उसे अल्पसंख्यक वर्ग को यह विश्वास दिलाना होगा कि यह देश, यह राष्ट्र उतना ही अल्पसंख्यकों का है जितना कि बहुसंख्यकों का है। साथ ही अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी जड़ मानसिकता को त्यागना होगा और देश की मुख्यधारा के साथ जुड़ना होगा। तभी सांप्रदायिकता की समस्या खत्म हो पायेगी।

देश के राजनीतिक दलों एवं शासक वर्ग से इसकी अपेक्षा रखना बेमानी है क्योंकि इतने वर्षों में शासक वर्ग और राजनीतिक दलों ने इस वैमनस्य को घटाने के स्थान पर बढ़ावा ही दिया है। वैयक्तिक स्तर पर ही इसकी शुरुवात करनी होगी और यह कोशिश भी करनी होगी कि दूसरे लोग भी ऐसे ही वैयक्तिक प्रयास करें। आपसी सद्भाव को बढ़ावा देना होगा, किसी प्रकार के दुष्प्रचार को नकारना होगा और उन तत्वों की शिनाख़्त करनी होगी जो समाज में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार कर विभाजन का बीज बो रहे हैं। बार-बार उन तथ्यों को सामने लाना होगा जिनसे यह पता चल सके कि वास्तविकता क्या है। मिथ्या तथ्यों को नकारना होगा। तभी एक स्वस्थ समाज का स्वप्न पूरा हो सकेगा। हिंदी के उपन्यासकारों ने यह बीड़ा अपने ऊपर लिया है और लगातार उन तत्वों की शिनाख्त की है जो समाज में विभाजन के लिए जिम्मेवार हैं। साथ ही इन कथाकारों ने प्रशासन की दोहरी नीतियों का भी बड़ी ही बेबाकी के साथ चित्रण किया है। यदि प्रशासन ही पूर्वाग्रह ग्रस्त होगा तो देश की जनता किस पर भरोसा करेगी। प्रशासनिक पद पर बैठे अधिकारियों को यह समझना होगा कि देश की सारी जनता उनके लिए समान है। सांप्रदायिकता की समस्या भारतीय समाज के लिए कोढ़ है, जिसे जल्द से जल्द खत्म करना होगा। इसे खत्म करने की जिम्मेदारी सभी को लेनी

होगी, समाज के हर हिस्से को अपना सहयोग देना होगा वरना आनेवाले समय में भारत और भी कई टुकड़ों में बिखर जायेगा। किसी देश का मुस्तकबिल वहां की जनता पर निर्भर करता है। भारतीय जनता को अपनी जिम्मेदारी को समझना होगा तभी इन मुश्किलों से लड़ा जा सकता है। भारत की बहुसंख्यक जनता को अपने व्यवहार के माध्यम से यह विश्वास दिलाना होगा कि भारत की अल्पसंख्यक जनता यहां सुरक्षित है। तभी सांप्रदायिकता की समस्या का निदान संभव है।

# पुस्तक सूची

## आधार ग्रंथ सूची
## संदर्भ ग्रंथ सूची

# आधार ग्रंथ सूची


| लेखक/संपादक | पुस्तक | प्रकाशक | संस्करण |
|---|---|---|---|
| आरिफ, मो. | उपयात्रा | राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली | **2006** |
| ऐहतेशाम, मंजूर | सूखा बरगद | राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली | **2003** |
| कमलेश्वर | कितने पाकिस्तान | राजपाल एन्ड सन्ज़, दिल्ली | **2007** |
| गुजराल, तरसेम | जलता हुआ गुलाब | वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली | **2002** |
| द्विवेदी, हजारी प्रसाद | वाणभट्ट की आत्मकथा | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2003** |
| प्रेमचंद | रंगभूमि | प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली | **2008** |
| बिस्मिल्लाह, अब्दुल | झीनी झीनी बीनी चदरिया | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2003** |
| माजी, महुआ | मैं बोरिशाइल्ला | राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2006** |
| मिश्र, व्यास | अगिन पाथर | राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2007** |
| रज़ा, राही मासूम | आधा गाँव | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2004** |
| राय, विभूतिनारायण | शहर में कर्फ़्यू | अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद | **2001** |
| शर्मा, नासिरा | जिंदा मुहावरे | वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2001** |
| श्री, गीतांजलि | हमारा शहर उस बरस | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2007** |
| साहनी, भीष्म | तमस | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2006** |

| लेखक/संपादक | पुस्तक | प्रकाशक | संस्करण |
|---|---|---|---|
| साहनी, भीष्म | नीलू नीलिमा नीलोफ़र | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2007** |
| सिंह, दूधनाथ | आखिरी कलाम | राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2007** |
| सिंह, शिवप्रसाद | अलग-अलग वैतरणी | लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | **2008** |
| सोबती, कृष्णा | जिंदगीनामा | राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली | **2004** |

# संदर्भ ग्रंथ सूची

## हिंदी


| लेखक/संपादक | पुस्तक एवं प्रकाशक | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| अग्रवाल, डॉ. प्रमिला | भारत विभाजन और हिन्दी कथा साहित्य,<br>जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | **1992** |
| अग्रवाल, रोहिणी | इतिवृत की संरचना और संरूप,<br>आधार प्रकाशन, पंचकुला | **2006** |
| अमिताभ, डॉ. वेदप्रकाश | हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ,<br>गोविन्द प्रकाशन, मथुरा | **2003** |
| इंजीनियर, असगर अली | साम्प्रदायिकता : इतिहास और अनुभव,<br>इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद | **2007** |
| कंचन | सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे,<br>वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली | **2004** |
| कमलेश्वर | नयी कहानी की भूमिका,<br>ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली | **1991** |
| कमलेश्वर | हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व,<br>कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली | **2004** |
| कविता | वह सुबह कभी तो आयेगी,<br>अरु पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली | **2008** |
| कोलख्यान, प्रफुल्ल | साहित्य, समाज और जनतंत्र,<br>आनन्द प्रकाशन, कोलकाता | **2003** |
| खाँ, डॉ. मुहम्मद फिरोज | मुस्लिम समाज और हिन्दी उपन्यास,<br>अनंग प्रकाशन, दिल्ली | **2003** |
| चंद्र, बिपन | भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,<br>हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय,<br>दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली | **2006** |
| चंद्र, बिपन | सांप्रदायिकता: एक अध्ययन,<br>अनामिका पाब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स<br>(प्रा.) लि., नई दिल्ली | **2004** |

| लेखक/संपादक | पुस्तक एवं प्रकाशक | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| चतुर्वेदी, महेन्द्र | गाँधी, नेहरू, टैगोर और अम्बेडकर,<br>बोहरा पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटस, इलाहाबाद | **2007** |
| ज़कारिया, डॉ. रफ़ीक़ | बढ़ती दूरियाँ: गहराती दरार,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2003** |
| जोशी, ज्योतिष | उपन्यास की समकालीनता,<br>भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली | **2007** |
| ठाकुर, खगेन्द्र | प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन,<br>नेशनल बुक ट्रस्ट (इंडिया), नयी दिल्ली | **2006** |
| तिवारी, डॉ. रामचन्द्र | हिन्दी का गद्य साहित्य,<br>विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी | **2004** |
| थापर रोमिला | इतिहास की पुर्नव्याख्या,<br>राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2004** |
| दत्त, रजनी पाम<br>(अनु.-आनंदस्वरूप वर्मा) | आज का भारत,<br>मैक्मिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली | **2001** |
| दिनकर, रामधारी सिंह | संस्कृति के चार अध्याय,<br>लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | **2005** |
| द्विवेदी, मुकुन्द | हजारी प्रसाद रचनावली भाग-1,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **1998** |
| द्विवेदी, हजारी प्रसाद | साहित्य सहचर,<br>लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | **2005** |
| देसाई, डॉ. पारूकान्त | हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परम्परा में<br>साठोत्तरी उपन्यास,<br>चिंतन प्रकाशन, कानपुर | **2002** |
| नीरन, अरूणेश | शिवप्रसाद सिंह,<br>नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली | **1994** |
| पचौरी, सुधीश | साहित्य का उत्तर समाजशास्त्र,<br>राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2006** |
| पटनायक, किशन | विकल्पहीन नहीं है दुनिया,<br>राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2001** |

| लेखक/संपादक | पुस्तक एवं प्रकाशक | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| प्रियंवद | भारत विभाजन की अन्त: कथा,<br>भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली | **2007** |
| फॉक्स, रैल्फ<br>(अनु.-नरोत्तम नागर) | उपन्यास और लोकजीवन<br>पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली | **2008** |
| बांदिवडेकर, चंद्रकांत | उपन्यास : स्थिति और गति,<br>वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली | **2009** |
| मदान, इन्द्रनाथ | आधुनिकता और हिन्दी उपन्यास,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2000** |
| मधुरेश | हिन्दी उपन्यास का विकास,<br>सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद | **2001** |
| मिश्र, रामदरश | हिन्दी उपन्यास: एक अन्तर्यात्रा,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2001** |
| मोहन, कृष्ण | आधुनिकता और उपनिवेश,<br>वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली | **2006** |
| मोहन, नरेन्द्र | धर्म और सांप्रदायिकता,<br>प्रभात प्रकाशन, दिल्ली | **2006** |
| मोहन, नरेन्द्र | विभाजन की त्रासदी: भारतीय कथादृष्टि,<br>भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली | **2008** |
| यादव, वीरेन्द्र | उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2009** |
| डॉ. रणजीत | साम्प्रदायिकता का जहर,<br>मानवीय समाज प्रकाशन, इलाहाबाद | **2010** |
| राय, गोपाल | हिन्दी उपन्यास का इतिहास,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2005** |
| राय, डॉ. गोपाल | उपन्यास की संरचना,<br>राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2006** |
| राय, शशिकला | कथा समय: सृजन और संदर्भ,<br>किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2008** |
| वाल्मीकि, ओमप्रकाश | मुख्यधारा और दलित साहित्य,<br>सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली | **2009** |

| लेखक/संपादक | पुस्तक एवं प्रकाशक | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| वैदिक, वेदप्रताप | वर्तमान भारत,<br>राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली | **2002** |
| शाही, विनोद | तमस : एक पुनर्पाठ,<br>आधार प्रकाशन, पंचकुला | **2006** |
| शुक्ल, आचार्य रामचंद्र | हिन्दी साहित्य का इतिहास,<br>नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी | संवत् **2057** |
| श्रीमाली, कृष्ण मोहन | धर्म, समाज और संस्कृति,<br>ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा.लि., दिल्ली | **2005** |
| श्रीवास्तव, परमानन्द | उपन्यास का पुनर्जन्म,<br>वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली | **1995** |
| सरकार, सुमित | आधुनिक भारत<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2006** |
| सिंह, ओमप्रकाश | प्रेमचंदोत्तर कथासाहित्य और सांप्रदायिक समस्याएं,<br>नमन प्रकाशन, नई दिल्ली | **1998** |
| सिंह, कुँवरपाल | साहित्य और हमारा समय,<br>वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली | **2002** |
| सिंह, डॉ. कुँवरपाल | मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास,<br>नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली | **2005** |
| सिंह, डॉ. कुँवरपाल<br>एवं<br>बिसारिया अजय | हिंदी उपन्यास: जनवादी परंपरा,<br>नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली | **2004** |
| सिंह, डॉ. नामवर | आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2,<br>राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली | **2010** |
| सिंह, डॉ. विजय बहादुर | उपन्यास : समय और संवेदना,<br>वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली | **2007** |
| सिंह, बच्चन | उपन्यास का काव्यशास्त्र,<br>राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली | **2008** |
| सोबती, कृष्णा | शब्दों के आलोक में,<br>राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली | **2010** |

## अंग्रेजी

| लेखक/संपादक | पुस्तक एवं प्रकाशक | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| इंजीनियर, असगर अली | कम्यूनलिज्म इन इंडिया<br>अजन्ता पब्लिकेशन्स (इंडिया), दिल्ली | 1985 |
| झा, माखन | एन इंट्रोडक्शन् टू सोशल एनथ्रोपोलॉजी,<br>विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि.,<br>नई दिल्ली | 2001 |
| खान, वली | फेक्ट्स आर फेक्ट्स : एन अनटोल्ड स्टोरी<br>ऑफ इंडियास पार्टीशन,<br>विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि.<br>नई दिल्ली | 1987 |
| लाल, बसन्त कुमार | कंटेम्प्ररी इंडियन फिलॉसफी,<br>मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स<br>प्रा. लि., नई दिल्ली | 2002 |

## कोश ग्रंथ

## हिंदी

| लेखक/संपादक | कोश | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| अवस्थी, आचार्य बच्चूलाल | तुलसी शब्द कोश,<br>बुक्स एंड बुक्स, दिल्ली | 2005 |
| दास, श्यामसुन्दर | हिंदी शब्दसागर, आठवां भाग,<br>काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी | 1971 |
| बसु, नगेन्द्रनाथ | हिन्दी विश्वकोश,<br>बी.आर.पब्लिशींग कॉरपोरेशन, दिल्ली | 1986 |
| वर्णेकर, डॉ. श्रीधर भास्कर | संस्कृत वांड्मय कोश<br>लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | 2001 |
| वर्मा, आचार्य रामचंद्र | प्रमाणिक हिंदी कोश,<br>लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद | 1999 |

## अंग्रेजी


| लेखक/संपादक | कोश | प्रकाशन वर्ष |
|---|---|---|
| इलिएड, मिरसिया | द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन,खंड-12, मैक्मिलन पब्लिशिंग कंपनी, न्यूयार्क | 1987 |
| एडवर्डस, पॉल | द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी,खंड-12, मैक्मिलन कंपनी एंड फ्री प्रेस, न्यूयार्क | 1967 |
| एलियट, जूलीया | ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी एंड थिसोरस-III, ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क | 2008 |
| टेलर, ई.बी. | डिक्शनरी ऑफ एनथ्रोपॉलॉजी, डब्ल्यू.आर.गोयल पब्लिशर एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली | 1999 |
| बुकर, जॉन | द ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड रिलिजियन्स ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क | 1997 |
| रेटक्लिफ, सुसान | ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ कोटेशन्स एंड प्रोवर्ब्स ऑक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस,न्यूयार्क | 2008 |
| सिम्पसन, जे.ए. और वाईनर इ.एस.सी. | द ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, भाग-3, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क | 1991 |
| हेस्टींग्स, जेम्स | इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन एंड एथिक्स, खंड-10, चार्ल्स स्कृबनर्स सन्स, न्यूयार्क | 1956 |

# पत्र-पत्रिकाएं

## हिंदी

| पत्र/पत्रिका | स्थान | वर्ष |
|---|---|---|
| अन्यथा | चंडीगढ़ | दिसम्बर 2007-फरवरी-2008 |
| अभिनव कदम | मऊ | नवम्बर 2001-अक्टूबर 2002 |
| आलोचना | नई दिल्ली | अप्रैल-सितम्बर 2004 |
| कथाक्रम | लखनऊ | जुलाई-सितम्बर 2003 |
| कथादेश | नई दिल्ली | मई-2007 |
| नया ज्ञानोदय | नई दिल्ली | जनवरी-2007 |
| परिकथा | नई दिल्ली | मई-जून-2008 |
| मुहिम | इलाहाबाद | जनवरी-फरवरी- 2009 |
| वर्तमान साहित्य | नई दिल्ली | सितम्बर-2007 |
| वाङ्मय | अलीगढ़ | जून, 2009 |
| 'धर्म, आतंकवाद, आज़ादी' समकालीन सृजन | कोलकाता | 2004 |
| समन्वय-2 | नागपुर | 1980 |
| समयांतर | नई दिल्ली | नवंबर-2008 |

# ग्रंथानुक्रमणिका


अगिन पाथर, **83, 173, 185**

अलग-अलग वैतरणी, **161, 177, 209**

आधा गाँव, **82, 139, 156, 157, 177, 180, 182, 209, 212, 213, 214, 224, 227, 330, 392, 393, 399, 402, 415, 416, 423, 445, 446, 447, 456**

आखिरी कलाम, **212, 315, 316, 319, 328, 334, 375, 411, 441, 447, 457**

उपयात्रा, **83, 147, 173, 184, 187, 335, 375, 389, 394, 397, 413, 435, 437, 445, 457**

कितने पाकिस्तान, **83, 146, 147, 170, 185, 192, 212, 277, 278, 279, 281, 298, 299, 300, 316, 332, 333, 374, 375, 392, 393, 404, 406, 407, 425, 429, 430, 435, 437, 438, 447, 456, 458, 459**

जलता हुआ गुलाब, **166, 457**

जिंदा मुहावरे, **83, 165, 335, 336, 344, 388, 394, 395, 398, 410, 432, 445, 446**

जिंदगीनामा, **82, 162, 177, 212, 300, 302, 303, 304, 305, 313, 314, 315, 333, 407, 431, 432, 446, 459**

झीनी झीनी बीनी चदरिया, **82, 145, 187, 209, 248, 260, 261, 262, 265, 331, 402, 416, 417, 424, 428, 441, 445, 446, 447**

तमस, **82, 140, 160, 177, 178, 182, 187, 212, 232, 247, 248, 330, 331, 392, 393, 394, 397, 401, 402, 417, 422, 423, 424, 445, 446, 456**

नीलू नीलिमा नीलोफ़र, **140, 160, 161, 187, 188, 458**

वाणभट्ट की आत्मकथा, **135, 152, 419**

मैं बोरिशाइल्ला, **83, 84, 146, 171, 177, 187, 209, 247, 335, 365, 374, 375, 389, 412, 419, 434, 446, 457, 459**

रंगभूमि, **87**

शहर में कर्फ्यू, **82, 457**

सूखा बरगद, **82, 144, 165, 183, 184, 187, 212, 262, 269, 275, 277, 332, 344, 392, 393, 394, 403, 428, 445, 457**

हमारा शहर उस बरस, **82, 145, 168, 182, 183, 184, 187, 335, 350, 388, 394, 445, 457, 459**

# लेखकानुक्रमणिका

अब्दुल बिस्मिल्लाह, **82, 165, 248, 249, 251, 253, 257, 260, 261, 262, 265, 399, 400, 402, 416, 424, 426, 427, 441, 457, 458**
कमलेश्वर, **77, 78, 81, 82, 89, 146, 147, 156, 170, 171, 179, 185, 191, 192, 194, 195, 203, 210, 277, 278, 279, 280, 283, 285, 296, 298, 300, 316, 332, 333, 374, 375, 405, 406, 425, 429, 430, 435, 436, 437, 438, 447, 455, 456, 458, 459**
कृष्णा सोबती, **78, 81, 82, 142, 156, 162, 300, 301, 302, 303, 305, 307, 309, 311, 312, 313, 314, 407, 409, 410, 412, 430, 431, 432, 455, 456, 459**
गीतांजलि श्री, **82, 145, 156, 168, 350, 353, 363, 364, 365, 394, 456, 457, 459**
तरसेम गुजराल, **166, 457**
दूधनाथ सिंह, **315, 318, 327, 328, 375, 411, 412, 434, 456, 457, 459**
नासिरा शर्मा, **83, 144, 156, 165, 183, 336, 337, 339, 342, 348, 349, 388, 395, 398, 399, 410, 432, 433, 445, 456, 457, 458**
प्रेमचंद, **19, 32, 34, 87, 88, 130, 131, 132, 133, 152, 189, 190, 210, 219, 270, 357, 392, 427, 455**
भीष्म साहनी, **77, 78, 81, 82, 140, 156, 160, 178, 188, 198, 199, 200, 207, 232, 234, 235, 239, 240, 246, 247, 272, 289, 394, 402, 422, 423, 424, 456, 458, 459**
महुआ माजी, **83, 84, 147, 148, 171, 247, 365, 374, 375, 412, 419, 434, 456, 457, 459**
मो. आरिफ, **83, 173, 184, 383, 387, 394, 397, 456, 458**
मंजूर ऐहतेशाम, **144, 156, 262, 428, 429, 455**
राही मासूम रज़ा, **77, 82, 139, 146, 156, 159, 180, 200, 213, 224, 393, 396, 414, 416, 421, 426, 455, 456, 457**
विभूतिनारायण राय, **47, 82, 457**
व्यास मिश्र, **83, 173**
शिवप्रसाद सिंह, **140, 142, 152, 156, 162, 209, 455**
हजारी प्रसाद द्विवेदी, **76, 135, 137, 205, 419**